॥ ॐ ह्रीँ अर्हम् नमः ॥
॥ श्री नेमि-विज्ञान-कस्तुर-यशोभद्रसूरिजी सद्गुरुभ्यो नमः ॥

त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र

भाग : चोथा
पर्व : १०

प्रेरक

शासनसम्राट प.पू.आ.श्री विजय नेमिसूरीजी म.सा. के समुदाय के
शासनप्रभावक प.पू.आ.श्री विजय यशोभद्रसूरिजी म.सा. के शिष्य
प.पू.आचार्यश्री विजय श्रेयांसचंद्रसूरिजी म.सा.

: प्रकाशक :
श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ जैन देरासर पेढी, दोलतनगर, बोरीवली, मुंबई एवं
श्री केशरीयाजी नगर, पालिताणा

॥ ॐ ह्रीं अर्हम् नमः ॥

॥ श्री नेमि–विज्ञान–कस्तुर–यशोभद्रसूरिजी सद्गुरुभ्यो नमः ॥

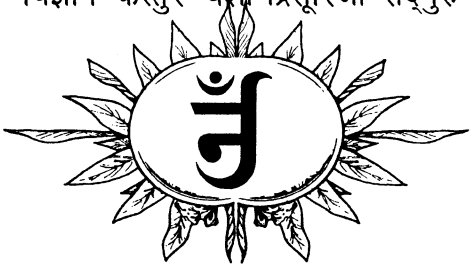

कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचंद्राचार्य विरचित संस्कृत पद्यात्मक

श्री त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र

(हिन्दी भाषांतर)

भाग - चौथा
पर्व १०

श्री महावीर स्वामी जीवन चरित्र

वीर संवत २५३१, विक्रम संवत २०६१, श्रावण सुद १५, शुक्रवार, दिनांक १९–८–२००५
प्रथम संस्करण : प्रत १०००

: प्रेरक :

शासनसम्राट प. पू. आ. श्री विजय नेमिसूरिजी म. सा. के समुदाय के
शासनप्रभावक प. पू. आ. श्री विजय यशोभद्रसूरिजी म. सा. के शिष्य
प. पू. आचार्यश्री विजय श्रेयांसचंद्रसूरिजी म. सा.

: प्रकाशक :

श्री शंखेश्वर पश्वनाथ जैन देरासर पेढी
दौलत नगर, बोरीवली, मुंबई तथा
श्री केसरीयाजी नगर
तलेटी रोड, पालीतणा

त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र

भाग - चौथा (पर्व : १०)

: प्रेरक :

शासनसम्राट प. पू. आ. श्री विजय नेमिसूरिजी म. सा. के समुदाय के शासनप्रभावक प. पू. आ. श्री विजय यशोभद्रसूरिजी म. सा. के शिष्य प. पू. आचार्यश्री विजय श्रेयांसचंद्रसूरिजी म. सा.

© All rights reserved.

वीर संवत २५३१, विक्रम संवत २०६१, श्रावण सुद १५, शुक्रवार, दिनांक १९–८–२००५,

प्रथम संस्करण : प्रत १०००

उद्घाटन दिवस – **आसो सुद १३ शनिवार, ता. १५–१०–२००५**

● मूल्य : पठनपाठन

मुद्रक : विरल ट्रेडर्स, पालडी, अमदावाद – ७

श्री त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र दस पर्व के चरित्रों की सूचि

पर्व	तीर्थंकर	चक्रवर्ती	वासुदेव	बलदेव	प्रतिवासुदेव	कुल
१	१	१	०	०	०	२
२	१	१	०	०	०	२
३	८	०	०	०	०	८
४	५	२	५	५	५	२२
५	१	१	०	०	०	२
६	४	४	२	२	२	१४
७	१	२	१	१	१	६
८	१	०	१	१	१	४
९	१	१	०	०	०	२
१०	१	०	०	०	०	१
	२४	१२	९	९	९	६३

प्राप्तिस्थान

नवनीतभाई जे. महेता
१०, न्यू फ्लावर कुंज सोसायटी,
फतेहपुरा, पालडी, अमदावाद-७

सरस्वती पुस्तक भंडार
हाथीखाना, रतनपोळ,
अमदावाद - १.

जैन प्रकाशन मंदिर
तंबोळीनो खांचो, दोशीवाडाना पोळ,
गांधीरोड पुल नीचे, अमदावाद - १.

: प्रकाशक :

श्री शंखेश्वर पश्वनाथ जैन देरासर पेढी
दौलत नगर, बोरीवली, मुंबई तथा
श्री केसरीयाजी नगर तलेटी रोड, पालीतणा

मंतव्य

त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र भाग : ४ – पर्व १० में महावीर प्रभु के २७ जन्म का जीवन चरित्र है जिसमें नंदनऋषि के भव की सुंदर २० स्थानक की आराधना से तीर्थंकर नामकर्म का बंध तथा वीर प्रभु के भव में पाँच कल्याणक – बचपन – दीक्षा के बाद उपसर्ग, उसमें भी संगम देव के घोर उपसर्ग – चंडकौशिया वगैरह को प्रतिबोध, चंदनबाला के हाथ से पारणा – अनार्य प्रदेश में विहार – गोशाले से मिलन – केवलज्ञान के बाद गौतम स्वामी वगैरह को प्रतिबोधित करना – उनकी दीक्षा वगैरह, श्रेणिक चरित्र – अभयकुमार – मेघकुमार – नंदिषेण कुमार – कोणिक – जामालि – उदयन राजा – प्रसन्नचंद्र राजा – सुलसा श्राविका – दशार्णभद्र राजा – धनाशालीभद्र का चरित्र – वीर प्रभु के दश श्रावकों का चरित्र – भगवान का परिवार – पाँचवें और छठ्ठे आरे का वर्णन – आगामी चौबीसी के चौबीस भगवानों के नाम – पावापुरी में निर्वाण – गौतम स्वामी को केवलज्ञान वगैरह का वर्णन है।

यह पुस्तक जैन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद द्वारा गुजराती में प्रकाशित पुस्तक का आधार लेकर **नवनीतभाई जे. महेता** ने बड़े कम खर्च में और समयानुसार काम करावाया है। इस ग्रंथ के हिन्दी अनुवाद का कार्य **घड़कण निवासी श्री महेन्द्रभाई हरजीवनदास जानी** ने बड़ी महेनत करके कर दिया है।

इस ग्रंथ को आर्थिक सहयोग कनुभाई सावडीया, रामदास पेठ, नागपुर, मुकेशभाई बडियाद, (जशोद) विशालभाई पालिताणा वाणा लक्ष्मीचंद गड़ा तथा एक एक पुस्तकना सेट बुक करावनार दरेक भाग शाणीना अमो आभार मानीए छीए – आभारदर्शन। **नवनीतभाई जे. महेता** (फतेहपुरा, अहमदाबाद), तथा हमारे छोटे भाई **भरतभाई** ने भी बढ़िया सेवा की है। इन सबको अनुमोदना।

यह पुस्तक पढ़कर ज्ञान के साथ आत्मा भी श्रेय साधे ऐसी शुभेच्छा।

भवदीय,
मणिकान्त ठाकरशी शाह
के जय जिनेन्द्र
(कच्छ–जखौ, हाल मुलुन्ड – मुंबई)

आसो सुद १३ शनिवार

ता. १५–१०–२००५

विषयानुक्रमणिका

सर्ग १	**महावीर स्वामी के पूर्व भवों का वर्णन**	१
	नयसार के भव में सम्यक्त्व की प्राप्ति होना	२
	मरिचि का भव, उपार्जन किया हुआ नीच गोत्र	३
	विश्वभूति का भव - वासुदेवपने का किया हुआ संकल्प	६
	त्रिपृष्ठ वासुदेव का भव - तीन खंड के अधिपति	६
	प्रियमित्र चक्रवर्ती का भव - छः खंड को साधना	९
	नंदनमुनि का भव - उपार्जन किया हुआ तीर्थंकर नामकर्म	११
	नंदनमुनि द्वारा की हुई आराधना	१२
	प्राणत देवलोक में पुष्पोतर विमान में देव बनना	१३
सर्ग २	**महावीर जन्म और दीक्षा महोत्सव**	१४
	गर्भहरण का वृत्तांत	१५
	जन्मोत्सव - इन्द्र की शंका - उसका निवारण - इन्द्र द्वारा स्तुति	१६
	आमलकी क्रीड़ा - महावीर नाम स्थापन	१८
	महावीर प्रभु का विवाह	१९
	दीक्षा महोत्सव	२१
सर्ग ३	**प्रथम के छः वर्ष का विहार**	२३
	उपसर्गों का प्रारंभ	२५
	शूलपाणि यक्ष द्वारा उपसर्ग	२६
	प्रभु को आये हुए दश स्वप्न, उसका फल	२९
	अच्छंदक निमित्तिए का वृत्तांत	३१
	चंडकौशिक सर्प का उपसर्ग - उसे प्रतिबोध	३३
	सुदंष्ट्र देव द्वारा उपसर्ग	३५
	कंबल संबल देव द्वारा निवारण - उसका वृत्तांत	३६
	पुष्प निमित्तिए का वृत्तांत	३९
	गोशाले का मिलना और शिष्य बनना	३९
	गोशाल की चेष्टाएं	४०
	व्यंतरी द्वारा शीत उपसर्ग	५०
सर्ग ४	**अन्य छः वर्ष का विहार**	५१
	गोशाल की चेष्टाएं	५२
	वैशिकायन तापस का वृत्तांत	५५
	प्रभु द्वारा गोशाल को दर्शाया हुआ तेजोलेश्या का विधि	५६
	गोशाले ने साधी हुई तेजोलेश्या	५७
	इन्द्र द्वारा प्रभु की प्रशंसा	५८
	संगम देव द्वारा किये गये असह्य उपसर्ग	५९
	संगम का थककर वापस लौटना	६३

	सौधर्मेन्द्र ने संगम को निकाल दिया	६४
	प्रभु को शाता पूछने के लिये इन्द्रों का आगमन	६५
	जीर्णश्रेष्ठी का वृत्तांत	६५
	पूरण तापस का वृत्तांत - उसका चमरेन्द्र बनना	६७
	चमरेन्द्र का उत्पात	६८
	प्रभु ने धारण किया अपूर्व अभिग्रह	७१
	चंदनबाला का वृत्तांत - उसने कराया हुआ पारणा	७३
	ग्वाले ने किया हुआ आखिरी उपसर्ग - प्रभु के कान में कील डालना -	
	खरक वैद्य द्वारा निकालना - प्रभु को असह्य पीड़ा होना	७७
सर्ग ५	**भगवंत को केवलज्ञान - संघ स्थापना**	८०
	भगवंत को केवलज्ञान होना	८०
	इन्द्र द्वारा स्तुति	८१
	भगवंत ने दी हुई देशना	८१
	इन्द्रभूति वगैरह का वृत्तांत	८२
	इन्द्रभूति वगैरह का प्रभु के पास आना - गणधरवाद -	
	संशय का निवारण - उन्होंने ली हुई दीक्षा	८३
	चतुर्विध संघ की स्थापना, गणधरों द्वारा द्वादशांगी - चौदह पूर्व की रचना	८६
सर्ग ६	**श्रेणिक, मेघकुमार, नंदीषेण का वृत्तांत**	८८
	श्रेणिक और कूणिक के पूर्वभव	८८
	नागसारथि और सुलसा का वृत्तांत	९०
	श्रेणिक राजा का चरित्र	९१
	अभयकुमार का जन्म	९४
	अभयकुमार श्रेणिक के मंत्री बनना	९५
	चेडा राजा की सात पुत्रियाँ	९६
	सुज्येष्ठा और चेल्लणा का वृत्तांत	९६
	कूणिक का चेल्लणा की कुक्षि में उत्पन्न होना - जन्म	१००
	मेघकुमार और नंदीषेण का जन्म - सेचनक हाथी का वृत्तांत	१०१
	प्रभु का राजगृही में पधारना - श्रेणिक द्वारा स्तुति	१०४
	मेघकुमार को प्रतिबोध होना - उसका दीक्षा लेना	१०४
	मेघकुमार को उद्विग्नता होना - प्रभु द्वारा स्थिरता कराना	१०५
	नंदीषेण को प्रतिबोध होना - उसका दीक्षा लेना	१०६
	नंदीषेण का गृहस्थ बनना और वापस दीक्षित होना	१०७
सर्ग ७	**चेल्लणा, श्रेणिक, आर्द्रकुमार का वृत्तांत**	१०८
	श्रेणिक राजा को चेल्लणा पर शक उत्पन्न होना, प्रभु द्वारा उसका निवारण	१०८
	चेल्लणा के लिये एक स्तंभ महल बनवाना -	
	चंडाल द्वारा विद्या से लिया हुआ उसका लाभ - उससे ली हुई विद्या	११०
	दुर्गंधा की हकीकत - उसका श्रेणिक की रानी बनना	११३
	आर्द्रकुमार का वृत्तांत - उसको प्रतिबोध होना	११५

	आर्द्रकुमार का दीक्षा लेना - वापस संसारी बनना	११९
	पुनः दीक्षा लेना - उसका विहार - अंत में मोक्ष जाना	१२१
सर्ग ८	**ऋषभदत्त, देवानंदा, जमालि, गोशाल वगैरह का वृत्तांत**	**१२४**
	प्रभु का ब्राह्मणकुंड गाँव में पधारना - प्रभु की देशना	१२४
	ऋषभदत्त और देवानंदा ने ली हुई दीक्षा - मोक्ष	१२४
	जमालि द्वारा दीक्षा लेना - उसका निन्हव्पना	१२५
	प्रियदर्शना का वापस लौटना - जमालि का मरकर किलविष देव बनना	१२८
	चित्रकार का वृत्तांत - चंडप्रद्योत और शतानिक राजा के बीच विग्रह - मृगावती का दीक्षा लेना	१२८
	यासा-सासा का वृत्तांत	१३२
	आनंद श्रावक का अधिकार - उसने ग्रहण किये हुए श्रावक के व्रत	१३४
	कामदेव वगैरह ९ श्रावकों के अधिकार	१३६
	मृगावती और चंदनबाला - दोनों को परस्पर क्षमा मांगते हुए केवलज्ञान होना	१३८
	दश अच्छेरा के नाम	१३९
	गोशाले का वृत्तांत - उसका प्रभु के पास आना	१३९
	गोशाले द्वारा प्रभु पर छोड़ी गई तेजोलेश्या	१४०
	गोशाले को पश्चात्ताप होना और उसकी मृत्यु	१४३
	गोशाले का आगामी भव	१४४
	प्रभु द्वारा उपयोग किया हुआ बिजोरापाक - व्याधि का शमन	१४८
सर्ग ९	**हालिक, प्रसन्नचंद्र, दर्दुरांकदेव वगैरह के वृत्तांत**	**१४९**
	एक किसान ने गौतमस्वामी से ली हुई दीक्षा - प्रभु को देखकर वापस लौट जाना	१४९
	प्रसन्नचंद्र राजर्षि को अशुभ अध्यवसाय से हुए अशुभ बंध और शुभ अध्यवसाय से हुआ केवलज्ञान	१५०
	दर्दुरांक देव का कुष्टिरोगी बनकर प्रभु के पास आना - उसने की हुई भक्ति - प्रभु द्वारा कहा गया उसका पूर्व वृत्तांत	१५१
	श्रेणिक राजा द्वारा कपिला दासी को काल शोकरिक के लिये किया हुआ प्रयत्न	१५६
	साल-महासाल को दीक्षा और उनको केवलज्ञान होना	१५७
	'अष्टापद की यात्रा स्वलब्धि से करनेवाले को तद्भव मोक्ष' ऐसी प्ररूपणा से गौतम स्वामी का वहां जाना	१५७
	वैश्रमण के पास गौतम स्वामी ने कही हुई पुंडरीक कंडरीक की कथा	१५८
	पंद्रहसों तापसों को दी हुई दीक्षा - उनको केवलज्ञान होना	१५९
	अंबड परिव्राजक का प्रभु के पास आना - उसके द्वारा स्तुति	१६०
	अंबड के साथ प्रभु ने सुलसा को कहलवाया हुआ धर्मलाभ	१६०
	अंबड ने सुलसा की ली हुई परीक्षा - सुलसा का सफल होना	१६१
सर्ग १०	**दशार्णभद्र और धन्नाशालीभद्र का चरित्र**	**१६३**
	प्रभु का विहार करते हुए दशार्णपुर पधारना	१६३

	दशार्णभद्र का बड़ी भक्तिपूर्वक धाम-धूम से प्रभु की वंदना के लिये आना	१६३
	दशार्णभद्र का गर्व उतारने के लिये इन्द्र का अपूर्व रुप में प्रभु के पास आना	१६४
	दशार्णभद्र का गर्व उतर जाना - उसका चारित्र ग्रहण करना	१६५
	शालिभद्र का पूर्वभव - उसका गोभद्र सेठ के यहां जन्म होना	१६५
	शालिभद्र का अपूर्व सुखभोग - श्रेणिक राजा का वहां पधारना	१६६
	'सिर पर स्वामी है' - यह जानकर शालिभद्र को वैराग्य उत्पन्न होना	१६७
	धर्मघोष मुनि का वहां पधारना - शालिभद्र का वंदना के लिये जाना -	
	उनकी देशना से शालिभद्र द्वारा भोग त्यागने का प्रारंभ	१६७
	धन्यकुमार को मालूम पड़ना - प्रभु का वहाँ पधारना	१६८
	धन्य और शालिभद्र दोनों ने ली हुई दीक्षा	१६९
	दोनों द्वारा अनशन - सर्वार्थसिद्ध देव बनना	१७०
सर्ग ११	**रोहिणेय, अभयकुमार, उदायन, चंडप्रद्योत वगैरह का चरित्र**	**१७१**
	रोहिणेय चोर - उसने सुना हुआ प्रभु का एक वाक्य	१७१
	रोहिणेय का पकड़ा जाना - उसको मनवाने के लिये	
	अभयकुमार द्वारा किया हुआ प्रपंच	१७२
	प्रभु से सुने हुए एक वचन से उसका छूट जाना	१७४
	रोहिणेय को प्रतिबोध होना - उसने ली हुई दीक्षा - स्वर्गगमन	१७५
	चंडप्रद्योत का राजगृही पर चढ़ाई करना और वापस लौट जाना	१७६
	अभयकुमार को पकड़ ले जाने के लिये चंडप्रद्योत द्वारा रचा हुआ प्रपंच -	
	दो वेश्याओं का श्राविका बनकर आना - अभयकुमार को ले जाना	१७६
	अभयकुमार को चंडप्रद्योत द्वारा दिया गया प्रथम वरदान	१७८
	वासवदत्ता को पढ़ाने के लिये प्रपंच से उदायन को ले आना	१७९
	वासवदत्ता के साथ उदायन का वहाँ से भाग जाना	१८०
	अनलगिरि हाथी के और अग्निशमन के प्रसंग पर दिये हुए दो वरदान	१८२
	मिर्गी निवारण प्रसंग पर दिया हुआ चौथा वरदान -	
	वह वरदान माँगकर अभयकुमार का छूट जाना	१८२
	अभयकुमार की चंडप्रद्योत को जाहिर में पकड़ लाने की प्रतिज्ञा -	
	उसके लिये किया हुआ प्रपंच	१८३
	चंडप्रद्योत को पकड़ लाना और छुड़वाना	१८३
	एक लकड़हारे ने ली हुई दीक्षा -	
	अभयकुमार द्वारा दर्शाया हुआ चारित्र का अमूल्यपना	१८३
	अभयकुमार का प्रभु की वंदना के लिये आना - उसने की हुई स्तुति	१८४
	आखिरी राजर्षि उदायन राजा का प्रभु ने कहा हुआ वृत्तांत	१८५
	अंतर्गत कुमारनंदी सोनी का चरित्र	१८५
	अंतर्गत प्रभावती रानी का चरित्र	१८७
	अंतर्गत कुब्जा (सुवर्णगुटिका) का चरित्र	१८८
	अंतर्गत कपिल केवली का चरित्र	१९१
	उदायन को चंडप्रद्योत के साथ युद्ध होना - चंडप्रद्योत का हारना	१९५

	उदायन राजा द्वारा प्रभु से दीक्षा लेना	१९७
सर्ग १२	**वितभयपतन, अभयकुमार, कूणिक, चेडा राजा, उदायी राजा वगैरह के चरित्र**	१९९
	उदायन राजर्षि पर उसके भानजे द्वारा विषप्रयोग - देव द्वारा निवारण	१९९
	उसने किया हुआ अनशन - मोक्षगमन	१९९
	देवता द्वारा वीतभयपतन को गड़वा देना - अभिचि का स्वर्गगमन	२००
	भगवंत ने कही हुई आगामी हकीकत - कुमारपाल राजा बनेगा	२००
	कुमारपाल और हेमचंद्रसूरि का संयोग होगा - उसका फल	२०१
	वितभय में गड़ी हुई प्रतिमा को निकालेगा - मंदिर में पधरायेगा	२०२
	अभयकुमार का चारित्र ग्रहण	२०२
	कूणिक द्वारा श्रेणिक को बंदीखाने में डालना और दुःख देना	२०३
	कूणिक को सद्भाव प्राप्त होना - श्रेणिक को छोड़ने के लिये दौडना	
	श्रेणिक की अपमृत्यु - नर्कगमन	२०४
	कूणिक ने बसायी हुई चंपापुरी - वहां जाकर रहना	२०६
	हल्ल-विहल्ल से हार वगैरह की मांग - उसका चेडा राजा के पास जाना	२०७
	कूणिक द्वारा उनसे की हुई हल्ल-विहल्ल की मांग	२०७
	कूणिक की चेडा राजा पर चढ़ाई - परस्पर युद्ध	२०८
	हल्ल-विहल्ल द्वारा चारित्र ग्रहण	२१२
	कूणिक को वेश्या द्वारा प्रपंच - कुलवालुक का चरित्र	२१३
	कुलवालुक का गिर जाना (भ्रष्ट बनना) - विशाले का विनाश	२१४
	विशाला की प्रजा को नीलवंत पर्वत पर ले जाना - चेटक राजा का स्वर्गगमन	
	- चंपापति का चंपा में वापस लौटना	२१५
	कूणिक का चक्रवर्ती बनने का प्रयत्न - उसकी अपमृत्यु - नर्कगमन	२१६
	प्रभु का परिवार (उसकी संख्या)	२१७
सर्ग १३	**भगवंत की अंतिम देशना, निर्वाण वगैरह**	२१८
	भगवंत का अपापापुरी पधारना - इन्द्र द्वारा स्तुति	२१८
	हस्तिपाल राजा की स्तुति - प्रभु की अंतिम देशना	२१९
	हस्तिपाल राजा ने देखे हुए स्वप्न - प्रभु ने कहा हुआ उसका फल	२१९
	प्रभु द्वारा कहे गए पाँचवें आरे के भाव	२२२
	प्रभु द्वारा कहे गए छट्ठे आरे के भाव	२२४
	उत्सर्पिणी के पहले, दूसरे आरे के भाव	२२५
	अनागत चौबीसी में होनेवाले चौबीस प्रभु के और उनके पूर्वभव के जीवों के नाम	
	- बारह चक्री, नौ वासुदेव, बलदेव और प्रतिवासुदेव के नाम	२२६
	सुधर्मा स्वामी द्वारा किए गए प्रश्न, उसके उत्तर	२२७
	देवशर्मा को प्रतिबोध करने के लिए गौतमस्वामी को भेजना	२२७
	भगवंत का निर्वाण	२२८
	भगवंत का निर्वाण महोत्सव	२२९
	गौतम स्वामी को केवलज्ञान और उनका निर्वाण	२३०
	ग्रंथकर्ता की प्रशस्ति	२३१

श्री महावीरस्वामि भगवान
(श्री जखौ तीर्थ)

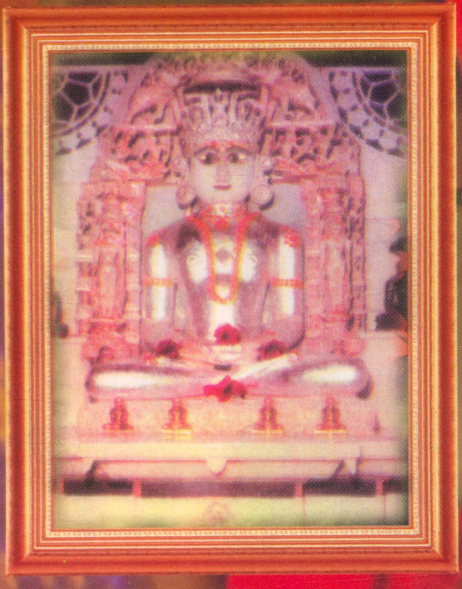

श्री मूछाळा महावीरस्वामि भगवान
(श्री मूछाळा महावीर तीर्थ)

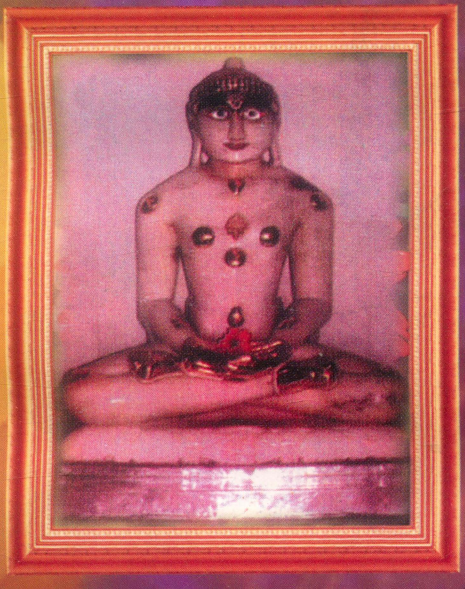

श्री महावीरस्वामि भगवान
(श्री महुवा तीर्थ)

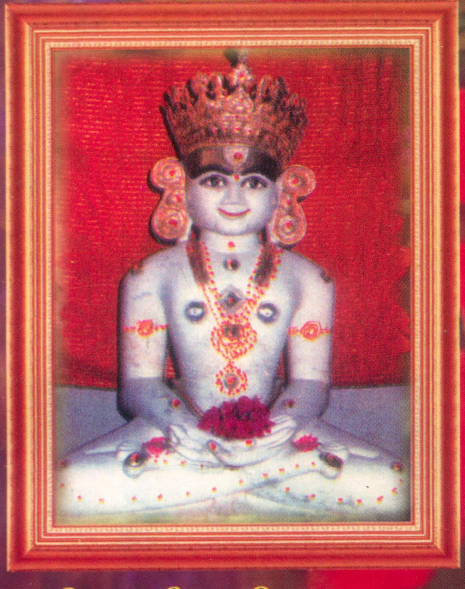

श्री महावीरस्वामि भगवान
(श्री सांचोर तीर्थ, राज.)

: सौजन्य :

रुषभदेव जैन श्वेतांबर मूर्तिपूजक संघ

(मिरांबीका रोड, नारणपुरा, अहमदाबाद - १३.)

अनंतलब्धिनिधान श्री गुरु गौतमस्वामी

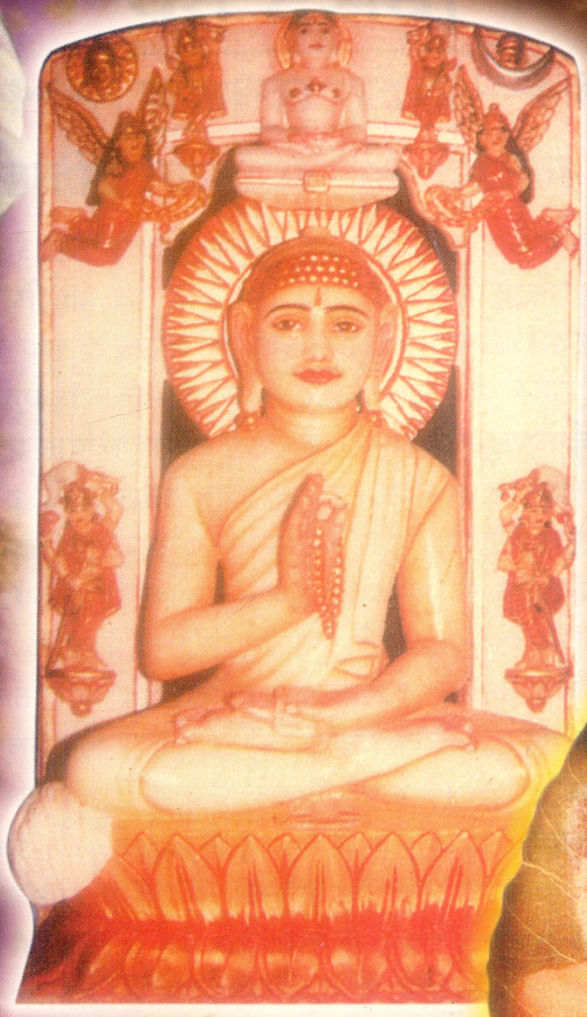

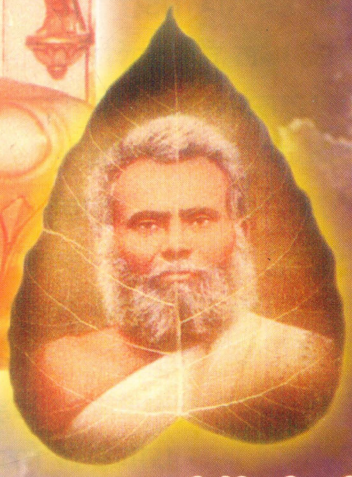

शासन सम्राट् प.पू.आ.श्री नेमिसूरीश्वरजी म.सा.

: सौजन्य :

माताश्री विजयाबेन की पुण्य स्मृति में

सौ.कुसुमबेन एवं कनुभाई सावडीया परिवार की तरफ से

(रामदाशपेठ - नागपुर)

आचार्य श्री हेमचन्द्राचार्य विरचित

श्री त्रिषष्ठिशलाकापुरुष चरित्र

(भाग चौथा)

पर्व दसवाँ

पहला सर्ग

श्री महावीर स्वामी के पूर्व भव का वर्णन

दुःख का निवारण करे ऐसे रागादि शत्रुओं का निवारण करने में वीर समान, पूजनिक और योगीनाथ श्री महावीर स्वामी को मेरे नमस्कार हैं। सुर-असुरों द्वारा पूजा हुआ और पुण्यजल के सरोवररुपी उस देवाधिदेव प्रभु के चरित्र का अब हम वर्णन करेंगे। इस जंबूद्वीप के पश्चिम विदेह क्षेत्र के आभूषणरुपी महावप्र नाम के विजय में **जयंती** नाम की नगरी है। उस नगरी में भुजा के वीर्य से मानो नवीन वासुदेव उत्पन्न हुए हो ऐसे महा समृद्धिवान **शत्रुमर्दन** नाम का राजा था। उसके **पृथ्वीप्रतिष्ठान** नाम के गांव में **नयसार** नाम का एक स्वामीभक्त ग्रामचिंतक (मुखिया) था। वह साधुजन के संबंध बिना का था, फिर भी अपकृत्य से पराऽन्मुख, दूसरों के दोषों को देखने में विमुख व गुणग्रहण में तत्पर था। एक बार राजा की आज्ञा से वह बड़े काष्ठ लेने के लिए पाथेय (भोजन) लेकर कुछ गाड़ों के साथ एक महा अटवी में गया। वहां वृक्ष छेदते हुए उसे दोपहर का समय हुआ, तो उदर में जठराग्नि की तरह सूर्य आकाश में अधिक प्रकाशित होने लगा। उस समय उस नयसार का समय जाननेवाले सेवक मंडपाकार वृक्ष के नीचे उसके लिए उत्तम रसवती (भोजन) लाये। स्वयं क्षुधा-तृषातुर था, फिर भी 'कोई अतिथि आये तो मैं उसे भोजन कराने के बाद खाऊँ' ऐसा सोचकर नयसार इधर-उधर देखने लगा। इतने में क्षुधातुर, तृषातुर, श्रांत (थके हुए), अपने सार्थ को खोजने में तत्पर और पसीने से जिनके सर्व अंग व्याप्त हो गये हैं ऐसे कुछ मुनि उस ओर आ पहुँचे। 'ये साधु मेरे अतिथि बने यह बहुत ही अच्छा हुआ' यूं सोचते हुए नयसार ने उनको नमस्कार करके पूछा, 'हे भगवंत ! इतनी बड़ी अटवी में आप कहां से आ पहुँचे ? क्योंकि शस्त्रधारी भी अकेले इस अटवी में घूम सके ऐसा नहीं है।' वे बोले, 'हम पहले हमारे स्थान से सार्थ के साथ चले थे, लेकिन मार्ग के किसी गाँव में भिक्षा लेने गये, उतने में हमारा सार्थ चला गया, हमें भिक्षा भी कुछ न मिली, जिससे हम उस सार्थ के पीछे पीछे चले, लेकिन सार्थ तो मिला ही नहीं और इस अटवी में आ पहुँचे।' नयसार बोला, 'अहो ! वह सार्थ कैसा निर्दय ! पाप से भी कैसा अभीरु ! कैसा विश्वासघाती ! जिसकी आशा से साधु साथ चले थे उनको लिये बिना ही वह अपने स्वार्थ में ही निष्ठुर बनकर चला गया, लेकिन इस वन में मेरे पुण्य से आप अतिथिरुप में पधारे यह बहुत अच्छा हुआ।' इस प्रकार कहकर नयसार उन महामुनियों को जहां अपना भोजन स्थान था वहां ले गया। फिर अपने लिए तैयार करके लाये गये अन्नपान से उसने उन मुनियों को

प्रतिलाभित किया (भिक्षा का दान दिया)। उन मुनियों ने वहां से दूसरी जगह जाकर विधिपूर्वक उसका आहार किया। भोजन करके नयसार मुनियों के पास आया। प्रणाम करके कहा, 'हे भगवंत ! चलिए, मैं आपको नगर का मार्ग दिखाऊँ।' फिर वे उसके साथ चले और नगरी के मार्ग पर आये, तो एक वृक्ष के नीचे बैठकर उन्होंने नयसार को धर्म सुनाया। वह सुनकर आत्मा को धन्य मानकर नयसार ने उसी समय सम्यकत्व प्राप्त किया। फिर उनको नमन करके वह वापस मुड़ा और सब काष्ठ राजा को भिजवाकर स्वयं अपने गाँव में आया।

इसके बाद बड़े मनवाला नयसार सदैव धर्म का अभ्यास करता, सात तत्त्व का चिंतन करते हुए और सम्यक्त्व का पालन करते हुए काल निर्गमन करने लगा। इस प्रकार आराधना करते हुए नयसार अंत समय पर पंच नमस्कार मंत्र का स्मरण करके मृत्यु पाकर सौधर्म देवलोक में पल्योपम के आयुष्यवाला देव बना।

इस भरतक्षेत्र में **विनीता** नाम की एक श्रेष्ठ नगरी है। उस नगरी को युगादि प्रभु के लिए देवताओं ने पूर्वकाल में बसाया था। उसमें श्री **ऋषभस्वामी** के पुत्र **भरत** नौ निधि और चौदह रत्न के स्वामी चक्रवर्ती बने थे। उसके घर यह ग्रामचिंतक नयसार का जीव पुत्ररुप में अवतरित हुआ। वह आसपास मरिचि (किरण) फैलाता था, जिससे उसका मरिचि ऐसा नाम पड़ा था। एक बार श्री ऋषभस्वामी के प्रथम समवसरण में पिता और भ्राता के साथ वह मरिचि भी गया। वहां देवताओं ने की हुई प्रभु की महिमा देखकर और धर्म सुनकर सम्यकत्व प्राप्त होते ही उसने तत्काल चारित्र ग्रहण किया। भलीभाँति यतिधर्म को जानकर अपने शरीर में भी निःस्पृह बने त्रिगुप्ति तथा पंच समिति को धरते व कषाय को वर्जते वे महाव्रती मरिचि मुनि स्थविर साधुओं से एकादश अंग पढ़ते हुए श्री ऋषभप्रभु के साथ विहार करने लगे। इस प्रकार चिरकाल तक विहार करते हुए एक बार ग्रीष्मऋतु आयी। उस समय अति दारुण सूर्यकिरणों के कारण तप्त पृथ्वी की धूल पथिकों के चरणनाखून को पका देने लगी। उस समय जिसके सर्व अंग पसीने से आर्द्र हो गये हैं और पहने हुए दो वस्त्र मैल से लिप्त बन गये हैं ऐसे वे मरिचि मुनि तृषा पीडित होने पर तत्काल चारित्रावरणीय कर्म के उदय से इस प्रकार चिंतन करने लगे, 'मेरु पर्वत की तरह वहन न हो सके ऐसे इस साधुपन के गुणों को वहन करने के लिए अब मैं समर्थ नहीं हूं, क्योंकि मैं तो निर्गुणी व भव की आकांक्षावाला हूँ। लेकिन अब व्रत का त्याग भी किस प्रकार हो ? क्योंकि त्याग करने से तो लोक में लज्जा प्राप्त होने का भय है। परंतु ऐसा एक उपाय है कि जिससे व्रत भी कुछ रहेगा और ऐसा श्रम भी नहीं पडेगा। ये श्रमण भगवंत त्रिदण्ड[1] से विरक्त हैं और मैं तो त्रिदण्ड से जिता गया हूँ, इसलिए मुझे त्रिदण्ड का लांछन हो। ये साधु केश-लोच से मुंडित हैं और मैं तो शस्त्र से केश मुंडानेवाला व शिखाधारी बनूं। फिर ये साधु महाव्रतधारी हैं और मैं अणुव्रतधारी बनूं। ये मुनि निष्किंचन हैं और मैं मुद्रिका आदि से परिग्रहधारी बनूं। मुनि मोहरहित हैं और मैं मोह

१. मनदण्ड, वचनदण्ड, कायदण्ड।

से आच्छादित होने से छत्रवाला बनूं। ये महर्षि उपानह (जूते) रहित होकर विचरण करते हैं लेकिन मैं तो चरण-रक्षा के लिए उपानह (चाखडी) रखूंगा। ये साधु शील द्वारा सुगंधित हैं और मैं शील से सुगंधित नहीं हूँ इसलिए सुगंध के लिए मुझे श्रीखण्ड चन्दन के तिलक हों। ये महर्षि कषायरहित होने से श्वेत और जीर्ण वस्त्रधारी हैं तो कषायवाले ऐसे मुझे कषाय (रंगे हुए) वस्त्र हों। इन मुनियों ने तो कइं जीवों की विराधनावाले सचित्त जल का प्रयोग त्यागा है, लेकिन मुझे मित (थोडा) जल से स्नान-पान हो।' इस प्रकार अपनी बुद्धि से विचार करके कष्ट से कायर ऐसे मरिचि ने लिंग का निर्वाह करने के लिए त्रिदण्डी संन्यास ग्रहण किया। मरिचि का ऐसा नवीन वेष देखकर सब लोग उसे धर्म पूछते थे, तब वह श्रीजिनों का कहा हुआ साधुधर्म कहता था। फिर लोग उसे पुनः पूछते थे, 'आप ऐसे साधुधर्म का क्यों नहीं आचरण करते ?' तब वह कहता कि 'मैं मेरु के बोझ समान साधुधर्म का वहन करने में समर्थ नहीं हूँ।' स्वयं ने किए हुए धर्म के व्याख्यान से प्रतिबोध पाकर जो भव्यजन साधु बनना चाहते उन्हें मरिचि श्रीऋषभदेव प्रभु को सौंप देता था। ऐसे आचारवाला मरिचि प्रभु के साथ विहार करता था।

एक बार प्रभु फिर से **विनीता** नगरी के समीप आकर ठहरे। वहां भरत चक्री ने प्रभु के पास आकर भावि अरिहंत आदि के बारे में पूछा, तो प्रभु ने भविष्य में होनेवाले अर्हंत, चक्रवर्ती, वासुदेव और बलदेव कह सुनाये। फिर भरत ने दुबारा पूछा कि, 'हे नाथ ! इस सभा में आपके समान भरतक्षेत्र में इस चौबीसी में तीर्थंकर बननेवाला कोई भव्य व्यक्ति हैं ?' उस समय प्रभु मरिचि को दिखाकर बोले, 'यह तेरा पुत्र मरिचि इस भरतक्षेत्र में वीर नाम के आखिरी तीर्थंकर होंगे। फिर **पोतनपुर** में **त्रिपृष्ठ** नाम का पहला वासुदेव और विदेह क्षेत्र की **मूकापुरी** में **प्रियमित्र** नाम का चक्रवर्ती होगा।' यह सुनकर प्रभु की आज्ञा लेकर भरत मरिचि के पास आये और तीन प्रदक्षिणा देकर उसको वन्दना की। फिर कहा, 'श्री ऋषभप्रभु के कहने अनुसार आप इस भरतक्षेत्र में चरम तीर्थंकर होंगे, पोतनपुर में त्रिपृष्ट नाम के पहले वासुदेव होंगे और विदेहक्षेत्र की मूकापुरी में प्रियमित्र नाम के चक्रवर्ती होंगे। आप संन्यासी हैं इस कारण से आपकी वन्दना नहीं करता, लेकिन भावि तीर्थंकर हैं इसलिए आपकी वन्दना करता हूँ।' इस प्रकार कहकर विनयवान् भरतचक्री प्रभु को दुबारा वन्दना करके हर्ष पाते हुए विनीतानगरी में आये।

मरिचि भरतचक्री की कही हकीकत सुनकर हर्ष से तीन बार त्रिपदी बजाकर नाचने लगा और उच्च स्वर से कहने लगा कि 'पोतनपुर में मैं पहला वासुदेव बनूंगा, मूकानगरी में चक्रवर्ती बनूंगा और फिर चरम तीर्थंकर बनूंगा। अब मुझे अन्य की क्या जरुरत है ? मैं वासुदेवों में पहला, मेरे पिता चक्रवर्तियों में पहले और मेरे पितामह (दादाजी) तीर्थंकरों में पहले ! अहो ! मेरा कुल कैसा उत्तम है ?' इस प्रकार बार बार भुजास्फोट करके जातिमद करते हुए मरिचि ने नीच गोत्र उपार्जित किया।

श्री ऋभषस्वामी के निर्वाण के बाद भी साधुओं के साथ विहार करते हुए मरिचि भव्य-जनों को बोध करके साधुओं के पास भेजता था। एक बार मरिचि व्याधिग्रस्त बना। उस समय यह संयमी नहीं है ऐसा मानकर दूसरे साधुओं ने उसकी आश्वासना (सेवा) नहीं की, जिससे ग्लानि पाकर

मरिचि ने मन में सोचा, 'अहो ! ये साधु जो दाक्षिण्यहीन, निर्दय, स्वार्थ में ही उद्यमी और लोकव्यवहार में विमुख हैं, उन्हें धिक्कार है। मैं उनका परिचित, स्नेहवाला और एक ही गुरु का दीक्षित और विनीत हूँ, उसका पालन करना तो दूर रहा, वे तो सामने देखते भी नहीं है। परंतु मुझे ऐसा दूषित चिंतन नहीं करना चाहिए। क्योंकि ये साधु अपने शरीर की भी सेवा नहीं करते तो मेरे जैसे भ्रष्ट की सेवा तो क्यों करें ? इसलिए यदि मैं इस व्याधि में से मुक्त हो जाऊँ तो मैं कोई मेरी सेवा करे ऐसा एक शिष्य बनाऊँ कि जो ऐसा ही लिंग धारण करे।' इस प्रकार चिंतन करते हुए मरिचि दैवयोग से ठीक हो गया। एक बार उसे **कपिल** नाम का कोई कुलपुत्र मिला। वह धर्म का अर्थी था, इसलिए उसने कपिल को आर्हत धर्म कह सुनाया। उस समय कपिल ने उसको पूछा, 'आप स्वयं इस धर्म का आचरण क्यों नहीं करते ?' मरिचि बोला, 'मैं वह धर्म पालने में समर्थ नहीं हूँ।' कपिल ने कहा, 'तो क्या आपके मार्ग में धर्म नहीं है ?' ऐसे प्रश्न से उसको जिनधर्म में आलसी जानकर शिष्य बनाना चाहता मरिचि बोला, 'जैन मार्ग में भी धर्म है और मेरे मार्ग में भी धर्म है।' फिर कपिल उसका शिष्य बना। उस समय मिथ्या धर्म के उपदेश से मरिचि ने कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण का संसार उपार्जित किया। उस पाप की कुछ भी आलोचना किए बिना आखिर अनशन से मृत्यु पाकर मरिचि ब्रह्म देवलोक मे दस सागरोपम के आयुष्यवाला देव बना। कपिल भी आसूर्य वगैरह को अपने शिष्य बनाकर उनको अपने आचार का उपदेश देकर, मृत्यु पाकर ब्रह्मदेवलोक में देव बना। वहां अवधिज्ञान से अपने पूर्वजन्म को जानकर वह पृथ्वी पर आया और उसने आसूर्य वगैरह को अपना सांख्य मत दर्शाया। उसके प्रयास से इस पृथ्वी पर सांख्यदर्शन का प्रारंभ हुआ, क्योंकि लोग प्रायः सुखसाध्य अनुष्ठान में ही लीप्त रहते हैं।

मरिचि का जीव ब्रह्मदेवलोक में से च्यूत होकर **कोल्लाक** नाम के गाँव में अस्सी लाख पूर्व के आयुष्यवाला **कौशिक** नाम का ब्राह्मण बना। विषय में आसक्त, द्रव्य उपार्जन करने में तत्पर और हिंसा आदि में घृणाहीन उस ब्राह्मण ने दीर्घकाल व्यतीत किया। अंत में त्रिदण्डी बनकर मृत्यु पाकर अनेक भवों में भटकने के बाद वह **स्थुणा** नाम के स्थान में **पुष्पमित्र** नाम का ब्राह्मण बना। वहां भी त्रिदण्डी बनकर बहत्तर लाख पूर्व का आयुष्य भोगकर सौधर्म देवलोक में मध्यम स्थितिवाला देवता बना। वहां से च्यूत होकर **चैत्य** नाम के स्थान में वह चौसठ लाख पूर्व के आयुष्यवाला **अग्न्युद्योत** नाम का ब्राह्मण बना। वहां पूर्व की भाँति त्रिदण्डी बना। फिर मृत्यु पाकर इशान देवलोक में मध्यम आयुष्यवाला देवता बना। वहां से च्यूत होकर मंदिर नाम के संनिवेश में **अग्निभूति** नाम का ब्राह्मण बना। उस भव में भी त्रिदण्डी बनकर छप्पन लाख पूर्व का आयुष्य भोगकर, मृत्यु पाने पर सनत्कुमार देवलोक में मध्यमायु देवता बना। वहां से च्यूत होकर **श्वेतांबी** नगरी में **भारद्वाज** नाम का विप्र बना। उस भव में भी त्रिदण्डी बनकर चव्वालीस लाख पूर्व का आयुष्य भोगकर मृत्यु पाने पर माहेन्द्र कल्प में मध्यम स्थित का देवता बना। वहां से च्यूत होकर भवभ्रमण करके **राजगृह** नगर में **स्थावर** नाम का ब्राह्मण बना। उस भव में त्रिदण्डी बनकर चौत्तीस लाख पूर्व का आयुष्य भोगकर मृत्यु पाने पर ब्रह्मदेवलोक में मध्यम आयुष्यवाला देव बना। वहां से च्यूत होकर उसने

कइं भव में परिभ्रमण किया। क्योंकि 'अपने कर्म के परिणाम से प्राणी अनंत भव में भ्रमण करनेवाला बनता है।'

राजगृह नगर में **विश्वनंदी** नाम का राजा था। उसे **प्रियंगु** नाम की पत्नी से **विशाखनंदी** नाम का एक पुत्र हुआ। उस राजा को **विशाखभूति** नाम का एक छोटा भाई युवराज था। उस युवराज को **धारिणी** नाम की स्त्री थी। मरिचि का जीव पूर्वजन्म में उपार्जित किए हुए शुभ कर्म से उस विशाखभूति युवराज की धारिणी नाम की स्त्री से **विश्वभूति** नाम के पुत्ररुप में अवतरित हुआ। वह विश्वभूति क्रमशः युवावस्था को प्राप्त हुआ। एक बार नंदनवन में देवकुमार की तरह वह विश्वभूति अंतःपुर सहित पुष्पकरंडक नाम के उद्यान में क्रीडा करने गया। वह क्रीडा कर ही रहा था कि राजा का पुत्र विशाखनंदी क्रीडा करने की इच्छा से वहां आया। लेकिन विश्वभूति अंदर होने से वह बाहर ही रहा। उस समय पुष्प लेने के लिए उसकी माता की दासियां आईं। उन्होंने उस विश्वभूति और विशाखनंदी को अंदर व बाहर रहे हुए देखे। दासियों से यह खबर सुनकर प्रियंगु रानी कोप पाकर कोपगृह में बैठी। राजा ने रानी की इच्छा पूरी करने के लिए यात्रा की भेरी बजवायी और कपटपूर्वक सभा में कहा, 'हमारा पुरुषसिंह नाम का सामंत उद्दंड हो गया है, इसलिए उस पर विजय करने के लिए मैं जाऊंगा।' यह खबर सुनकर सरल, स्वभावी विश्वभूति वन में से राजसभा में आया और भक्तिपूर्वक राजा को रोककर स्वयं सेना सहित प्रयाण किया। वह पुरुषसिंह सामंत के पास गया। वहां उसको आज्ञाकारी देखकर वह वापस लौटा। मार्ग में वह पुष्पकरडंक वन समीप आया, वहां द्वारपाल ने बताया कि अंदर विशाखनंदी कुमार है, यह सुनकर वह सोचने लगा कि 'मुझे कपटपूर्वक पुष्पकरंडक वन में से निकाला।' फिर उसने क्रोध पाकर मुष्टि से कपित्थ के एक वृक्ष पर प्रहार किया, जिससे उसके सभी फल टूट गिरने से सारी जमीन फलसे आच्छादित हो गयी। उसे दिखाकर विश्वभूति ने द्वारपाल को कहा, 'यदि बुझुर्ग पिताश्री पर मेरी भक्ति न होती तो मैं इस कैथफल की भाँति तुम सबके मस्तक भूमि पर गिरा देता, लेकिन उन पर की भक्ति के कारण मैं वैसा नही कर सकता हूँ। परंतु इस भ्रमयुक्त भोग की मुझे आवश्यकता ही नहीं है।' यूं कहते हुए वह संभूति मुनि के पास गया और चारित्र ग्रहण किया। उसे दीक्षित हुआ जानकर विश्वनंदी राजा अनुज(छोटे) बंधु सहित वहां आये, और उसको नमन करके क्षमा मांगकर राज्य लेने की प्रार्थना की, परंतु विश्वभूति को राज्य की इच्छा बिना का जानकर राजा अपने घर गया और विश्वभूति मुनि ने गुरु के साथ अन्यत्र विहार किया।

तपस्या से अति कृश बने और गुरु की आज्ञा से एकाकी विहार करते विश्वभूति मुनि एक बार **मथुरापुरी** में आये। इस समय वहां के राजा की पुत्री को ब्याहने के लिए विशाखनंदी राजपुत्र भी मथुरा में आया था। विश्वभूति मुनि मासक्षमण के अंत में पारणा करने के लिए नगर में भिक्षा के लिए गए। जहां विशाखनंदी की छावनी थी उसके नजदीक आये तो उसके आदमियों ने 'ये विश्वभूति कुमार जा रहे हैं' ऐसा कहकर विशाखनंदी को पहचान करायी। शत्रु समान उन्हें देखते ही विशाखनंदी को क्रोध आया। इतने में विश्वभूति मुनि किसी गाय के साथ टकराने से पृथ्वी पर

गिर पड़े। यह देखकर 'कैथफल गिराने का तेरा बल कहां गया ?' ऐसा कहकर विशाखनंदी हँसा। यह सुनकर विश्वभूति ने क्रोध से उस गाय को सिंग से पकड़कर आकाश में घुमाया और ऐसा संकल्प किया कि 'इस उग्र तपस्या के प्रभाव से मैं जन्मांतर में बड़े पराक्रमवाला होकर इस विशाखनंदी की मृत्यु का कारण बनूं।' फिर कोटि वर्ष का आयुष्य पूर्ण करके पूर्व-पाप की आलोचना किए बिना मृत्यु पाकर वह विश्वभूति महाशुक्र देवलोक में उत्कृष्ट आयुष्यवाला देवता बना।

इस भरतक्षेत्र में **पोतनपुर** नाम के नगर में **रिपुप्रतिशत्रु** नाम का एक पराक्रमी राजा था। उसे **भद्रा** नाम की एक स्त्री थी। उसे चार स्वप्न से सूचित **अचल** नाम का एक बलभद्र पुत्र हुआ और **मृगावती** नाम की मृगलोचना पुत्री हुई। एक बार युवा व रुपवान वह बाला जब पिता को प्रणाम करने गई तब उसको अपने उत्संग में बैठाया। फिर उसके साथ स्वयं पाणिग्रहण करने का उपाय सोचकर उसे बिदा किया। रिपुप्रतिशत्रु राजा ने नगर के वृद्धजनों को बुलवाकर पूछा, 'अपने स्थान में जो रत्न उत्पन्न हो वह किसका कहलाता है ? इसका निर्णय दीजिए।' उन्होंने कहा, 'वह रत्न अपना ही माना जाता है ?' इस प्रकार तीन बार कहलवाकर राजा ने मृगावती को ब्याहने के लिए राजसभा में बुलवाया। यह देखकर नगर के लोग लज्जित हुए। राजा गांधर्वविधि से मृगावती पुत्री को स्वयंमेव ब्याहा। यह देखकर लज्जा व क्रोध से आकुल बनी हुई भद्रादेवी राजा को छोडकर अचलकुमार को साथ लेकर नगर के बाहर निकली और दक्षिण की ओर चली। अचलकुमार ने वहां **माहेश्वरी** नाम की नयी नगरी बसायी, वहां अपनी माता को रखकर स्वयं पिता के पास गया। उसका पिता (रिपुप्रतिशत्रु) अपनी ही पुत्रीरुपी प्रजा का पति बना इसलिए सब लोग उसे प्रजापति के नाम से पुकारने लगे। ''कर्म की गति बलवान है।'' सात सपनों से जिसने वासुदेवपना सूचित किया है, ऐसा विश्वभूति का जीव महाशुक्र देवलोक से च्यूत होकर मृगावती के उदर में पुत्ररुप में उत्पन्न हुआ। समय आने पर मृगावती ने प्रथम वासुदेव[1] को जन्म दिया। उसके पृष्ठ भाग में तीन पसलियाँ थीं, जिससे उसका **त्रिपृष्ठ** नाम पड़ा। वह अस्सी धनुष्य की कायावाला बनकर अचल के साथ खेलने लगा। फिर सब कलाओं का अध्ययन करके क्रमशः वह युवावस्था को प्राप्त हुआ।

विशाखनंदी का जीव अनेक जन्मों में परिभ्रमण करके तुंगगिरि (गुहा) में केसरी शेर बना। वह **शंखपुर** के प्रदेश में उपद्रव करने लगा। उस समय **अश्वग्रीव** नाम के प्रतिवासुदेव ने एक निमित्तिए को पूछा, मेरी मृत्यु किससे होगी ?' तो निमित्तिए ने कहा, 'जो तेरे चण्डवेग नाम के दूत पर हमला करेगा और तुंगगिरि पर रहे केसरी शेर को लीलामात्र में ही मार डालेगा, वह तुझे मारनेवाला होगा।' फिर अश्वग्रीव राजा ने शंखपुर में शाली (चावल) के क्षेत्र बोआए और उसकी रक्षा के लिए अपने अधीन राजाओं को बारी बारी से रहने की आज्ञा दी। एक बार उसे ज्ञात हुआ कि 'प्रजापति राजा को दो पराक्रमी पुत्र हैं।' तो किसी प्रकार के स्वार्थ हेतु उसने चण्डवेग नाम के दूत को उसके पास भेजा। राजा प्रजापति अपनी सभा में बैठकर संगीत करवा रहा था। अपने

१. इस चौबीसी में भरतक्षेत्र में हुए नौं वासुदेवों में प्रथम।

स्वामी के बल से उन्मत्त बना चण्डवेग दूत अचानक वहां आ पहुँचा। ज्यों आगमों का अध्ययन करते हुए बेसमय बिजली चमके और विघ्न आ जाय त्यों संगीत में वह विघ्नरुप बना व राजा तत्काल खड़ा हो गया। दोनों कुमारों ने सचिव को पूछा, 'यह कौन है ?' सचिव बोला, 'यह दूत महापराक्रमी अश्वग्रीव राजा का सचिवरुप है।' फिर अचल और त्रिपृष्ठ ने अपने आदमियों को आज्ञा दी, 'जब यह दूत यहां से जाय तब हमें सूचित करना।' प्रजापति राजा ने उस दूत को कइं दिन रोककर सत्कार करके बिदा किया, तो वह वहां से चला। इसकी खबर कुमार के आदमियों ने आकर कुमार को दी। कुमारों ने अर्ध मार्ग में उसे रोका और अपने सुभटों से अच्छी तरह उसे मार मरवाया। उस समय उसके साथी सहायक सुभट कौए की तरह वहां से तत्काल पलायन कर गये। यह समाचार प्रजापति राजा को मालूम पडे तो उसने चण्डवेग को तत्काल अपने पास वापस बुलवाया और अधिक सत्कार करके कहा, 'हे चण्डवेग ! मेरे इन कुमारों का अविनय अपने स्वामी अश्वग्रीव को कहना मत। क्योंकि अज्ञान से हुए दुर्विनय पर महानुभाव पुरुष कोप नहीं करते।' दूत 'बहुत अच्छा' यूं कहकर वहां से चला। लेकिन उसके साथ जो सुभट थे, उन्होंने पहले ही जाकर अश्वग्रीव राजा को यह पूरा वृत्तांत बता दिया। 'अश्वग्रीव ने पूरी बात जान ली है,' यूं समझ जाने पर असत्य बोलने में भय पाए चण्डवेग ने भी अपने पर जो उपद्रव हुआ था वो पूरा वृत्तांत यथार्थरुप से कह सुनाया।

इसके बाद अश्वग्रीव ने दूसरे आदमी को समझाकर प्रजापति राजा के पास भेजकर कहलवाया कि 'आप तुंगगिरि जाकर शेर से शाली(चावल)क्षेत्र की रक्षा कीजिए। ऐसी अश्वग्रीव राजा की आज्ञा है।' यह सुनकर प्रजापति राजा ने अपने कुमारों को कहा, 'तुमने हमारे स्वामी अश्वग्रीव को कोपित किया, जिससे उसने बारी बिना भी शेर से शालीक्षेत्रों की रक्षा करने की हमें आज्ञा दी।' इस प्रकार कहकर प्रजापति राजा ने वहां जाने की तैयारी की, तो दोनों कुमार उसे रोककर शेर के युद्ध में कुतूहली बनकर स्वयं ही शंखपुर की ओर चले। त्रिपृष्ठ ने वहां पहुंचने के बाद उस शाली-क्षेत्र के रक्षक गोपलोगों को पूछा, 'दूसरे राजा यहां आते हैं, वे इस शेर से किस प्रकार रक्षा करते हैं और तब तक कहां रहते हैं ?' गोप-लोग बोले, 'अन्य राजा प्रतिवर्ष बारी बारी से आते हैं, जब तक यह शाली लून ली जाय तब तक चतुरंग सेना शालीक्षेत्र के चारोंओर किल्ला बनाकर उसकी रक्षा करती है।' त्रिपृष्ठ ने कहा, 'उतनी देर तक यहां कौन रुके ? मुझे वह शेर दिखाओ, जिससे मैं अकेला ही उसे मार डालूं।' फिर उन्होंने तुंगगिरि की गुफा में रहे शेर को दिखाया। राम और वासुदेव अश्वरथ में बैठकर उस गुफा के पास आये। तो उस गुफा के पास लोगों ने कोलाहल किया। वह सुनकर जंभाई लेते हुए, मुख फाड़कर केसरी शेर बाहर निकला। उसे देखकर 'यह शेर पैदल है और मैं रथी हूँ, इसलिए हम दोनों का युद्ध समान नहीं कहलायेगा।' ऐसा मानकर त्रिपृष्ठ हाथ में ढ़ाल-तलवार लेकर रथ में से नीचे उतर पड़ा। फिर दुबारा सोचा कि 'इस शेर को तो दाढ़ और नाखून ही शस्त्ररुप हैं और मेरे पास तो ढ़ाल व तलवार भी हैं, इसलिए यह भी उचित नहीं हैं।' ऐसा मानकर त्रिपृष्ठ ने ढ़ाल-तलवार भी छोड़ दिए। यह देखकर उस केसरी को जातिस्मरण हुआ।

जिससे उसने सोचा कि 'पहले तो यह पुरुष अकेला ही मेरी गुफा के पास आया यह उसकी धृष्टता, रथ में से नीचे उतरा यह उसकी दूसरी धृष्टता और शस्त्र छोड़ दिए यह उसकी तीसरी धृष्टता, इसलिए मदांध हाथी की भाँति अति दुर्मद ऐसे इस त्रिपृष्ठ को मैं मार डालूं।' ऐसा सोचकर मुख फाडते हुए वह शेर छलांग मारकर त्रिपृष्ठ पर कूद पड़ा। तो त्रिपृष्ठ ने एक हाथ से उपर का और दूसरे हाथ से नीचे का होठ पकड़कर पुराने वस्त्र की तरह उसे फाड़ डाला। देवताओं ने तत्काल वासुदेव पर पुष्प, आभूषण और वस्त्रों की वृष्टि की। लोग चकित होकर 'साधु, साधु' ऐसे शब्द कहते हुए स्तुति करने लगे। उस समय, 'अहो ! इस छोटे बालक जैसे कुमार ने मुझे आज क्यों मारा ?' ऐसे अभिमान से वह शेर दो भाग में विभजित होने पर भी कांपने लगा। तो चरम तीर्थंकर के जीव उस वासुदेव का सारथि जो गौतम गणधर का जीव था, उसने कांपते हुए शेर को कहा, 'अरे शेर ! ज्यों तू पशुओं में शेर है, त्यों यह त्रिपृष्ठ मनुष्यों में शेर है, उसने तुझे मारा है, इसलिए तू वृथा अपमान क्यों मानता है ? क्योंकि किसी हीन पुरुष ने तुझे नहीं मारा है।' इस प्रकार सारथी की अमृत जैसी वाणी सुनकर प्रसन्न होकर उस शेर ने मृत्यु पायी और चौथी नरक में नारकीपन में उत्पन्न हुआ। उसका चर्म लेकर दोनों कुमार अपने नगर की ओर चले और उन ग्रामीण लोगों को कहा, 'आप यह समाचार अश्वग्रीव को दो और कहो कि अब तू इच्छानुसार शाली खा और विश्वास धरकर रह। क्योंकि तेरे हृदय में शल्यरुप जो केसरी था उसे मार डाला है।' इस प्रकार कहकर वे दोनों कुमार पोतनपुर गये और उन ग्रामीण लोगों ने वह वृत्तांत अश्वग्रीव को बताया।

अश्वग्रीव राजा अब त्रिपृष्ट से संदेह पाने लगा। कपटपूर्वक उसे मार डालने की इच्छा से उसने एक दूत को समझाकर प्रजापति राजा के पास भेजा। वह दूत वहां जाकर बोला, 'राजन् ! आपके दोनों पुत्रों को अश्वग्रीव के पास भेजो। हमारे स्वामी उन दोनों को अलग अलग राज्य देंगे।' प्रजापति बोले, 'हे सुन्दर दूत ! मेरे कुमारों की क्या जरुरत है ? मैं स्वयं ही स्वामी के पास आऊंगा।' दूत ने दुबारा कहा, 'यदि आप कुमारों को नहीं भेजोगे तो युद्ध करने के लिए तैयार रहना, फिर ऐसा मत कहना कि कहा ही नहीं था।' इस प्रकार कहते हुए उस दूत पर कुमारों ने क्रोधपूर्वक हल्ला करते हुए क्षणभर में उसे नगर बाहर खदेड़ दिया। दूत ने आकर यह वृत्तांत अश्वग्रीव को कह सुनाया। तो अश्वग्रीव कोप से अग्नि की भाँति प्रज्वलित हुआ।

हयग्रीव राजा व त्रिपृष्ट और अचल युद्ध इच्छा से अपने सैन्य लेकर स्थावर्त्तगिरि के पास आये। संवर्त्त मेघ की तरह परस्पर भीडते दोनों पक्षों के सैनिक परस्पर युद्ध करने लगे। जब सैनिकों का क्षय होने आया तब अश्वग्रीव और त्रिपृष्ट दोनों सैन्य के युद्ध को रोककर स्वयं ही रथी होकर युद्ध करने लगे। अश्वग्रीव के सर्व अस्त्र निष्फल होते ही उसने शत्रु की ग्रीवा को छेदने में लंपट ऐसा चक्र त्रिपृष्ट पर छोडा। उस समय लोगों ने हाहाकार किया। वह चक्र ज्यों अष्टापद जानवर पर्वत के शिखर पर गिरे त्यों तुंब भाग से त्रिपृष्ट के उरस्थल (छाती) पर गिरा। फिर वीरश्रेष्ठ त्रिपृष्ट ने चक्र हाथ में लेकर उससे कमलनाल की भाँति लीलामात्र में अश्वग्रीव के कण्ठ को छेद डाला। उस समय 'यह अचल और त्रिपृष्ट प्रथम बलभद्र और वासुदेव हैं' ऐसी आघोषणा

देवताओं ने पुष्पवृष्टिपूर्वक की। तत्काल सर्व राजाओं ने आकर उनको प्रणाम किए। इसके बाद उन दोनों वीरों ने अपने पराक्रम से दक्षिण भरतार्द्ध को साध लिया। उस प्रथम वासुदेव ने अपनी भुजाओं से कोटिशिला उठाकर छत्र की भाँति लीलामात्र में मस्तक तक उपर उठाई। फिर सर्व भूचक्र को पराक्रम से दबाकर वे पोतनपुर गए। वहां देवताओं और राजाओं ने उन पर अर्धचक्रीपने का अभिषेक किया। जो जो रत्नवस्तु उनसे दूर थी, वे सब त्रिपृष्ट के पास आकर उसकी आश्रित हो गयी। उसमें गायकों में रत्नरुप कुछ मधुर स्वरवाले गायक भी त्रिपृष्ट के पास आये। एक बार वे गायक गा रहे थे और वासुदेव शयन कर रहे थे, उस समय उन्होंने शय्यापाल को आज्ञा दी, 'ये गायक गा रहे हैं, मेरे सो जाने के बाद उन्हें छुट्टी दे देना।' शय्यापाल ने कहा, 'बहुत अच्छा।' फिर त्रिपृष्ट को निद्रा आ गयी, लेकिन उन गायकों के मधुर गान में लुब्ध बने शय्यापाल ने उन गायकों को बिदा नहीं किया। इस प्रकार करते हुए प्रातःकाल होने आया तो वासुदेव उठे। उन्होंने गायकों को गाते हुए देखकर शय्यापाल को कहा, 'तुमने इन गायकों को बिदा क्यों नहीं किया ?' वह बोला, 'स्वामी ! गान के लोभ से।' ऐसा उत्तर सुनकर वासुदेव को क्रोध चढ़ा, जिससे प्रातःकाल में उसके कान में गर्म किया हुआ सीसा डलवाया। इससे वह शय्यापाल मृत्यु पा गया। इस कृत्य से त्रिपृष्ट ने अशाता वेदनीय कर्म निकाचित बांधा। इसके सिवा उस भव में प्रभुता के कारण उसने दूसरा भी बड़ा महा बूरे परिणामवाला उग्र कर्म बांधा। उस प्रजापति राजा के पुत्र त्रिपृष्ट ने हिंसादिक में अविरतपूर्वक और महा आरंभ तथा परिग्रह में तत्परतापूर्वक चौरासी लाख वर्ष व्यतीत किएं। वहां से मृत्यु पाकर वह सातवीं नरक में नारकी बना और उसके वियोग से अचल बलदेव दीक्षा लेकर मृत्यु पाकर मोक्ष में गया।

त्रिपृष्ट का जीव नरक में से निकलकर केसरी शेर बना। वह मृत्यु पाकर चौथी नरक में गया। उसी प्रकार वह तिर्यंच और मनुष्यादि गति में कइं भव में भटका। फिर मनुष्य जन्म पाकर उसने शुभ कर्म उपार्जित किया, जिससे वह अपरविदेह में **मूकानगरी** में **धनंजय** राजा की **धारिणी** नाम की रानी की कुक्षि में पुत्ररुप में उत्पन्न हुआ। चौदह स्वप्नों ने जिसकी चक्रवर्तीपने की समृद्धि दिखाई है ऐसे संपूर्ण लक्षणवाले उस पुत्र धारिणी ने योग्य समय पर जन्म दिया। मातापिता ने उसका **प्रियमित्र** ऐसा नाम रखा। मातापिता के मनोरथ के साथ वह क्रमशः बड़ा हुआ। संसार से निर्वेद पाये धनंजय राजा ने प्रियमित्र को राज्य पर बिठाकर दीक्षा ली। प्रिया (पत्नी) की तरह भूमि को पालते प्रियमित्र राजा को क्रमशः चौदह महारत्न उत्पन्न हुए। फिर चक्र के मार्ग का अनुसरण करते हुए षट्खण्ड विजय करने चले।

प्रथम पूर्वाभिमुख चलकर **मागधतीर्थ** में आये। वहां अष्टम तप करके चतुरंग सेना सहित पडाव किया। अष्टम के अंत पर रथारुढ होकर, थोड़े दूर जाकर उसने धनुष हाथ में लिया। फिर उस महाभुज ने मागधतीर्थकुमार देव को उद्देशित करके अपने नाम से अंकित गरुड के जैसा एक बाण उसकी तरफ छोड़ा। वह बाण आकाश में बारह योजन तक जाकर मागधदेव के आगे उत्पात-वज्र की भांति गिरा। उस समय 'मरना चाहते ऐसे किसने यह बाण डाला ?' यूं सोचते मागधदेव

ने कोप से उठकर वह बाण हाथ में लिया। तो उसके पर चक्रवर्ती के नाम के अक्षरों की श्रेणी देखकर वह पलभर में शांत हो गया। फिर कुछ उपहार लेकर वह प्रियमित्र चक्री के पास आया। और 'मैं आपका आज्ञाकारी हूँ' यूं बोलते हुए आकाश में खड़ा रहा। उपाय जाननेवाले उसने विविध नजरानों से चक्रवर्ती की पूजा की। फिर चक्रवर्ती ने उसका सत्कार करके उसे बिदा किया और स्वयं ने वापस लौटकर पारणा किया। और उस मागधदेव के निमित्त से वहां अट्ठाई उत्सव किया। फिर कर्क राशि के सूर्य की तरह चक्रवर्ती दक्षिण दिशा तरफ गये। वहां **वरदाम** नाम के देव को पूर्व की भाँति साध लिया। वहां से पश्चिम की ओर जाकर **प्रभासपति** को साधा। फिर **सिंधु** नदी के समीप गये। वहां जिन्होंने अष्टम तप किया है ऐसे चक्रवर्ती के पास **सिंधुदेवी** ने प्रत्यक्ष होकर दो दिव्य रत्नमय भद्रासन और दिव्य आभूषण दिए। उस देवी को बिदा करके चक्र के मार्ग का अनुसरण करते हुए चक्री वैताढ्यगिरि समीप आये। वहां अष्टम करके **वैताढ्याद्रीकुमार** नाम के देव को साध लिया। फिर **तमिश्रा** गुहा समीप जाकर अष्टम तप किया। तो वहां रहे **कृतमाल** देव ने स्त्री-रत्न के योग्य ऐसे दूसरे आभूषण दिए। सेनापति ने चक्री की आज्ञा से चर्मरत्न द्वारा सिंधु नदी उतरकर लीलामात्र में उसका प्रथम निष्कूट साध लिया। वहां से वापस आकर चक्री की आज्ञा से अष्टम तप करके दंडरत्न के प्रहार से उसने तमिश्रा का द्वार खोला। फिर चक्रवर्ती गजरत्न पर आरुढ होकर उसके दक्षिण कुंभस्थल पर प्रकाश के लिए मणिरत्न छोड़कर तमिश्रा गुफा में घुसे। वहां काकणी रत्न से गुहा के दोनों तरफ प्रकाश के लिए सूर्यमण्डल जैसे मंडल बनाते हुए चक्रवर्ती चक्र का अनुसरण करते हुए चले। फिर **उन्मग्ना** और **निमग्ना** नदी पर पुल बंधवाकर उसके द्वारा उस नदी को उतरकर अपने आप खुले हुए उस गुफा के उत्तर द्वार से चक्री बाहर निकले। वहां चक्रवर्ती ने आपात जाति के किरात लोगों को जीत लिया, और सेनापति से गंगा नदी का प्रथम निष्कूट सिद्ध करवाया। स्वयं अष्टम भक्त करके गंगादेवी को साधा। फिर गुफा के अधिष्टायक देव को साधकर सेनापति से सिंधु का दूसरा निष्कूट सिद्ध करवाकर चक्र का अनुसरण करते हुए वहां से वापस लौटकर दुबारा वैताढ्यगिरि के पास आये। वहां वैताढ्य के उपर की दोनों श्रेणी के विद्याधरों को वश कर लिया। फिर खण्डप्रपाता गुफा के अधिष्टायक देव को साधकर सेनापति से गुफा के द्वार खुलवाकर चक्री सैन्य सहित वैताढ्यगिरि से बाहर निकले। फिर प्रियमित्र चक्रवर्ती ने अष्टम तप किया, जिससे **नैसर्प** वगैरह नवनिधि उसे वश हुए। फिर सेनापति से गंगा का दूसरा निष्कूट सिद्ध करवाकर छः खण्डों की विजय करके प्रियमित्र चक्रवर्ती मूकानगरी में आये। वहां देवताओं और राजाओं ने मिलकर बारह वर्ष के महोत्सवपूर्वक उन पर चक्रवर्तीपने का अभिषेक किया। फिर वह राजा नीति से पृथ्वी का पालन करने लगा।

एक बार मूकानगरी के उद्यान में पोट्टिल नाम के आचार्य ठहरे। उनसे धर्म सुनकर पुत्र को राज्य पर बैठाकर उन्होंने दीक्षा ली, और कोटी वर्ष तक उत्कृष्ट तप किया। फिर कुल चौरासी लाख पूर्व का आयुष्य पूर्ण करके मृत्यु पाकर महाशुक्र देवलोक में सर्वार्थ नाम के विमान में देवता बने।

महाशुक्र देवलोक से च्यूत होकर भरतखण्ड की **छत्रा** नाम की नगरी में **जितशत्रु** राजा की

भद्रा नाम की रानी से नंदन नाम का पुत्र हुआ। वह युवावस्था में आते ही उसे राज्य पर बैठाकर जितशत्रु राजा ने संसार से निर्वेद पाकर दीक्षा ली। लोगों को आनन्द उत्पन्न करनेवाला वह नंदन राजा समृद्धि से इन्द्र समान होकर यथाविधि पृथ्वी पर राज्य करने लगा। क्रमशः जन्म से चौबीस लाख वर्ष बीतने के बाद विरक्त बनकर उस नंदन राजा ने पोट्टिलाचार्य से दीक्षा ली। निरंतर मासोपवास करके अपने श्रामण्य को उत्कृष्ट स्थिति पर पहुंचाते हुए नन्दनमुनि गुरु के साथ ग्राम, आगार और पुर वगैरह में विहार करने लगे। वे दोनों प्रकार के अपध्यान (आर्त्त, रौद्र) से और द्विविध बंधन (राग-द्वेष) से वर्जित थे, तीन प्रकार के दण्ड (मन, वचन, काय), तीन प्रकार के गौरव (ऋद्धि, रस, शाता) और तीन जाति के शल्य (माया, निदान, मिथ्यादर्शन) से रहित थे, चार कषाय को उन्होंने क्षीण किए थे, चार संज्ञा से वर्जित थे, चार प्रकार की विकथा से रहित थे, चतुर्विध धर्म में परायण थे और चार प्रकार के उपसर्गों से भी उसका उद्यम अस्खलित था, पंचविध महाव्रत में सदैव उद्योगी थे और पंचविध काम (पांच इन्द्रियों के विषय) के सदा द्वेषी थे, प्रतिदिन पांच प्रकार के स्वाध्याय में आसक्त थे, पांच प्रकार की समिति को धारण करते थे और पांच इन्द्रियों को जीतनेवाले थे, षट् जीवनिकाय के रक्षक थे, सात भय के स्थान से वर्जित थे, आठ मद के स्थान से विमुक्त थे, नौ प्रकार से ब्रह्मचर्य की गुप्ति का पालन करते थे और दस प्रकार के यतिधर्म को धारण करते थे, सम्यक् प्रकार से एकादश अंगों का अध्ययन करते थे, बारह प्रकार की यतिप्रतिमा को वहन करने की रुचिवाले थे, दुःसह ऐसे परिषह की परम्परा को वे सहन करते थे और उन्हें किसी प्रकार की कामना नहीं थी। ऐसे वे नंदन मुनि ने एक लाख वर्ष तक तप किया। उन महातपस्वी मुनि ने अर्हंत-भक्ति वगैरह बीस स्थानकों के आराधन से कष्ट से पा सके ऐसा नामकर्म उपार्जित किया। इस तरह मूल से ही निष्कंलक ऐसी साधूता का आचरण करके आयुष्य के अंत में उन्होंने इस प्रकार आराधना की।

"काल और विनय वगैरह जो आठ प्रकार के ज्ञानाचार कहे हैं, उसमें मुझे यदि कोई भी अतिचार लगा हो तो उसे मन, वचन, काया से मैं निंदता हूँ। निःशंकित वगैरह जो आठ प्रकार का दर्शनाचार कहा है, उसमें भी यदि कोई भी अतिचार हुआ हो तो उसे मैं मन, वचन काया से छोड़ रहा हूँ। लोभ या मोह से मैंने प्राणियों की सूक्ष्म या आभासी जो हिंसा की हो उसे मन, वचन, काया से छोड रहां हूँ। हास्य, भय, क्रोध और लोभ वगैरह से मैंने जो जूठा भाषण किया हो, उस सर्व की मैं निंदा करता हूँ और उसका प्रायश्चित्त करता हूँ। राग द्वेष से कम या ज्यादा जो कुछ अदत्त परद्रव्य लिया हो उन सबको छोड रहां हूँ। पूर्व में मैंने तिर्यंच संबंधित, मनुष्य संबंधित या देव संबंधित मैथुन मन से, वचन से या काया से सेया हो तो त्रिविध त्रिविधता से छोड रहा हूँ। लोभ के दोष से, धन-धान्य और पशु वगैरह - बहुत प्रकार का परिग्रह मैंने पहले धारण किया हो तो उसे मन, वचन, काया से छोड़ रहा हूँ। पुत्र, स्त्री, मित्र, धन, धान्य, गृह और अन्य जिस किसी पदार्थ में मुझे ममता रही हो वे सब मैं छोड़ रहा हूँ। इन्द्रियों से पराभव पाकर मैंने रात्रि में चतुर्विध आहार किया हो उसे भी मैं मन, वचन, काया से निंदता हूँ। क्रोध, लोभ, राग, द्वेष,

कलह, पिशुनता[१], परनिंदा, अभ्याख्यान[२] और दूसरा जो कुछ चारित्राचार में दुष्ट आचरण किया हो उसे मैं मन वचन काया से छोड़ रहा हूँ। बाह्य, या अभ्यंतर तपस्या करते हुए मुझे मन, वचन, काया से जो अतिचार लगा हो उसे मैं मन, वचन, काया से निंदता हूँ। धर्म के अनुष्ठान में मैंने जो कुछ वीर्य छिपाया हो उस विर्याचार के अतिचार को भी मैं मन, वचन, काया से निंदता हूँ। मैंने किसिको मारा हो, दुष्ट वचन कहे हो, किसिका कुछ हर लिया हो अथवा कुछ अपकार किया हो तो वे सब मुझ पर क्षमा करना। जो कोई मेरे मित्र या शत्रु, स्वजन या परजन हों वे सब मुझे क्षमा करना, मैं अब सर्व में समान बुद्धिवाला हूँ। तिर्यंचपने में जो तिर्यंच, नारकीपन में जो नारकी, देवपने में जो देवता और मनुष्यपने में जिन मनुष्यों को मैंने दुःखी किए हों वे सब मुझे क्षमा करना, मैं उनसे क्षमा चाहता हूँ, अब मेरी उन सबके साथ मैत्री है। जीवित, जवानी, लक्ष्मी, रुप और प्रिय समागम- ये सब वायु द्वारा नचाये समुद्र के तरंग की तरह चपल हैं। व्याधि, जन्म, जरा व मृत्यु से ग्रस्त बने प्राणियों को श्री जिनोदित धर्म के बिना इस संसार में दूसरी कोई शरण नहीं है। सब जीव स्वजन भी हुए हैं और परजन भी हुए हैं, तो उसमें कौन किंचित् भी प्रतिबंध करे ? प्राणी अकेला ही जन्मता है, अकेला ही मृत्यु पाता है, अकेले ही सुख अनुभवता है और अकेले ही दुःख का अनुभव करता है। प्रथम तो आत्मा से यह शरीर अन्य है, धन धान्यादिक से भी अन्य है, बंधुओं से भी अन्य है और वह देह, धन धान्य तथा बंधुओं से यह जीव अन्य (अलग) है, फिर भी उसमें मूर्ख जन वृथा मोह रखते हैं। चरबी, रुधिर, माँस, अस्थि, ग्रंथी, विष्ठा और मूत्र से भरे इस अशुचि के स्थानरुपी शरीर में कौन बुद्धिमान पुरुष मोह रखेगा ? यह शरीर किराए के घर की तरह आखिर अवश्य छोड़ना है। अर्थात् उसका चाहे जितना लालन-पालन किया हो तो भी वह नाशवान् है। धीर या कायर - सभी प्राणियों को अवश्य मरना तो है ही, परंतु बुद्धिमान पुरुष को इस प्रकार मरना है कि जिससे पुनः मरना ही न पड़े। मुझे अर्हंत प्रभु की शरण हो, सिद्ध भगवंत की शरण हो, साधुओं की शरण हो और केवली भगवंत ने कहे हुए धर्म की शरण हो। मुझे माता श्री जिनधर्म, पिता गुरु, सहोदर साधु और साधर्मी मेरे बंधु हैं। इसके सिवा इस जगत में सर्व जाल समान है। श्री ऋषभदेव वगैरह इस चौबीसी में हो गये तीर्थंकरों और अन्य भरत, ऐरवत तथा महाविदेह क्षेत्र के अर्हंतों को मैं नमन करता हूँ। तीर्थंकरों को किए हुए नमस्कार प्राणियों को संसार के छेदन के लिए और बोधि के लाभ के लिए होता है। मैं सिद्ध भगवंतो को नमस्कार करता हूँ कि जिन्होंने ध्यानरूप अग्नि से हजारों जन्मों के कर्मरुपी काष्ठों को जला दिया है। पंचविध आचार को पालनेवाले आचार्यों को मैं नमस्कार करता हूँ। जो सदैव भवच्छेद में उद्यत होकर प्रवचन[३] को धारण करते हैं। जो सर्व श्रुत को धारण करते हैं और शिष्यों को पढ़ाते हैं, उन महात्मा उपाध्यायों को मैं नमस्कार करता हूँ। जो लाखों जन्मों में बांधे हुए पाप का पलभर में नाश करते हैं, ऐसे शीलव्रतधारी साधुओं को मैं नमस्कार करता हूँ। सावद्य योग तथा बाह्य और अभ्यंतर उपधि[४] को

१. चुगली खाना २. गुप्त आरोप लगाना। ३. जैन शासन। ४. बाह्य उपधी वस्त्र, पात्रादि उपकरण और अभ्यंतर उपधी विषय कषायादि।

मैं यावज्जीव मन, वचन, काया से छोड़ता हूँ। मैं यावज्जीव चतुर्विध आहार का त्याग करता हूँ और चरम उच्छवास समय पर देह को भी छोड़ता हूँ।'' दुष्कर्म की गर्हणा प्राणियों की क्षामणा, शुभ भावना, चतुःशरण, नमस्कार स्मरण और अनशन - इस प्रकार छः प्रकार की आराधना करके वे नंदनमुनि अपने धर्माचार्यो, साधुओं और साध्वियों से क्षमा माँगने लगे। क्रमशः वे महामुनि साठ दिन तक अनशन व्रत पालकर पचीस लाख वर्ष का आयुष्य पूर्ण करके मृत्यु पाने के बाद प्राणतः नाम के दशवें देवलोक में पुष्पोत्तर नाम के विस्तारवाले विमान में उपपाद शय्या में उत्पन्न हुए। एक अंतमुर्हूत्त में वे महर्द्धिक देव हो गये। फिर अपने पर रहे देवदूष्य वस्त्र को हटाकर शय्या में बैठकर देखा तो अचानक प्राप्त हुए विमान, देवसमूह और बड़ी समृद्धि देखकर वे चकित हो गये। और सोचने लगे कि, 'यह सब किस तप से मुझे प्राप्त हुआ है ?' फिर अवधिज्ञान से देखने पर उनको अपना पूर्वभव और व्रत याद आये। तो उन्होंने चित्त में चिंतन किया कि 'अहो ! अर्हद्धर्म का कैसा प्रभाव है ?' उस समय उसके सेवकरुप सर्व देवता इकट्ठे होकर वहां आये और अंजलि जोड़कर हर्षपूर्वक उनको इस प्रकार कहने लगे, 'हे स्वामी ! हे जगत को आनंदकारी ! हे जगत का भद्र करनेवाले ! आप जय पाओ। चिरकाल सुखपूर्वक रहो। आप हमारे स्वामी हो, रक्षक हो और यशस्वी हो। आप विजय पाओ। यह आपका विमान है, हम आपके आज्ञाकारी देवता हैं, ये सुंदर उपवन हैं, ये स्नान करने की वापिकाएं हैं, यह सिद्धायतन हैं, यह सुधर्मा नाम की महासभा है और यह स्नानगृह है। अप आप इस स्नानगृह को अलंकृत कीजिए कि जिससे हम आप पर अभिषेक करें।' इस प्रकार उन देवताओं के कहने से वे देव स्नानगृह में गये और वहां रहे चरणपीठवाले सिंहासन पर बिराजे। देवताओं ने हाथ में कुंभ लेकर दिव्य जल से उनका अभिषेक किया। फिर किंकर (सेवक) देवता उनको अलंकारगृह में लगे गये। वहां उन्होंने दो देवदूष्य वस्त्र, अंगराग और मुकुट वगैरह दिव्य आभूषण धारण किये। फिर वहां से व्यवसायसभा में गये, वहां अपने कल्प का पुस्तक पढ़ा। फिर पुष्पादिक पूजा की सामग्री लेकर सिद्धालय में गये। वहां एकसौं आठ अर्हंत की प्रतिमाओं को स्नात्र किया, अर्चन, वंदन और स्तवना की। इसके बाद अपनी सुधर्मा सभा में आकर संगीत करवाया और अपने उस विमान में रहकर यथारुचि भोग भोगने लगे।

समकित गुणरुपी आभूषणवाले वे देव अर्हंतों के कल्याणक के समय पर महाविदेहादि क्षेत्रों में गये और वहां जिनेश्वर भगवंत को वंदना की। इस प्रकार अंत समय पर तो उलटे ही हरेक बात में विशेष रुप से शोभित बने ऐसे उस देव ने बीस सागरोपम का आयुष्य पूर्ण किया। दूसरे देवता छः मास का आयुष्य बाकी रहता है तब मोह पाते हैं, लेकिन तीर्थंकर बननेवाले देवता तो पुण्योदय अत्यंत नजदीक आया होने से बिलकुल मोह नहीं पाते।

इत्याचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि विरचिते त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरिते महाकाव्ये
दशमपर्वणि श्री महावीर चरित्र पूर्वभव वर्णनो नाम प्रथमः सर्गः।।१।।

दूसरा सर्ग

श्री महावीर जन्म और दीक्षा महोत्सव

इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में **ब्राह्मणकुंड** नाम का एक ब्राह्मण लोगों का गांव था। वहां कोडालस नाम के कुल में उत्पन्न हुआ **ऋषभदत्त** नाम का एक ब्राह्मण रहता था, उसे **देवानन्दा** नाम की जालंधर कुल की एक पत्नी थी। आषाढ़ महिने की शुक्ल षष्ठी को चन्द्र हस्तोत्तर (उत्तराषाढा) नक्षत्र में आने पर नन्दनमुनि का जीव दसवें देवलोक से च्यूत होकर देवानंदा की कुक्षि में अवतरित हुआ। उस समय सुखपूर्वक सो रही देवानन्दा ने चौदह महास्वप्न देखे। प्रातःकाल में उसने वे अपने स्वामी को सुनाए। ऋषभदत्त ने इसके संबंध में सोचकर कहा, 'ये स्वप्न देखने से आपको चार वेद को जाननेवाला व परम निष्ठावान पुत्र होगा, इसमें जरा सा भी संदेह नहीं है।' मानो कल्पवृक्ष आया हो त्यों प्रभु जब देवानन्दा की कुक्षि में आये तब से उस ब्राह्मण को बड़ी समृद्धि प्राप्त हुई।

देवानन्दा के गर्भ में प्रभु के आने के बाद बयासी दिन व्यतीत हुए तो सौधर्म देवलोक के इन्द्र का सिंहासन कंपायमान हुआ। अवधिज्ञान से प्रभु को देवानन्दा के गर्भ में आया जानकर शक्रेन्द्र सिंहासन पर से खड़े होकर नमस्कार करके इस प्रकार सोचने लगे कि "तीन जगत के गुरु अर्हंत कदापि तुच्छ कुल में, दारिद्र कुल में या भिक्षुक कुल में उत्पन्न नहीं होते, लेकिन पुरुष में शेर समान वे तो सीप में मोती की तरह इक्ष्वाकु वगैरह क्षत्रीय वंश में ही उत्पन्न होते है, ये प्रभु नीच कुल में उत्पन्न हुए हैं, जो असंगत हुआ है, परंतु प्राचीन कर्म को अन्यथा करने के लिये प्रभु भी समर्थ नहीं है। इन प्रभु ने मरिचि के जन्म में कुलमद किया था, जिससे जो नीच गोत्रकर्म उपार्जन किया था, वह आज भी उपस्थित है। लेकिन कर्म के वश होकर नीच कुल में उत्पन्न हुए अर्हंतों को किसी महाकुल में ले जाना यह सदैव हमारा अधिकार है। इस समय भरतक्षेत्र में बडे वंश में उत्पन्न हुए राजा और रानी कौन हैं ? जिसके यहां - ज्यों मोगरे के पुष्प में से कमल पुष्प में भ्रमर को ले जाय त्यों मैं उनको संचार करा दूं। अहो ! मुझे मालूम हो गया, इस भरतक्षेत्र में महीमण्डल के मंडपरुपी **क्षत्रीयकुंड** नाम का नगर है, जो मेरे नगर जैसा सुन्दर है। वह विविध चैत्यों का स्थल है, धर्म का वह एक कारण है, अन्याय से रहित है और साधुओं से पवित्र है। वहां के निवासी लोग मृगया व मद्यपान वगैरह व्यसनों से को छूते नहीं हैं। जिससे वह शहर तीर्थ की भाँति भरतक्षेत्र में जीवों को पवित्र करनेवाला है। उस नगर में इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न हुआ **सिद्धार्थ** नाम का सुख्यात राजा हैं। जो धर्म से ही अपनी आत्मा को सदैव सिद्धार्थ मानता हैं। वह जीवाजीवादि तत्त्वों को जाननेवाला है, न्यायमार्ग का बड़ा पथिक है, प्रजा को सन्मार्ग पर स्थापित करनेवाला है, पिता की भाँति प्रजा का हितकामी है, दीन-अनाथ वगैरह लोगों का उद्धार करने में बंधुरुप है, शरण की इच्छावाले को शरण करने योग्य है और क्षत्रियों में शिरोमणि है। उसे सतीजन में श्रेष्ठ, और जिसके गुण व आकृति स्तुति करने योग्य है ऐसी पुण्य की भूमिरुपी **त्रिशला** नाम

की मुख्य पटरानी है। स्वभाव से ही निर्मल और गुणरुपी तरंगोंवाली वह देवी सांप्रत काल में गंगा नदी की तरह पृथ्वी को पवित्र करती है। स्त्री जन्म के साथ ही रहनेवाली माया से भी अकलंकित और स्वभाव मे सरला ऐसी वह रामा पृथ्वी पर कृतार्थ नामवाली है। वह दैवी इस समय दैवयोग से गर्भवती भी है, जिससे मुझे उसके और देवानन्दा के गर्भ की अदला-बदली करना योग्य है।'' इस प्रकार विचार करके इन्द्र ने अपने पायदल सेनापति नैगमेषी देव को बुलवाकर वैसा करने की तुरंत आज्ञा दी। नैगमेषी देव ने तुरंत ही स्वामी की आज्ञानुसार देवानंदा और त्रिशला के गर्भ की अदला-बदली की। उस समय शय्या में सोयी हुई देवानंदा ब्राह्मणी ने पहले देखे हुए चौदह महास्वप्न अपने मुख में से वापस निकलते देखे, जिससे वह तुरंत उठ बैठी, लेकिन शरीर से निर्बल व ज्वर से जर्जरित हो गई और छाती पीटते हुए 'किसिने मेरा गर्भ हर लिया' यूं बार बार पुकारने लगी। आश्वीन माह की कृष्ण त्रयोदशी को चन्द्र हस्तोत्तरा नक्षत्र में आते ही उस देव ने प्रभु को त्रिशला के गर्भ में स्थापित किया। उस समय त्रिशला देवी ने हाथी, वृषभ, सिंह, अभिषेक होती लक्ष्मी, माला, चन्द्र, सूर्य, महाध्वज, पूर्णकुंभ, पद्म सरोवर, समुद्र, विमान, रत्नराशि और निर्धूम अग्नि - इन चौदह स्वप्नों को मुख में प्रवेश करते हुए देखा। फिर इन्द्र ने, उनके पति सिद्धार्थ राजा ने तथा स्वप्नफल कहनेवाले निमित्तियों ने सपनों का फल तीर्थंकर के जन्मरुप बताया। वह सुनकर देवी ने बडा हर्ष पाया। हर्ष पायी हुई देवी ने अद्‌भुत गर्भ धारण किया। फिर क्रीडागृह की भूमि पर भी वह प्रमादरहित विहार करने लगीं।

प्रभु के गर्भ में आने पर शक्रेन्द्र की आज्ञा से जृंभक देवताओं ने सिद्धार्थ राजा के गृह में बार बार धन के समूह लाकर स्थापित किए। गर्भ में अवतरित भगवंत के प्रभाव से उसका पूरा कुल धन-धान्य की समृद्धि से वृद्धि पाया। जो राजा गर्व से पहले सिद्धार्थ राजा को नमन नहीं करते थे, वे हाथों में नजराने लेकर अपने आप वहां आ-आकर नमन करने लगे।

एक बार 'मेरे हलन-चलन से मेरी माता को वेदना न हो' ऐसा सोचकर प्रभु गर्भवास में भी योगी की भाँति निश्चल रहे। उस समय प्रभु माता के उदर में सर्व अंग के व्यापार का संकुचन करके इस प्रकार रहे कि जिससे माता उदर में गर्भ है या नहीं वह समज ही न सकी। त्रिशला को चिंता हुई, 'मेरा गर्भ गल गया या किसिने हर लिया या नाश पाया ? या स्थंभित हुआ ? यदि इसमें से कुछ भी हुआ हो तो अब जीवन का कुछ काम नहीं है। क्योंकि मृत्यु का दुःख सहन किया जा सकता है, लेकिन गर्भ के ऐसे वियोग का दुःख सहन नहीं किया जा सकता है।' इस प्रकार आर्त्तध्यान करते हुए देवी केश खुल्ले रखकर, अंगराग छोड़कर और कर पर मुखकमल रखकर रुदन करने लगी। तथा सब आभूषण छोड़ दिए। निःश्वास से अधर को विधुर कर दिया, सखियों के साथ भी मौन धरकर रही और सोना एवं खाना त्याग दिया। यह खबर जानकर सिद्धार्थ राजा खेद पाए। उनके बडे पुत्र नंदिवर्द्धन और पुत्री सुदर्शना ने भी खेद पाया। उस अवसर पर तीन ज्ञान के धारक प्रभु ने ज्ञान से इस प्रकार अपने माता-पिता को दुःख उत्पन्न हुआ जानकर गर्भ-ज्ञापन करवाने के लिए एक ऊंगली चलायमान की। जिससे तुरंत 'मेरा गर्भ अभी अक्षत है' यूं जानकर

देवी ने हर्ष पाया और गर्भ-स्फुरण की बात कहने से राजा सिद्धार्थ भी बड़ा खुश हुआ। उस समय प्रभु ने चिंतन किया कि 'अहो ! मैं इस समय अदृष्ट हूं, फिर भी मेरे माता-पिता को मुझ पर कितना स्नेह है ? इसलिए यदि उनके जीवित होते हुए मैं दीक्षा लूंगा तो अवश्य स्नेह के मोह से आर्त्तध्यान से बडा अशुभ कर्म उपार्जित करेंगे, तो मातापिता के जीवित होने पर मैं दीक्षा नहीं लूंगा।' प्रभु ने इस प्रकार सातवें महिने में ही अभिग्रह ले लिया।

क्रमानुसार गर्भस्थिति पूर्ण हुई तो उस समय सर्व दिशाएं प्रसन्न हुई थीं, सब ग्रह उच्च स्थान पर आये थे। पवन पृथ्वी पर फैलकर प्रदक्षिण और अनुकूल चल रहा था, जगत पूरा हर्ष से भरा गया था और जयकारी शुभ सगुन हो रहे थे, उस समय नौ माह और साडे सात दिन व्यतीत होने पर चैत्र माह की शुक्ल त्रयोदशी को चन्द्र हस्तोत्तरा नक्षत्र में आने पर त्रिशला देवी ने सिंह के लांछनवाले, सुवर्ण समान कांतिवाले और अत्यंत सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। इस अवसर पर भोगंकरा वगैरह छप्पन दिक्कुमारियों ने आकर प्रभु का और माता का सूतिका कर्म किया[1]। सौधर्म इन्द्र भी आसन कंप से प्रभु का जन्म जानकर तत्काल परिवार सहित सूतिकागृह में आये। अर्हंत को और उनकी माता को दूर से प्रणाम करके समीप आकर उसने देवी पर अवस्वापनिका निद्रा छोड़ी। फिर देवी के बगल में भगवंत का प्रतिबिम्ब रखकर भक्तिकर्म में अतृप्त ऐसे इन्द्र ने अपने शरीर के पांच रुप किए। एक रुप से उसने प्रभु को अपने हाथ में उठाया, दूसरे रुप से प्रभु के सिर पर छत्र धरा, दो रुप से प्रभु के दोनों ओर सुन्दर चँवर धारण किए और एक रुप से वज्र उछालते और नृत्य करते हुए प्रभु के आगे चले। इस प्रकार मेरु गिरि पर जाकर अतिपांडुकबला नाम की शिला पर प्रभु को गोद में लेकर सिंहासन पर बैठे। उस समय दूसरे त्रेसठ इन्द्र भी प्रभु को स्नात्र करने के लिए वहां आये। अभियोगिक देवता भी स्नात्र के लिए तीर्थ का जल ले आये। उस अवसर पर भक्ति से कोमल चित्तवाले शक्र को 'इतने सारे जल का बहाव प्रभु किस प्रकार सहन कर पायेंगे' ऐसा संदेह उत्पन्न हुआ। इन्द्र की आशंका दूर करने के लिए प्रभु ने लीलामात्र में वाम चरण के अंगूठे से मेरुगिरि को दबाया। जिससे तत्काल मानो प्रभु के नमन के लिए ही हों त्यों मेरु पर्वत के शिखर झुक गये, कुलगिरि मानो उसके समीप आ रहे हों त्यों चलित हुए, समुद्र मानो प्रभु का स्नात्र करना चाहते हों त्यों बहुत उछलने लगे और पृथ्वी मानो प्रभु के समीप नृत्य करने के लिए उन्मुख हुई हो त्यों तत्काल कांपने लगी। इस प्रकार का उत्पात देखकर 'यह क्या हुआ ?' यूं चिंता करते हुए इन्द्र ने अवधिज्ञान से देखा तो प्रभु के पराक्रम की यह राब लीला उसे मालूम पड़ी। फिर इन्द्र ने कहा, 'हे नाथ ! असामान्य ऐसा आपका माहात्म्य मेरे जैसा सामान्य प्राणी किस प्रकार जान सकेगा ? तो मैंने जो ऐसा विपरीत सोचा, वह मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो।' इस प्रकार कहकर इन्द्र ने प्रभु को प्रणाम किया। फिर आनन्द सहित अनेक प्रकार के वाजिंत्र वजाते हुए इन्द्रों ने तीर्थ के सुगंधित और पवित्र जल से अभिषेक महोत्सव किया। उस अभिषेक के जल

१. दिग्कुमारियों ने किए हुए महोत्सव का वर्णन प्रथम पर्व में ऋषभदेव के अधिकार में विस्तृत रुप में दिया होने से यहां पर नहीं दिया गया है।

को सुर, असुर, मनुष्य और नागकुमार वंदन करने लगे और बार बार सर्व प्राणियों के अंग पर छिड़कने लगे। प्रभु के स्नात्रजल के साथ मिश्रित मृत्तिका भी वंदन करने योग्य बन पड़ी। क्योंकि "गुरु के संसर्ग से लघु की भी गौरवता होती है।" इसके बाद सौधर्मेन्द्र प्रभु को इशान इन्द्र की गोद में देकर स्नान, अर्चन, आरात्रिक करके इस प्रकार स्तुति करने लगे –

"अर्हंत, भगवंत, स्वयंबुद्ध, विधाता और पुरुषों में उत्तम ऐसे आदिकार तीर्थंकर रुप आपको मैं नमस्कार करता हूँ। लोक में प्रदीपरुप, लोक के प्रद्योत के करनेवाले, लोक में उत्तम, लोक के अधीश और लोक के हितकारी ऐसे आपको मैं नमस्कार करता हूँ। पुरुषों में श्रेष्ठ पुंडरीक कमलरुप, सुख देनेवाले पुरुषों में शेर समान और पुरुषों में मदगंधी गजेन्द्ररुप ऐसे आपको नमस्कार है। चक्षु को और अभय को देनेवाले, बोधिदायक, मार्गदर्शक, धर्मदायक, धर्मदेशक और शरणदायक ऐसे आपको मैं नमस्कार करता हूँ। धर्म के चक्रवर्ती, छद्मस्थता को निवृत्त करनेवाले और समकित दर्शनधारी ऐसे आपको नमस्कार हैं। जिन और जापक[1], तैरे हुए और तारक, कर्म से मुक्त और मुक्ति दिलानेवाले तथा बुद्ध और बोध करानेवाले ऐसे आपको में नमस्कार करता हूँ। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सर्व अतिशय के पात्र और आठ कर्म का नाश करनेवाले ऐसे हे स्वामी ! आपको नमस्कार है। क्षेत्र, पात्र, तीर्थ, परमात्मा, स्याद्वादवादी, वीतराग और मुनि ऐसे आपको नमस्कार है। पूजनियों के भी पूज्य, बडे से भी बड़े, आचार्यो के भी आचार्य और ज्येष्ठ के भी ज्येष्ठ ऐसे आपको नमस्कार है। विश्व को उत्पन्न करनेवाले, योगियों के नाथ और योगी, पवित्र करनेवाले और पवित्र, अनुत्तर और उत्तर, उत्तम ऐसे आपको नमस्कार है। पाप का प्रक्षालन करनेवाले, योगाचार्य, जिससे अन्य कोई विशेष उत्तम नहीं है ऐसे अग्र वाचस्पति और मंगलरुप आपको नमस्कार है। सर्व ओर से उदित हुए, एक वीर, सूर्यरुप, और 'ॐ भूभुर्वः स्वः' इस वाणी से स्तुति करने योग्य ऐसे आपको नमस्कार है। सर्वजन हितकारी, सर्व अर्थ साधनेवाले, अमृतरुप ब्रह्मचर्य को उदित करनेवाले, आप्त और पारगामी ऐसे आपको नमस्कार है। दक्षिणीय, निर्विकार, दयालु और वज्रऋषभनाराच शरीर को धारण करनेवाले ऐसे आपको नमस्कार है। त्रिकालज्ञाता जिनेन्द्र, स्वयंभू, ज्ञान, बल, वीर्य, तेज, शक्ति और ऐश्वर्यरुप ऐसे आपको नमस्कार है। आदि पुरुष, परमेष्टी, महेश और ज्योतिषस्तत्वरुप ऐसे आपको नमस्कार है। सिद्धार्थ राजा के कुलरुपी क्षीरसागर में चन्द्र जैसे महावीर, धीर और तीनों जगत के स्वामी ऐसे आपको नमस्कार है।" इस प्रकार स्तुति करके प्रभु को लेकर माता के पास रखा और उनका प्रतिबिम्ब और अवस्वापनिका निद्रा हर ली। फिर सिरहाने पर क्षौमवस्त्र तथा दो कुंडल व प्रभु की शय्या पर श्रीदामगंडक रखकर इन्द्र अपने स्थान पर गये। उस समय इन्द्र की आज्ञा से कुबेर प्रेरित जृंभक देवताओं ने सिद्धार्थ राजा के गृह में सुवर्ण, माणिक्य और वसुधारा की वृष्टि की।

प्रभातकाल में राजा सिद्धार्थ ने प्रभु के जन्मतोत्सव में पहले तो कारागृह में से सब कैदियों

१. रागद्वेष जिते हुए और दूसरो को जितानेवाले।

को छोड़ दिया। ''अर्हंत का जन्म भवी प्राणियों को भव से भी छुडाता है।'' तीसरे दिन माता-पिता ने प्रसन्न होकर पुत्र को सूर्य-चंद्र के बिंब के दर्शन करवाये। छट्ठे दिन मधुर स्वर में मंगलगीत गानेवाली कुमकुम के अंगराग को धरनेवाली, कइं आभूषणों से सुसज्ज और कण्ठ में लटकती मालाएं पहननेवाली अनेक कुलीन सौभाग्यवती स्त्रियों के साथ राजा-रानी ने रात्रि जागरणोत्सव किया। जब ग्यारहवाँ दिन प्राप्त हुआ, तो सिद्धार्थ राजा ने और त्रिशला देवी ने पुत्र का जातक कर्म महोत्सव पूर्ण किया। जिसकी इच्छा मात्र सिद्ध हो गई है, ऐसे सिद्धार्थ राजा ने बारहवें दिन अपने सर्व ज्ञाति संबंधियों और बंधुओं को बुलवाया। वे हाथ में अनेक प्रकार के मांगल्य उपहार लेकर आये। योग्य प्रतिदान के व्यवहार में तत्पर ऐसे राजा ने उनका सत्कार किया। फिर सिद्धार्थ राजा ने उनको कहा कि 'यह पुत्र गर्भ में आते ही हमारे घर में, नगर में और मांगल्य में धनादि की वृद्धि हुई है, जिससे उसका नाम वर्धमान हो।' इस प्रकार सुनकर उन बंधुओं ने भी हर्ष पाकर कहा, 'ऐसा ही हो।' फिर 'प्रभु बड़े उपसर्गो से भी कंपायमान नहीं होंगे' ऐसा सोचकर इन्द्र ने उस जगत्पति का महावीर ऐसा नाम रखा। भक्तिवान ऐसे सुर और असुरों द्वारा आगे झुकझुक कर सेये जाते, अमृतवर्षिणी दृष्टि से पृथ्वी का सिंचन करते हुए और एक हजार आठ लक्षणों से उपलक्षित ऐसे प्रभु यद्यपि स्वभाव से गुणवृद्ध तो थे ही, लेकिन क्रमशः उम्र से भी बढ़ने लगे।

एक बार आठ वर्ष में कुछ कम की आयु के प्रभु समान आयु के राजपुत्रों के साथ उम्रयोग्य खेल खेलने गये। उस समय अवधिज्ञान से यह जानकर इन्द्र ने देवताओं की सभा में धीरजता में महावीर ऐसे वीर भगवंत की प्रशंसा की। वह सुनकर कोई मत्सरी (द्वेषी) देव 'मैं उस महावीर को क्षोभ पहुँचाऊं' ऐसा सोचकर जहां प्रभु खेल रहे थे वहां आया। उस समय प्रभु राजपुत्रों के साथ आमलकी खेल रहे थे। वहां वह देव किसी वृक्ष की जड़ के पास माया से बड़ा सर्प बनकर रहा। उसे देखकर सब राजपुत्र तत्काल त्रस्त होकर दसों दिशाओं में भागने लगे, तो प्रभु ने हँसते हँसते रस्सी की तरह उसे ऊंचा करके पृथ्वी पर दूर फैंक दिया। राजकुमार वह देखकर लज्जा पाते हुए वापस खेल के लिए एकत्रित हुए, तो वह देव भी राजकुमार बनकर वहाँ आया। सब कुमार एक पेड पर चढ़े। प्रभु सब कुमारों से पहले वृक्ष के अग्र भाग पर चढ़ गये। अथवा 'जो लोकाग्र जानेवाले हैं उन्हें इस वृक्ष के अग्र भाग पर जाना क्या मुश्किल है !' वहां स्थित प्रभु मेरु के शिखर पर सूर्य की तरह शोभा पाने लगे और शाखाओं में लटकते अन्य कुमार बंदरों की तरह दिखने लगे। उस खेल में भगवान जीत गये। उस खेल में ऐसा भी था कि 'जो हार जाय वो दूसरों को अपनी पीठ पर चढ़ाकर वहन करे।' तो राजपुत्र अश्व की तरह वीर प्रभु को अपनी पीठ पर बैठाकर वहन करने लगे। क्रमशः महापराक्रमियों में श्रेष्ठ ऐसे प्रभु उस देव की पीठ पर आरुढ हुए। तत्काल वह दुष्ट बुद्धिवाला देव विकराल रुप धरकर पर्वतों को भी नीचा कर दे त्यों बढ़ने लगा। उसके पाताल जैसे मुख में रही हुई जीभ तक्षक नाग समान दिखने लगी, ऊंचे पर्वत जैसे मस्तक पर स्थित पीले केश दावानल जैसे दिखने लगे। उसकी भयंकर दाढ़े कैंची जैसी हो गयी। उसके लोचन अंगारे की भट्ठी जैसे जाज्वल्यमान दिखने लगे, उसके नथूने पर्वत की गुहा समान अति घोर दिखने

लगे और भ्रूकुटि से तनी हुई भँवर मानो दो बड़ी सर्पिणी हो त्यों दिखने लगी। इस प्रकार वह देव बढ़ने में विराम नहीं पाया था कि महापराक्रमी प्रभु ने उसका स्वरुप जानकर उसकी पीठ पर एक मुष्टिप्रहार करके उसे वामन कर दिया। फिर वह देव इन्द्र द्वारा वर्णन किये गये भगवंत के धैर्य को प्रत्यक्ष देखकर अपना स्वरुप प्रकट करके प्रभु को नमन करके अपने स्थान पर गया।

प्रभु आठ वरस उपर के हुए तो पिता ने उन्हें अभ्यास करवाने के लिए शाला भेजने का प्रारंभ किया। उस समय इन्द्र का सिंहासन कंपायमान हुआ। तो इन्द्र अवधिज्ञान से प्रभु के माता-पिता की अद्‌भुत सरलता जानकर और 'अरे ! क्या सर्वज्ञ प्रभु को शिष्यपना होता है ?' ऐसा सोचकर तत्काल वहां आया। प्रभु को शाला में ले जाया गया, वहां इन्द्र ने प्रभु को उपाध्याय के आसन पर बैठाया। फिर प्रणाम करके प्रार्थना की, तो प्रभु ने शब्द पारायण (व्याकरण) कह सुनाया। वह शब्दानुशासन भगवंत ने इन्द्र को कहा, जिसे सुनकर उपाध्याय ने इस लोक में ऐंद्र-व्याकरण ऐसे नाम से प्रसिद्ध किया।

सात हाथ ऊंची कायावाले प्रभु क्रमशः युवावस्था को प्राप्त हुए, तो वन के हाथी की तरह लीला से गमन करने लगे। त्रैलोक्य में उत्कृष्ट ऐसा रुप, तीन जगत का प्रभुत्व और नवीन यौवन प्राप्त होने पर भी प्रभु को सहज भी विकार उत्पन्न नहीं हुआ। राजा **समरवीर** ने **यशोदा** नाम की अपनी कन्या को वर्धमान स्वामी को देने के लिये सचिवों के साथ वहां भेजी। सचिवों ने क्षत्रिकुंड नगर आकर सिद्धार्थ राजा को नमन करके कहा, 'हमारे स्वामी ने अपनी पुत्री यशोदा आपके पुत्र को देने के लिए हमारे साथ भेजी है। हमारे स्वामी पहले से ही आपके दास है, तो इस संबंध से विशेष बनें और हमारे पर प्रसन्न होकर उसका स्वीकार करें।' सिद्धार्थ राजा बोले, "मुझे और त्रिशला को कुमार का विवाहोत्सव देखने का बड़ा मनोरथ है, लेकिन ये कुमार जन्म से ही संसार से विरक्त है, जिससे हम उसके पास विवाहादिक प्रयोजन की बात भी नहीं कह सकते, फिर भी आपके आग्रह से अनेक वचन-युक्तियों से उसके मित्र द्वारा विवाह की बात हम आज उसे कहलवायेंगे।" इस प्रकार कहकर राजा सिद्धार्थ ने त्रिशलादेवी को पूछकर प्रभु के बुद्धिमान मित्रों को विवाह कबूल करवाने के लिए प्रभु के पास भेजा। उन्होंने प्रभु के पास जाकर विनयपूर्वक नमस्कार करके उनको सिद्धार्थ राजा की आज्ञा कह सुनायी। प्रभु बोले, 'आप निरंतर मेरे पास रहनेवाले हो, इसलिए गृहवास से पराऽन्मुख ऐसे मेरे भाव को आप जानते हो।' वे बोले, "हे कुमार ! हम आपको संसार से सदैव उद्विग्न मानते हैं, लेकिन 'आपको मातापिता की आज्ञा अलंघनीय है' ऐसा भी हमारा मानना है। फिर भी आप हमारी प्रणय (प्रेम) याचना की कदापि अवहेलना करते नहीं है, तो आज एकसाथ सबका अनादर क्यों करते हो ?" भगवंत बोले, "अरे मोहग्रस्त मित्रों ! आपका ऐसा क्या आग्रह है ! क्योंकि स्त्री वगैरह का परिग्रह तो जनम जनम के फेरों का कारण है। और 'मेरे मातापिता जीवित होने पर उनको मेरे वियोग का दुःख न हो' ऐसे उद्देश्य से ही मैं दीक्षा लेने के लिए उत्सुक होने पर भी इस समय दीक्षा नहीं लेता हूँ।" इस प्रकार प्रभु कह रहे थे कि, विवाह के लिए राजा की आज्ञा से त्रिशलादेवी स्वयं वहाँ आईं। प्रभु

तत्काल खड़े हुए और गौरव से माता को ऊंचे रत्नसिंहासन पर बैठाकर इस प्रकार बोले, 'हे माता ! आप आईं तो ठीक हुआ। लेकिन आपको यहां आने का क्या कारण था ! मुझे बुलवाया होता तो आपकी आज्ञा से मैं शीघ्र ही आपके पास चला आता।' त्रिशलादेवी बोलीं, ''हे वत्स ! अनेक प्रकार के पुण्योदय के कारणभूत आप हमारे घर में आये हो, यह कुछ हमारा अल्प पुण्य नहीं है, आपको देखने में तीनों जगत को भी तृप्ति नहीं होती तो आपके दर्शनरुपी महाद्रव्य द्वारा धनिक ऐसे हमको कैसे तृप्ति होंगी ? हे पुत्र ! हम जानते हैं कि आप संसारवास से विरक्त हो, फिर भी हमारे पर अनुकंपा से गृहवास में रहे हो। हे विनय के स्थानरुप ! यद्यपि आपने अपनी मनोवृत्ति को बाधा पहुँचाकर यह दुष्कर कार्य किया है, फिर भी इतने से हम तृप्ति नहीं पाते, इसलिए आपको हम वधू सहित देखकर तृप्ति पा जाय - ऐसा करने के लिए ये सामने से आयी हुई **यशोदा** नाम की राजपुत्री के साथ विवाह करीये। आपके पिताजी भी आपका विवाहोत्सव देखने के लिए उत्कंठित हैं। हम दोनों के आग्रह से यह दुष्कर कार्य करें।'' माता के ऐसे वचन सुनकर प्रभु सोच में पड़े कि, 'आज यह मेरे समक्ष क्या आ पड़ा ! एक तरफ माता का आग्रह है, और दूसरी तरफ संसार परिभ्रमण का भय है। माता को दुःख होता है ऐसे संदेह से मैं गर्भ में भी अंग संकुचन करके रहा था, तो अब उनकी मनोवृत्ति को ठेस नहीं पहुँचे उस प्रकार मुझे गृहवास में भी रहना चाहिए। फिर मुझे भोग-फल-कर्म भी बाकी है और मातापिता भी मान्य हैं।' इस प्रकार सोचकर प्रभु ने माता के उस शासन को मान्य रखा।

फिर त्रिशलादेवी सिद्धार्थ राजा के पास आयीं और विवाह के संबंध में पुत्र ने दी हुई संमति हर्षपूर्वक बतायी। पवित्र दिन पर सिद्धार्थ राजा ने महावीर कुमार और यशोदा का विवाहोत्सव जन्मोत्सव समान किया। त्रिशला रानी और सिद्धार्थ राजा वधूवर को देखकर अपनी आत्मा को धन्य मानते हुए मानो **अमृतरस** का पान किया हो त्यों हर्ष पाने लगे। माता-पिता के नेत्र को चन्द्ररुप प्रभु यशोदादेवी के साथ विषयसुख को आसक्ति बिना भोगने लगे। कुछ समय बीतने पर प्रभु से यशोदादेवी को नाम और रुप में **प्रियदर्शना** नाम की एक पुत्री हुई। महा कुलवान और समृद्धिवान **जमालि** नाम का युवा राजपुत्र उस युवा प्रियदर्शना के साथ ब्याहा।

प्रभु के जन्म से अट्ठाईस साल बीतने पर उनके माता-पिता अनशन करके मृत्यु पाकर अच्यूत देवलोक में देव बने। सिद्धार्थ राजा और त्रिशला रानी के जीव अच्यूत देवलोक में से च्यूत होकर अपरविदेह क्षेत्र में मनुष्य भव पाकर अव्यय पद (मोक्ष) को प्राप्त होंगे। मातापिता के अग्निदाह करने के बाद कुछ दिन बीत जाने पर शोक में डुबे हुए अंतःपुर सहित नंदिवर्धन प्रति प्रभु बोले 'हे बंधु ! जीव को मृत्यु सदैव समीप ही रही है, और यह जीवन नाशवंत है, जिससे मृत्यु प्राप्त होने पर प्राणी को उसका शोक करना यह कोई उसका प्रतिकार नहीं है। इसलिए हे भाई ! इस समय तो धैर्य के सहारे धर्म का आचरण करना ही योग्य है। शोक करना तो कायर पुरुष के योग्य है।' इस प्रकार प्रभु ने बोध दिया, तो नंदिवर्द्धन स्वस्थ हुए। फिर पिता का राज्य अलंकृत करने के लिए उसने प्रभु को प्रार्थना की, परंतु संसार से उद्वेग पाए वीर ने जब पिता का राज्य नहीं

स्वीकारा, तब सचिवों ने मिलकर आग्रहपूर्वक नंदिवर्धन का राज्याभिषेक किया।

एक बार लम्बे समय से मनवांछित दीक्षा लेने के लिए आदरणीय महावीर ने अपने भाई नंदिवर्धन से आज्ञा मांगी, तो नंदिवर्धन शोक से गद्‌गद वाणी में बोले, 'हे भ्राता ! आज तक मुझे मातापिता के वियोग का विस्मरण नहीं हुआ है, इस समय सब स्वजन भी शोक से विमुक्त नहीं बने हैं, फिर भी आप मुझे वियोग देकर क्षत (घाव) पर क्षार डालने का काम क्यों करते हो ?' ज्येष्ठ बंधु के ऐसे आग्रह से प्रभु ने भावयति के अलंकारों से अलंकृत होकर, नित्य कायोत्सर्ग धरते हुए, ब्रह्मचर्य में तत्पर रहते हुए, स्नान तथा अंगराग से रहित, विशुद्ध ध्यान में तत्परतापूर्वक, एषणीय और प्रासुक अन्न से प्राणवृत्ति करते हुए बड़ी मुश्किल से गृहवास में एक साल बिताया। फिर लोकांतिक देवताओं ने आकर कहा कि, 'तीर्थ प्रवर्तन कीजिए।' तो प्रभु ने याचकों को इच्छा अनुसार वार्षिक दान दिया। फिर इन्द्रादिक देवों ने और नंदिवर्धन वगैरह राजाओं ने श्री वीरप्रभु का यथाविधि दीक्षाभिषेक किया। राहु द्वारा चंद्र की तरह भ्राता के विरहदुःख से आकुल बने नंदिवर्धन ने ज्यों त्यों अपने सेवकपुरुषों को आज्ञा दी कि, 'देवसभा की तरह सुवर्ण की वेदिका और सुवर्ण के स्तंभवाली, सूर्यसहित मेरुगिरि के तट की तरह सुवर्णमय सिंहासन मंडित, पालक विमान की ज्यों छोटी बहन हो त्यों घूंघरुदार माला के नादवाली, बड़ी उर्मिवाली गंगा नदी की भाँति उडती पताकाओंवाली, पचास धनुष लंबी, छत्तीस धनुष ऊंची और सो धनुष चौडी, वीर कुमार को बैठने लायक चन्द्रप्रभा नाम की एक शिबिका तैयार करो।' तत्काल उन्होंने ऐसी शिबिका तैयार की। 'ज्यों देवताओं को मन से कार्य सिद्ध होता है, त्यों राजाओं को वचन से कार्य सिद्ध हो जाता है।' इसके बाद शक्रेन्द्र ने भी ऐसी ही शिबिका करवायी। दोनों समान शोभावाली होने से मानो युग्म उत्पन्न हुई हों त्यों शोभा पाने लगी। फिर देवशक्ति से नदी में नदी की तरह दूसरी शिबिका पहली शिबिका में अंतर्हित हो गयी। फिर जगत्प्रभु ने प्रदक्षिणा देकर, शिबिका पर चढ़कर उसमें स्थित चरणपीठ युक्त सिंहासन को अलंकृत किया। मंगलिक श्वेत वस्त्रों से चंद्रिका सहित चंद्र की तरह और सर्व अंग पर धारण किए आभूषणों से प्रभु दूसरे कल्पवृक्ष की तरह शोभा पाने लगे। प्रभु पूर्वाभिमुख बैठे तो कुलमहत्तरा स्त्री पवित्र होकर, शुद्ध वस्त्र पहनकर, विचित्र रत्नालंकार धारण करके, शाखा से वृक्ष की तरह हाथ में रखे हुए वस्त्र से शोभा पाती हुई, प्रभु की दक्षिण ओर मन स्थिर करके बैठी। मोती के अलंकार व निर्मल वस्त्र पहनकर एक स्त्री प्रभु के मस्तक पर चांदनी ज्यों चंद्र को धरें त्यों छत्र धरकर खड़ी रही। दो स्त्रियां सर्व अंग पर सुवर्ण-आभूषण पहनकर मेरुपर्वत के तट में दो चंद्र की भाँति प्रभु के दोनों तरफ सुंदर चँवर धरकर खड़ी रही। एक बाला चांदी की झारी हाथ में लेकर वायव्य दिशा में खड़ी रही। एक स्त्री तालवृंत हाथ में रखकर अग्नि दिशा में खड़ी रही। शिबिका के पृष्ठ भाग में वैडुर्य रत्न के दण्डवाले और एक हजार आठ सुवर्ण की शलाकावाले पांडु छत्र को लेकर राजा खड़े रहे। शिबिका के दोनों ओर सौधर्म व इशान इन्द्र बंदनवार स्तंभ की तरह चँवर लेकर खड़े रहे। फिर सहस्र पुरुषों से उठायी जा सके ऐसी शिबिका पहले सेवकपुरुषों ने उठायी। फिर शक्र, इशान, बलि और चमर प्रमुख इन्द्रों तथा देवताओं ने उठायी। जिसमें दक्षिण

के उपर के भाग से शक्रेन्द्र ने उठायी, उत्तर के उपर के भाग से इशानपति ने उठायी और दक्षिण तथा उत्तर तरफ के अधोभाग से चमरेन्द्र तथा बलेन्द्र ने धारण की। और दूसरे भुवनपति वगैरह देवताओं ने अपनी अपनी योग्यता अनुसार वहन की। उस समय अत्यंत शीघ्रता से आते-जाते अनेक देवताओं से वह स्थान सायंकाल के पक्षियों से आकाश की तरह सँकरा हो गया। देवताओं द्वारा वहन की गई उस शिबिका द्वारा क्रमशः प्रभु ज्ञातखंड नाम के उत्तम उपवन समीप पधारे।

वह उपवन, प्रिय की भाँति हिमऋतु के आने से मानो रोमांचित हुई हो ऐसी चिरौंजी की लताओं से मनोहर लगता था और मानो वनलक्ष्मी ने दिये हुए कुसुंबी के लाल वस्त्र पहने हो त्यों पकी हुई नारंगी के वन से अंकित था। कृष्ण इक्षुदंड में परस्पर पात्ररुप में आश्लेष करते हुए भँवरों की आवाज से मानो यात्रियों को बुलाता हो ऐसा लगता था। उस उद्यान में प्रवेश करने के बाद प्रभु ने शिबिका में से उतरकर सर्व आभूषण त्याग दिये। उस समय इन्द्र ने प्रभु के स्कंध पर एक देवदुष्य वस्त्र डाला। फिर त्रिजगत्प्रभु ने पंचमुष्टि से सर्व केश का लोच किया। शक्रेन्द्र ने वह केश दूष्य वस्त्र में लेकर क्षीरसागर में बहा दिये। फिर उसने वापस आकर सर्व कोलाहल अटकाया तो प्रभु ने सिद्ध को नमस्कार करके चारित्र ग्रहण किया। जन्म से तीस वर्ष व्यतीत होने पर मागशीर्ष माह की कृष्ण दशवीं को चन्द्र हस्तोत्तरा नक्षत्र में आने पर जिन्होंने दिन के अंतिम प्रहर में छठ का तप किया है ऐसे प्रभु को चारित्र के साथ ही मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न हुआ।

इत्याचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि विरचिते त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरिते महाकाव्ये
दशमपर्वणि श्री महावीर जन्म प्रवृज्या वर्णनो नाम द्वितीयः सर्गः॥२॥

तीसरा सर्ग

श्री महावीर प्रभु का प्रथम के छः वर्षो का विहार

दीक्षा लेने के बाद तीन जगत के पति **महावीर** प्रभु ने वहाँ से अन्यत्र विहार करने के लिए अपने सहोदर बंधु **नंदिवर्धन** और अन्य ज्ञात वंश के पुरुषों की आज्ञा ली। प्रभु जब चारित्ररुपी रथ में आरुढ होकर विहार करने चले, तब उनके पिता का मित्र **सोम** नाम का एक वृद्ध ब्राह्मण वहाँ आकर प्रभु को नमन करके बोला, 'हे स्वामी ! आपने अपने और पराये की अपेक्षा बिना **वार्षिक** दान दिया, जिससे पूरा जगत दारिद्र्यविहीन हो गया, लेकिन मैं एक मंदभागी दरिद्र रह गया हूँ। हे नाथ ! मैं जन्म से ही महादरिद्री हूँ और अन्यों की प्रार्थना करने के लिए रातदिन गाँव-गाँव भटकता रहता हूँ। किसी जगह निर्भत्सना होती हैं, किसी जगह उत्तर भी नहीं मिलता और किसी जगह मुख टेढ़ा करते हैं, लेकिन यह सब मैं सहन करता हूँ। आपने दान दिया उस समय मैं धन की आशा से बाहर भटकता था, जिससे मुझे आपके वार्षिक दान की जानकारी नहीं मिली और आपका दान मुझे निष्फल हुआ। इसलिए हे प्रभु ! अब मुझ पर कृपा करके मुझे दान दीजिए। क्योंकि मेरी पत्नी ने तिरस्कार करके मुझे आपके पास भेजा हैं।' करुणा लाकर प्रभु बोले, 'हे विप्र ! अब तो मैं निःसंग हो गया हूँ। फिर भी मेरे कंधे पर जो यह वस्त्र है, उसका आधा भाग तूं ले जा।' वह विप्र आधा वस्त्र लेकर हर्ष पाते हुए अपने घर आया। फिर उसके सिरे औटाने के लिये रफू करनेवाले बुनकर को बताया। उस वस्त्र को देखकर बुनकर ने पूछा, 'यह वस्त्र तूझे कहां से मिला ?' ब्राह्मण ने कहा, 'श्री महावीर प्रभु से।' बुनकर बोला, ''हे विप्र ! तू वापस जा। और इसका दूसरा आधा भाग मुनि से ले आने के लिए उनके पीछे पीछे घूम। उन मुनि को घूमते घूमते किसी जगह कांटे वगैरह में भराकर वह आधा वस्त्र गिर जायेगा। फिर वे निःस्पृह मुनि उसे ग्रहण नहीं करेंगे, तब तू लेकर यहां चले आना। फिर उसके दो भागों को जोड़कर मैं वह वस्त्र शुक्ल पक्ष के चन्द्र की तरफ संपूर्ण कर दूंगा। उसका मूल्य एक लाख दीनार मिलेगा। वे हम सहोदर बंधु की तरह आधा-आधा बाँट लेंगे।'' 'बहुत अच्छा' यूं कहकर ब्राह्मण वापस मुनि के पास आया।

इर्यासमिति खोजते हुए चलते चलते प्रभु कुर्मार गाँव आ पहुँचे। वहां नासिका के अग्र भाग पर नेत्र रखकर दो भुजा (हाथ) लम्बी करके प्रभु स्थाणु (स्थिर) की तरह प्रतिमा धरकर रहे। उस समय कोई ग्वाला पूरा दिन वृषभ को हाँककर गाँव के सीवान के समीप जहां प्रभु कायोत्सर्ग करके खड़े थे वहाँ आया। उसने सोचा कि 'मेरे ये वृषभ यहां गाँव के सीवान पर भले चरे, मैं गाँव में जाकर, गायों को दुहकर वापस आऊंगा।' ऐसा चिंतन करके वह गाँव में गया। फिर वृषभ चरते चरते किसी अटवी में घुस गये, क्योंकि गोप बिना वे एक स्थान पर नहीं रह सकते। फिर वह ग्वाला गाँव में से वापस आया और प्रभु को पूछा कि 'मेरे वृषभ कहाँ हैं ?' प्रतिमाधारी प्रभु कुछ भी न बोले। प्रभु जब बोले नहीं, तब ग्वाले ने सोचा कि, 'ये कुछ जानते नहीं है।' फिर वह अपने वृषभों को खोजने गया। खोजते खोजते पूरी रात्रि बीत गयी। वे बैल घूमते घूमते वापस प्रभु थे

वहाँ आये और स्वस्थ चित्त से जुगाली करते हुए प्रभु के समीप बैठे। वह ग्वाला घूम घूमकर वापस वहाँ आया, तो बैलों को वहां बैठा हुआ देखकर उसने सोचा कि 'इस मुनि ने प्रभात में मेरे वृषभों को ले जाने की इच्छा से उस समय छिपाये रखे होंगे।' ऐसा विचार करके वह अधम ग्वाला तेजी से बैल की रस्सी उठाकर प्रभु को मारने दौडा। उस समय शक्रेन्द्र को विचार आया कि 'प्रभु पहले दिन क्या करते हैं वह देखूं।' ऐसा सोचकर ज्ञान से देखने लगा, तो वह ग्वाला प्रभु को मार मारने के लिए उद्यत हुआ देखा। उसे स्थंभित करके शक्रेन्द्र ने प्रभु के पास आकर तिरस्कारपूर्वक उस ग्वाले को कहा, 'अरे पापी ! सिद्धार्थ राजा के इस पुत्र को क्या तूं नहीं जानता ?' फिर इन्द्र ने तीन प्रदक्षिणापूर्वक मस्तक से प्रणाम करके प्रभु को कहा कि, 'हे स्वामी ! बारह वर्ष तक आपको उपसर्ग की परंपरा होगी। इसलिए उसका निषेध करने के लिए मैं आपका पारिपार्श्वक[1] होना चाहता हूँ।' प्रभु समाधि छोड़कर इन्द्र प्रति बोले, ''अर्हंत कदापि परसहाय की अपेक्षा नहीं रखते और अर्हंत प्रभु अन्य की सहाय से केवलज्ञान उपार्जित करें ऐसा नहीं हुआ, होता नहीं है और होगा भी नहीं। जिनेन्द्र केवल अपने ही वीर्य से केवलज्ञान पाते हैं और अपने ही वीर्य से मोक्ष में जाते हैं।'' प्रभु के ऐसे वचन सुनकर इन्द्र ने बालतपस्या से व्यंतर देव में उत्पन्न हुए प्रभु की मौसी के पुत्र सिद्धार्थ को आज्ञा दी, 'तुझे प्रभु के समीप रहना है और प्रभु को मारने का उपसर्ग जो करे उसे तुझे अटकाना है।' इस प्रकार कहकर इन्द्र स्वस्थान पर गये और सिद्धार्थ उनकी आज्ञा स्वीकार कर के प्रभु के पास रहा।

वीर प्रभु छट्ठ का पारणा करने के लिये **कोलाक** गाँव में गये। वहाँ **बहुल** नाम के ब्राह्मण के घर प्रभु ने मिसरी वगैरह से मिश्रित परमान्न द्वारा पारणा किया। उस ब्राह्मण के घर देवताओं ने वसुधारा[2] वगैरह पाँच दिव्य प्रकट किये। फिर चन्द्र समान शीतल लेश्यावाले सूर्य समान तप के तेज से कष्टपूर्वक देख सके ऐसे, गजेन्द्र जैसे बलवान, मेरु समान निश्चल, पृथ्वी समान सर्व स्पर्श को सहन करनेवाले, समुद्र समान गंभीर, शेर समान निर्भय, घृतादि होमे हुए अग्नि की तरह मिथ्यादृष्टियों को अदृश्य, गैंडे के सिंग की तरह एकाकी, बड़े साँढ की तरह महाबलवान, कूर्म की तरह इन्द्रियों को गुप्त रखनेवाले, सर्प की तरह एकांत दृष्टि स्थापित करनेवाले, शंख की तरह निरंजन, सुवर्ण की तरह निर्लेप, पक्षी की तरह मुक्त, जीव की तरह अस्खलित गतिवाले, भारंड पक्षी की तरह प्रमाद रहित, आकाश की तरह निराश्रय, कमलदल समान लेपरहित तथा शत्रु और मित्र, घास और स्त्री, सुवर्ण और पाषाण, मणि और मिट्टी, आलोक और परलोक, सुख और दुःख तथा संसार और मोक्ष में समान हृदयवाले, निष्कारण करुणा करनेवाले मन के कारण भवसागर में डूबते हुए मुग्ध जगत का उद्धार करने की इच्छावाले - ऐसे प्रभु सागर मेखलावाली और विविध गाँव, पूर तथा अरण्यवाली इस पृथ्वी पर पवन की भाँति अप्रतिबंधतापूर्वक विहार करने लगे।

दीक्षा के समय देवताओं ने प्रभु के शरीर पर जो सुंगधित द्रव्यों का विलेपन किया था, उसकी

१. साथ रहनेवाले सेवक। २. साडे बारह कोटि द्रव्य की बरसात।

सुगंध से आकर्षित होकर भँवरे प्रभु को उपद्रव करने लगे। गाँव के तरुण पुरुष प्रभु से सुगंध के पदार्थ माँगने लगे और तरुण स्त्रियाँ कामज्वर के औषध के रुप में उनके अंग का संग याचने लगीं। इस प्रकार दीक्षा के दिन से लेकर चार महिने तक प्रभु ने पर्वत की तरह स्थिर रहकर संबंधित उपसर्ग सहन किये।

एक बार प्रभु विहार करते करते **मोराक** नाम के गाँव समीप आये। वहाँ दुइज्जंतक जाति के तापस रहते थे। उन तापसों का कुलपति प्रभु के पिता का मित्र था। वह प्रभु के पास आया। पूर्व के अभ्यास से प्रभु ने उससे मिलने के लिये उसके सामने हाथ फैलाया। कुलपति ने वहाँ रहने की प्रार्थना की तो सिद्धार्थ राजा के पुत्र महावीर एक रात्रि की प्रतिमा धरकर वह रात्रि वहाँ रहे। प्रातःकाल में विहार करना चाहते प्रभु को कुलपति ने कहा, 'इस एकांत स्थान में आप वर्षाकाल व्यतीत करना।' यद्यपि प्रभु वीतराग थे लेकिन उसके आग्रह से उसका वचन स्वीकार के शंख की तरह निरंजनपूर्वक वहाँ से अन्यत्र विहार करने चले। वायु की तरह प्रतिबंध रहित वह कमलपत्र समान निर्लेप प्रभु ने सर्वत्र विहार करते हुए ग्रीष्मकाल व्यतीत किया। फिर अपने पिता के मित्र उस कुलपति को दिया हुआ वचन याद करके चातुर्मास करने के लिये वापस मोराक गाँव पधारे। वर्षाऋतु में मेघ गर्जना करके धारागृह की तरह अखंड धारा से बरसने लगा और हंस की तरह यात्री अपने अपने स्थान पर लौटने लगे। उस समय पूर्वोक्त कुलपति ने प्रभु के साथ भतीजेपन का स्नेहसंबंध हृदय में सोचकर तृण से आच्छादित किया हुआ एक घर प्रभु को रहने के लिए अर्पण किया। उसमें बरोहवाले वटवृक्ष की तरह जानु तक लंबी भुजावाले प्रभु मन को नियंत्रित करके प्रतिमाधारी बनकर रहे। उस समय भयंकर ग्रीष्म ऋतु के माहात्म्य से जिसका सब घास सूख गया हैं ऐसे वन में नवीन वर्षाऋतु से उस समय नये तृण (घास) उगे नहीं थे इसलिये गाँव की गायें तापसों की झौपडियों के तृण को खाने के लिये दौडने लगी, तो निर्दयी तापस लकडियों से गायों को मारने लगे। उन्होंने जब गायों को मारकर हाँक दिया, तब वे गायें जिसमें प्रभु रहते थे उस झौंपडी को खाने लगी। "प्रभु स्तंभ समान स्थिर रहे थे इसलिए वहाँ उनको किसका भय लगता !" यह देखकर तापस प्रभु पर क्रोध करते हुए परस्पर कहने लगे कि, 'ज्यों हम हमारी झौंपडियों का रक्षण करते हैं, त्यों यह मुनि तो उसकी झौंपडी का रक्षण नहीं करता। अहो ! यह तो कैसा इस कुलपति का अतिथि हैं ? यह कौन है कि जिसके देखते हुए ये गायें उसकी झौंपड़ी को खा जाती है ? अहो ! कैसी अस्वार्थनिष्ठता है ? क्या करें ! यह अतिथि कुलपति को आत्मा समान प्रिय है, जिसके भय से हम कुछ भी कठोर वचन नहीं कह सकते।' ऐसा सोचकर एक बार वे तापस प्रभु पर मन में बड़ा मत्सर लाकर कुलपति के पास गये और उपालंभ देकर इस प्रकार बोले, "हे कुलपति ! आप हमारे आश्रम में ऐसे तो कौन ममतारहित मुनि को अतिथि रुप में ले आये हो कि जिसके अंदर रहने पर भी हमारी उस कुटिया का नाश हो गया। वह अतिथि ऐसा तो अकृतज्ञ, उदासीन, दाक्षिण्यता रहित और आलसी है कि, जो गायों द्वारा खाये जाते अपने आश्रम का रक्षण भी नहीं करता। हे मुनि ! शायद अपनी आत्मा को मुनि माननेवाला यह अतिथि समता धारण करके

गायों को नहीं हाँकता होगा तो क्या गुरुदेव का अर्चन करनेवाले हम मुनि नहीं हैं ?'' तापसों के ऐसे वचन सुनकर कुलपति गुरु के पास आये, उन्होंने देखा तो पंख आये पक्षी की तरह वह आश्रम आच्छादन रहित दिखाई दिया। तो ये तापस इर्ष्याविहिन और सत्यवक्ता हैं ऐसा सोचकर उसने प्रभु को कहा, 'हे तात ! आपने इस कुटिया की रक्षा क्यों न की ? आपके पिता ने यावज्जीव सब आश्रमों की रक्षा की है, दुष्टों को शिक्षा करनी वह आपका योग्य व्रत है। फिर पक्षी भी अपने घोंसले का आत्मा की तरह रक्षण करते हैं तो आपने विवेकी होकर भी आश्रम की उपेक्षा क्यों की ?' इस प्रकार अपने विवेक के योग्य ऐसी शिक्षा देकर वे वृद्ध तापस सिद्धार्थ की मित्रता को याद करते हुए पुनः अपने आश्रम में गया। प्रभु ने सोचा कि, 'मेरे कारण इन सबको अप्रीति होगी, जिससे सबका भला चाहनेवाले ऐसे मुझको यहाँ रहना योग्य नहीं है।' इस प्रकार चिंतन करते हुए और अधिक वैराग्य धारण करते हुए दयानिधि प्रभु ने उस समय इस प्रकार पाँच अभिग्रह धारण किये - १. जहाँ अप्रीति हो उसके घर कदापि रहना नहीं, २. जहाँ रहना वहाँ सदैव कायोत्सर्ग करके ही रहना, ३. प्रायः मौन धारण करके ही रहना, ४. करपात्र से भोजन करना और ५. ग्रहस्थ का विनय नहीं करना। इस प्रकार पाँच अभिग्रह लेकर वर्षाऋतु का आधा मास व्यतीत हो गया था फिर भी प्रभु वहाँ से विहार करके **अस्थिक** नाम के गाँव में आये।

प्रभु ने वहाँ रहने के लिये गाँव के लोगों को कहा, तो गाँववासी लोग बोले कि, ''यहाँ एक यक्ष है, वह किसिको रहने देता नहीं है, उस यक्ष की बड़ी कथा है, यह सुनिये : यहां पहले **वर्धमान** नाम का शहर था। यहां दोनों तट पर कीचडवाली वेगवती नाम की नदी है। एक समय **धनदेव** नाम का कोई वणिक किराने के पांचसौं गाड़े भरकर यहाँ आया था। उसके पास एक बड़ा वृषभ था। उस बड़े वृषभ को आगे करके उसने सब गाड़े उस विषम नदी से पार करा दिये। अत्याधिक बोझ खींचने से वह वृषभ मुख में से रुधिर वमन करते हुए जीर्ण बने सात्विक अश्व की तरह पृथ्वी पर गिर पडा। फिर उस वणिक ने गाँव के सब लोगों को इकट्ठे करके उस वृषभ की साक्षी में कहा कि 'मैं मेरे प्राण जैसे इस वृषभ को यहां अमानत की तरह छोड़ जाता हूँ। उसका आप अच्छी तरह पालन-पोषण करना।' यूं कहकर उस वृषभ के घासचारे के लिये उन ग्राम्यलोगों को बहुत धन दिया। ''स्वामी का यहीं धर्म है।'' इस प्रकार वह वणिक घासचारे के लिये द्रव्य देकर तथा उसके समीप बहुत घास-पानी रखवाकर उस वृषभ का प्रिय करके नेत्र में अश्रु लाकर अन्यत्र चला गया। उन पापी ग्राम्यलोगों ने घासचारे के लिये धन लिया, लेकिन कुवैद्य ज्यों द्रव्य लेने पर भी रोगी का जतन न करें त्यों उन्होंने उस वृषभ के घासचारे वगैरह की संभाल ही न ली। जिसका हृदय टूट चूका है और भूख-प्यास से पीड़ित बने उस वृषभ के अंग में सिर्फ अस्थि और चर्म रहे। उसने सोचा कि 'अहो ! यह गाँव ही पूरा निर्दय, पापीष्ट, निष्ठूर आशयवाला, बराबर चांडाल जैसा और बहुत छलवाला है। उनको करुणा लाकर मेरे जैसे दीन का पालन करना तो दूर रहा, लेकिन मेरे स्वामी ने मेरे घास-चारे के लिये जो धन दिया था वह भी गाँव के ये लोग खा गये।' इस प्रकार गाँव में रहनेवालों पर क्रोधित बना वृषभ अकाम निर्जरा करके मृत्यु पाकर **शूलपाणि** नाम का व्यंतर

बना है। उसने विभंग ज्ञान से अपनी पूर्वजन्म की कथा जानी और अपना वृषभरुप शरीर देखा, जिससे उसको गाँव के लोगों पर बड़ा क्रोध चढ़ा। जिससे मानो महामारी का अधिकारी देव हो त्यों उसने इस गाँव में महामारी का रोग फैलाया। जिससे मृत्यु पाते ग्रामलोगों द्वारा यहाँ अस्थि का ढेर हो गया। गाँव के आतुर लोग बार बार ज्योतिषी वगैरह को महामारी की शांति के उपाय पूछने लगे और वैद्य की आज्ञा ज्यों रोगी उठाये त्यों उनकी आज्ञा उठाकर महामारी की शांति के लिये अनेक उपाय करने लगे। उन्होंने बार बार गृहदेवियों की भी स्नात्र-पूजा की, फिर भी महामारी थोड़ी सी शांत नहीं हुई तो इस गाँव के लोग यह गाँव छोड़कर दूसरे गाँव में चले गये, लेकिन यमराज के युवराज जैसा वह क्रोधी व्यंतर उनको वहाँ भी मारने लगा। फिर सब गाँववालों ने सोचा कि, 'हमनें कोई देव, दैत्य, यक्ष या क्षेत्रपाल को कोपित किया है, इसलिये हम वापस उसी गाँव में जाकर उसे प्रसन्न करने के उपाय करें।' इस प्रकार सोचकर वे एकत्रित होकर वापस यहाँ आये। इसके बाद वे स्नान करके, श्वेत वस्त्र पहनकर, उत्तरासंग धरकर, केश खुले छोड़कर, चौक त्रिक वगैरह में, उद्यान की भूमि में तथा भूतगृहों में व अन्य सब स्थान पर बलि उडाते हुए दीन वदन से मुख ऊंचे रखकर अंजलि जोड़कर इस प्रकार कहने लगे कि, ''हे देवताओं, असुरों, यक्षों, राक्षसों, और किन्नरों ! हमने प्रमाद से आपका जो कुछ अपराध किया हो वो सर्वथा क्षमा करें। महान पुरुषों का कोप कदापि बड़ा हो तो भी वह प्रणाम तक ही रहता है, इसलिये हम से जो कुछ विराधित (अशातना) हुआ हो तो प्रसन्न हो जाय।'' इस प्रकार गाँव लोगों की ऐसी दीनवाणी सुनकर वह व्यंतर आकाश में रहकर बोला, 'अरे ! लुब्धक की तरह दुराशयी लोगों ! अब आप मुझ से क्षमा माँगने आये हो, लेकिन उस समय वह क्षुधा-तृषा से पीडित ऐसे वृषभ के लिये वणिक ने घासचारे के लिये जो धन दिया था, उससे भी आपने उसे घास या पानी कुछ भी नहीं दिया था। वह वृषभ मृत्यु पाकर मैं यह शूलपाणि नाम का यक्ष बना हूँ। मैं उस बैर से ही तुमको मार डालनेवाला हूँ। इसलिये वह बात याद करो।' ऐसे वचन सुनकर वे पुनः धूप आदि करके पृथ्वी पर लोटकर दीन होकर इस प्रकार कहने लगे, 'हे देव ! हमने आपका अपराध किया है, फिरभी आप क्षमा कीजिए। अन्य किसिकी शरण बिना के हम आपकी शरण में आये हैं।' उनके ऐसे वचन सुनकर वह व्यंतर जरा शांत होकर बोला, 'आज मनुष्य के अस्थि पड़े हैं; उसे एकत्रित करो और उसके उपर मेरा एक ऊंचा देवालय बनवाओ। उसमें वृषभ रुप में मेरी मूर्ति स्थापित करो। इस प्रकार करने से मैं तुमको जीवन दूंगा, अन्यथा नहीं दूंगा।' फिर सब गाँववासियों ने इकट्ठे होकर उस यक्ष के वचन अनुसार सब कुछ किया। इन्द्रशर्मा नाम के एक ब्राह्मण को अधिक तनखा देकर उस शूलपाणि का पूजारी नियुक्त किया। यहाँ अस्थि का संचय है जिससे इस गाँव का नाम यद्यपि वर्धमान[1] हैं, फिर भी तब से लोक में अस्थिक ऐसे नाम से प्रसिद्ध हुआ। यदि कोई कार्पटिक विश्रांत होकर इस स्थान में रात्रिनिवास करता है, उसे वह शूलपाणि यमराज की तरह मार डालता हैं।

१. यह वर्धमान गाँव इस समय सौराष्ट्र में स्थित वढवाण को कहते हैं। वहाँ शूलपाणि यक्ष का देहरा और उसकी प्रतिमा भी हैं।

यहां के लोग और उसका पूजारी इन्द्रशर्मा भी दिनको यहां रहकर सायंकाल में अपने अपने घर चले जाते हैं, जिससे आपको भी यहां रहना योग्य नहीं हैं।'' इस प्रकार कहकर उस गाँव के लोगों ने वीर प्रभु को रहने के लिये दूसरा स्थान बताया। लेकिन प्रभु ने वह न स्वीकारते हुए यक्ष के स्थान की ही माँग की। तो गाँव के लोगों ने संमति दी। बोध करने योग्य ऐसे उस व्यंतर को जानते प्रभु उस यक्ष के स्थान में एक कौने पर प्रतिमा धरकर खड़े रहे। इन्द्रशर्मा पूजारी ने सायंकाल में धूप करके अन्य यात्रियों को वहाँ से निकाल कर भगवंत को भी कहा, 'हे देव ! आप भी इस स्थान में से बाहर निकलो, क्योंकि यह व्यंतर क्रूर होने से रात को आपको मृत्यु दिलायेगा।' फिर भी प्रभु मौन धरकर वहीं स्थित रहे। उस व्यंतर ने सोचा, 'अहो ! यह कोई मरने की इच्छा से ही मेरे स्थान में आया लगता है, क्योंकि गाँववासियों ने और मेरे पूजारी ने बार बार मना किया तो भी यह गर्विष्ठ मुनि यहीं रात्रिनिवास करके रहा है, तो अब मैं उसके गर्व को हर लूं।' फिर समय हुआ जानकर पूजारी चला गया और सूर्य अस्त पाया। तो जहाँ प्रभु कायोत्सर्ग करके रहे थे, वहाँ उस व्यंतर ने अट्टहास्य किया। चारोंओर फैलते अति रौद्र अट्टहास्य के शब्दों से मानो आकाश फूट गया हो और नक्षत्रमंडल टूट गया हो त्यों दिखा। वह सुनकर गाँव के लोग परस्पर कहने लगे कि, 'अवश्य उस मुनि को इस समय वह व्यंतर मार डालेगा।' उस समय पार्श्वनाथ के साधुओं में घूमनेवाला **उत्पल** नाम का अष्टांग निमित्त के ज्ञान में पंडित ऐसा एक परिव्राजक वहाँ आया था। उसने लोगों से उस देवार्य महावीर का वृत्तांत सुना, जिससे 'शायद ये आखिरी तीर्थंकर होंगे !' ऐसा सोचते हुए उसके हृदय में धीरज नहीं रहा, अर्थात् उसे बड़ी चिंता होने लगी। यहां उस यक्ष ने महाभयंकर अट्टहास्य किया, जिससे प्रभु को किंचित भी क्षोभ नहीं हुआ, तो उस व्यंतर ने महाघोर हाथी का रुप धरा। प्रभु ने उस हाथी के रुप को भी गिना नही, तो भूमि और आकाश के मानदंड जैसे पिशाच का रुप धरा। उससे भी प्रभु ने क्षोभ नहीं पाया। फिर उस दुष्ट ने यमराज के पाश जैसे भयंकर सर्प का रुप धरा, अमोघ विष के स्रोत्र जैसे उस सर्प ने प्रभु के शरीर को दृढतापूर्वक लपेट लिया और उग्र दाढ़ों से डसने लगा। जब सर्प भी निष्फल हुआ तब यक्ष ने प्रभु के सिर, नेत्र, मूत्राशय, नासिका, दाँत, पृष्ठ और नाखून यों सात स्थान पर असह्य वेदना प्रकट की। जिसमें की एक वेदना भी सामान्य मनुष्य को मृत्यु प्राप्त कराये ऐसी सात वेदनाएं एक साथ उत्पन्न की, फिर भी प्रभु ने वे सहन की। इस प्रकार उपसर्ग करके जब वह व्यंतर थक गया, तब विस्मित होकर प्रभु को नमन करके अंजलि जोड़कर कहने लगा, 'हे दयानिधि ! आपकी शक्ति को नहीं जानते ऐसे मैं-दुरात्मा ने, आपके अत्यंत अपराध किये हैं वे क्षमा कीजिए।' उस समय वह सिद्धार्थ देव कि जिसका मन इतने समय तक अपने कार्य में व्यग्र था, उसने प्रभु के पास रहने की इन्द्र की आज्ञा याद की। तत्काल वहाँ आकर बड़े आक्रोश से बोला, 'अरे देवाधम शूलपाणि ! नहीं प्रार्थना करने योग्य जो मृत्यु उसकी प्रार्थना करनेवाले की तरह तूने यह क्या किया ! हे दुर्मति ! ये सिद्धार्थ राजा के पुत्र तीर्थंकर भगवंत वीरप्रभु हैं, कि जो तीन लोकों में भी पूजने योग्य हैं, क्या यह तूं नहीं जानता ? तेरा यह चरित्र प्रभु का भक्त शक्रेन्द्र जानेगा, तो तू उसके वज्र की धारा

का भोग बनेगा।' सिद्धार्थ के ऐसे वचन सुनकर शूलपाणि भय और पश्चात्ताप से आकुल-व्याकुल बन गया। जिससे उसने दुबारा प्रभु से क्षमा माँगी, क्योंकि उस समय दूसरा कोई उपाय न था। उसे प्रशांत बना जानकर दयालु सिद्धार्थ ने कहा, "अरे ! तू अब भी तत्त्व को नहीं जानता, इसलिए जो यथार्थ तत्त्व हैं वह सुन - वीतराग में देवबुद्धि, साधुओं में गुरुबुद्धि, और जिनेश्वर भगवंत ने कहे धर्म में धर्म बुद्धि - इस प्रकार आत्मा के साथ निर्णय कर। अबसे अपनी आत्मा की तरह किसी भी प्राणी को पीड़ा मत करना। पहले किये हुए सब दुष्कृत्य की निंदा कर। प्राणी एक बार भी किये हुए तीव्र कर्म का फल करोडों करोडों गुना पाता है।" इस प्रकार तत्त्व सुनकर शूलपाणि यक्ष पहले किये हुए अनेक प्राणियों के घात को याद करके बार बार अपनी आत्मा की निंदा करने लगा और बड़ा पश्चात्ताप करने लगा। फिर सम्यक्त्व को धारण करके संसार से उद्वेग पाये उस यक्ष ने प्रभु के चरण की पूजा की और अपने अपराधरुपी मल को धोने के लिये जल जैसा संगीत प्रभु के समक्ष करने लगा। उस संगीत के शब्द सुनकर गाँव के लोग सोचने लगे कि 'उन मुनि को मारकर अब यक्ष क्रीडा करता होगा।'

प्रभु को चार प्रहर में कुछ कम समय तक शूलपाणि ने कदर्थित किया था, जिससे श्रम पहुँचने के कारण प्रभु को थोड़ी सी निंद आयी। उसमें उन्होंने इस प्रकार दस स्वप्न देखे - प्रथम स्वप्न वृद्धि पाते ताल पिशाच को स्वयं ने मारा ऐसा देखा। दूसरे स्वप्न में श्वेत कोकिल और तीसरे स्वप्न में विचित्र कोकिल अपनी सेवा करते देखे गये। चोथे स्वप्न में दो सुगंधित माला देखी। पाँचवें स्वप्न में अपनी सेवा करने में तत्पर बना गोवर्ग देखा। छट्ठे स्वप्न में कमलों से भरपूर कमल सरोवर देखा। सातवें स्वप्न में अपनी दो भुजाओं से सागर तैर गये। आठवें स्वप्न में किरणों को प्रसारता हुआ सूर्यबिंब देखा। नौंवें स्वप्न में अपनी आंतों से लिपटा मानुषोत्तर गिरि (पर्वत) देखा और दसवें स्वप्न में स्वयं को मेरुगिरि के शिख़र पर आरूढ हुआ देखा। इस प्रकार दस स्वप्न देखकर प्रभु जाग्रत हुए। इतने में मानो उनको वंदन करना चाहता हो त्यों सूर्य भी प्रकाशित हुआ। उस समय गाँव के सब लोग, इन्द्रशर्मा पूजारी और उत्पल निमित्तियां वहाँ आये। प्रभु को अक्षत अंगवाले और पूजे हुए देखकर सब हर्ष पाए। इसके बाद आश्चर्य से पुष्पादिक द्वारा प्रभु को पूजकर रण में जीते हुए वीरों की तरह उन्होंने बड़ा सिंहनाद किया। फिर वे परस्पर कहने लगे कि 'हमारे भाग्य योग से ही इन देवार्य प्रभु को दुष्ट व्यंतर के उपद्रव में से कुशल रहा देखा है।'

उत्पल निमित्तिए ने प्रभु को पहचानकर वंदना करके और लघु शिष्य की तरह वह प्रभु के चरणकमल (पैर) समीप बैठा। भगवंत के कायोत्सर्ग छोड़ने के बाद उत्पल ने प्रभु को फिर से नमस्कार किया और अपने ज्ञान के सामर्थ्य से प्रभु को आये हुए दस स्वप्न जानकर वह बोला, 'हे स्वामी ! आपने रात्रि के अंत में जो दश स्वप्न देखें हैं, उनका फल आप स्वयं ही जानते हो फिर भी मैं भक्तिवश होकर कहता हूँ - हे नाथ ! पहले स्वप्न में आपने जो तालपिशाच को मारा, जिससे आप मोह का नाश कर दोगे। दूसरे स्वप्न में जो श्वेत कोकिल देखा, उससे आप शुक्ल ध्यान पर आरूढ होंगे। तीसरे स्वप्न में जो विचित्र कोकिल देखा, जिससे आप द्वादशांगी की वृद्धि करोगे।

पाँचवें स्वप्न में जो गोवर्ग देखा, जिससे आपका चतुर्विध संघ होगा। छट्ठे स्वप्न में जो पद्म सरोवर देखा, जिससे देवों का समूह आपको सेवकरुप होगा। सातवें स्वप्न में जो समुद्र तैर गये, इसका मतलब है आप भवसागर पार कर जाओंगे। आठवें स्वप्न में जो सूर्य देखा, उसका अर्थ आपको केवलज्ञान उत्पन्न होगा। नौवें स्वप्न में आंतों से लिपटा मानुषोत्तर पर्वत देखा, उसका मतलब आपका प्रतापयुक्त यश विस्तृत होगा और दशवें स्वप्न में आप जो मेरुगिरि के शिखर पर चढ़े जिससे आप सिंहासन पर बैठकर धर्म का उपदेश करेंगे। इस प्रकार नौं स्वप्नों का फल मैं जानता हूँ, लेकिन चोथे स्वप्न में आपने जो दो मालाएं देखी उनका फल मैं नहीं जानता।' उस समय भगवंत बोले, 'इन दो मालाओं का फल ऐसा है कि मैं गृहस्थ का और यति का यूं दो प्रकार का धर्म कहूंगा।' फिर उत्पल प्रभु को नमन करके अपने स्थानक पर गया और दूसरे दिन मन में चकित होकर लोग अपने अपने स्थानक पर गये।

वहां आठ अर्ध मासक्षपण द्वारा चातुर्मास व्यतीत करके प्रभु ने उस अस्थिक गाँव से अन्यत्र विहार किया। उस समय शूलपाणि यक्ष प्रभु के पीछे आकर नमस्कार करके कहने लगा, 'हे नाथ ! आप अपने सुख की अपेक्षा किए बिना सिर्फ मेरे उपर अनुकंपा करने के लिये ही यहाँ आये थे। लेकिन मेरे जैसा कोई पापी नहीं है, कि जिसने आपके लिये ऐसा अपकार किया और आपके जैसा कोई स्वामी नहीं कि ऐसा होने पर भी मेरे लिये विशेष उपकारी बने। हे विश्वउपकारी ! यदि आपने यहां आकर मुझे बोध न किया होता तो आज मैंने अवश्य नरकभूमि पायी होती।' इस प्रकार कहकर वह यक्ष भक्तिपूर्वक भगवंत को प्रणाम करके मदरहित हस्ती की तरह शांत होकर वापस लौटा।

दीक्षा के दिन से एक वर्ष बीतने के बाद वापस उस मोराक गाँव में आकर प्रभु बाहर के उद्यान में प्रतिमा धरकर रहे। उस समय उस गाँव में **अच्छंदक** नाम का एक पाखंडी रहता था। वह मंत्र-तंत्र वगैरह से अपनी आजीविका चलाता था। उसके माहात्म्य को सिद्धार्थ व्यंतर सहन नहीं कर सका, जिससे और वीर प्रभु की पूजा के अभिलाषा उस सिद्धार्थ ने प्रभु के शरीर में प्रवेश किया। फिर कोई ग्वाला जा रहा था उसे बुलाकर कहा कि 'तूने सौवीर[1] सहित कंगकूर[2] का भोजन किया है और तू बैलों का रक्षण करने जाता है। यहाँ आते हुए तूने एक सर्प देखा था और आज तू स्वप्न में भरपूर रोया था। अरे गोप ! सचमुच कह, मेरा यह सब कहना बराबर है ?' ग्वाले ने कहा, 'सब सत्य हैं।' फिर सिद्धार्थ ने उसे विशेष भरोसा दिलाने के लिये अन्य भी बहुत कुछ कहा। वह सुनकर ग्वाला चकित हो गया। उसने गाँव में जाकर कहा, 'अहो ! हमारे गाँव के बाहर वन में एक त्रिकालज्ञानी देवार्य आये हैं, उन्होंने मुझे प्रतीति (विश्वास) हो ऐसा सब सच कहा हैं।' यह सुनकर गाँव के सब लोग कुतूहलता से पुष्प, अक्षत वगैरह पूजा का सामान लेकर प्रभु के पास आये। सिद्धार्थ प्रभु के शरीर में प्रवेश करके बोला, 'आप सब क्या मेरा अतिशय देखने आये

१. एक प्रकार की काँजी। २. कांगनी जाति का अनाज।

हो ?' गाँववासी लोगों ने उत्तर दिया, 'हाँ'। तो सिद्धार्थ ने उन्होंने पहले जो जो देखा, किया, सुना और कहा था वह सब बराबर कह दिया। सिद्धार्थ ने कुछ भविष्य भी कहा, जिसे सुनकर लोगों ने बड़ी महिमा से प्रभु की पूजा और वंदना की। इस प्रकार लोग प्रतिदिन अधिकाधिक आकर चरणों में गिरने लगे, जिससे सिद्धार्थ के मन में बड़ी प्रीति उत्पन्न हो गयी।

एक बार गाँव के लोगों ने वहां आकर कहा, 'स्वामी ! हमारे गाँव में एक **अच्छंदक** नाम का ज्योतिषी रहता है। वह भी आपकी तरह सब जानता है।' सिद्धार्थ बोला, 'वह पाखंडी कुछ भी नहीं जानता। वह तो आपके जैसे भोले मनुष्यों को छलकर अपनी उदरपूर्ति करता है।' उन लोगों ने आकर अच्छंदक को कहा, 'अरे ! तू तो कुछ भी नहीं जानता। सर्व भूत, भविष्य और वर्तमान तो नगर के बाहर रहे देवार्य जानते हैं।' वह सुनकर अपनी प्रतिष्ठा का नाश होने के भय से अच्छंदक बोला, 'अरे लोगों ! सचमुच परमार्थ को नहीं जाननेवाले ऐसे आपके समक्ष वे जानकार में गिने जाते हैं। लेकिन वे यदि मेरे समक्ष आये तो मैं जानूं कि वे सच्चे ज्ञाता हैं। चलो, आज तुम्हारी नज़रों के सामने ही उसका अज्ञान खुल्ला कर दूंगा।' इस प्रकार कहकर वह अच्छंदक क्रोध करते हुए गाँव के कुतूहली लोगों के साथ प्रभु जहां कायोत्सर्ग करके रहे थे वहां तत्काल आया। फिर दो हाथ की उंगली में घास का एक तिनका दोनों तरफ से पकड़कर प्रभु प्रति बोला, 'कहिए यह तिनका मुझसे छेदा जायेगा या नहीं ?' उसके मन में ऐसा था कि 'ये देवार्य जो कहेंगे उससे मैं विपरीत करूंगा। तो उसकी वाणी अनृत (असत्य) हो जायेगी।' सिद्धार्थ ने प्रभु के शरीर में प्रवेश करके कहा, 'यह तिनका नहीं छेदा जायेगा।' तो अच्छंदक उंगली सज्ज करके वह तिनका छेदने के लिये तत्पर हुआ। उस समय इन्द्र ने अपनी सभा में बैठे बैठे सोचा कि 'इस समय वीर प्रभु कहाँ विचरते होंगे ?' उपयोग देकर देखा तो प्रभु के साथ उस अच्छंदक की चेष्टा उन्हें दिखाई दी। तत्काल उसने सोचा कि 'प्रभु के मुख से निकली वाणी असत्य न हो।' ऐसा सोचकर उसने अच्छंदक की दस ऊंगलिया वज्र से छेद डाली। तृण को छेदते हुए उसकी इस प्रकार दुःखी दशा देखकर सब लोग उस पर हँसने लगे। मूढ बुद्धिवाला अच्छंदक उन्मत्त की तरह वहां से अन्यत्र चला गया। फिर सिद्धार्थ ने गाँववासियों को कहा, 'यह अच्छंदक चोर है।' तब लोगों ने पूछा, 'स्वामी ! उसने क्या और किसका चुराया है ?' सिद्धार्थ ने कहा, 'इस गाँव में वीरघोष नाम का एक सेवक है।' यह सुनते ही वीरघोष ने खड़े होकर प्रणाम किये। कहा कि, 'क्या आज्ञा हैं ?' तो सिद्धार्थ दुबारा बोला, 'पहले दश पल प्रमाण का एक पात्र तेरे घर में से गुम हुआ है।' वीरघोष ने कहा, 'हाँ।' फिर सिद्धार्थ बोला, 'यह पात्र इस पाखंडी अच्छंदक ने हर लिया है, इसकी जाँच कर देख। तेरे घर के पीछे पूर्व दिशा में सहीजन का वृक्ष है, उसके नीचे एक हाथ खोदकर गाड दिया है, इसलिये जा, तू ले ले।' वीरघोष उत्कंठित होकर वह लेने के लिये अपने घर गया और जो स्थान कहा था, उस स्थान से लेकर वापस आया। वह देखकर कोलाहल करते ग्रामवासियों को सिद्धार्थ ने पुनः कहा, 'सुनो, यहां कोई इन्द्रशर्मा नाम के गृहस्थ हैं ?' लोगों ने 'हा' कहा, तो इन्द्रशर्मा आकर उपस्थित हुआ और हाथ जोड़कर बोला कि 'मैं इन्द्रशर्मा हूँ। मुझे क्या आज्ञा है ?' सिद्धार्थ ने कहा, 'भद्र ! पहले तेरा

एक मेष गुम हुआ है ?' इन्द्र शर्मा चकित होकर बोला, 'हा।' सिद्धार्थ बोला, 'उस मेष को यह अच्छंदक भिक्षुक मारकर खा गया है और उसके अस्थि बैरी के वृक्ष की दक्षिण तरफ गाड़ दिये हैं।' लोगों ने कुतूहलता से वहां जाकर उसके अस्थि देखे और आकर उन्होंने कहा कि 'वहां है।' सिद्धार्थ बोला, 'उस पाखंडी का एक तीसरा भी दुष्चरित है, लेकिन अब मैं वह नहीं कहूंगा।' गाँववासी आग्रहपूर्वक बार बार बोले, 'भगवन् प्रसन्न होकर हमको वह थोड़ा भी कहो। आपकी कही हुई आधी कथा भी बड़ी रमणीक लगेगी।' सिद्धार्थ बोला, 'मैं तो वह कहूंगा ही नहीं, लेकिन यदि आपको कुतूहलता है तो उस अच्छंदक के घर जाकर उसकी स्त्री को पूछो, वह कहेगी।' तो लोग उसके घर गये। उस दिन उसने अपनी स्त्री को मारा था, जिससे वह क्रोधित होकर नेत्र में से अश्रु बहाते हुए इस प्रकार सोच रही थी कि 'इस दुराशयी पति अच्छंदक की उंगलिया कटी और सब लोगों ने उसका तिरस्कार किया यह बहुत अच्छा हुआ। यदि इस समय लोग मेरे पास आये तो मैं उसका पूरा दुश्चरित्र खूल्ला कर दूं, कि जिससे वह पापी मुझे मारने का संपूर्ण फल पाये।' इतने में तो गाँव के लोग वहां आये और उन्होंने उस स्त्री को अच्छंदक दुष्चरित्र के बारे में पूछा, तो वह बोलीं, 'उस पापी का नाम भी कौन ले ? वह दुष्ट कर्मचांडाल अपनी बहन के साथ विषयसुख भोगता है और कदापि मेरी इच्छा नहीं करता।' यह बात सुनकर शोरगुल करते हुए गाँव के लोग अच्छंदक की निंदा करते करते अपने अपने घर चले गये। फिर वह भिक्षुक सब जगह 'पापी, पापी' यूं पुकारे जाते हुए तिरस्कार पाया। और किसी भी जगह से उसे भिक्षा भी नहीं मिली। ''प्रतिष्ठा रहित पुरुष को धिक्कार है।''

फिर अच्छंदक एकांत में श्री वीरप्रभु के पास जाकर दीनता से नमन करके बोला, ''हे भगवन् ! आप यहां से अन्यत्र पधारिए, क्योंकि जो पूज्य है, वह तो सर्वत्र पूजा जाता है। मैं तो मात्र यहीं प्रसिद्ध हूं। अन्यत्र तो मेरा नाम भी कोई जानता नहीं है ! 'शृंगाल का शौर्य उसकी गुफा में ही होता है, बाहर नहीं होता।' हे नाथ ! अनजाने में मैंने आपका जो भी अविनय किया, उसका फल मुझे हाल में ही प्राप्त हुआ है, इसलिये अब आप मुझ पर कृपा कीजिए।'' उसके ऐसे वचन सुनकर अप्रीतिवाले स्थान का त्याग करने के अभिग्रहवाले प्रभु वहां से उत्तर में **वाचाल** नाम के सन्निवेश की ओर चले।

दक्षिण में ओर उत्तर में यूं वाचाल नाम के दो गाँव थे और उसके बीच में सुवर्णबालुका तथा रौप्यबालुका नाम की दो नदियां थीं। प्रभु दक्षिण के वाचाल गाँव से उत्तर के वाचाल गाँव तरफ जा रहे थे, वहां सुवर्णबालुका के तट पर उनका अर्ध देवदूष्य वस्त्र कांटे के साथ उलज गया। थोडा चलने के बाद प्रभु ने सोचा कि 'यह वस्त्र अयोग्य स्थंडिल भूमि में भ्रष्ट न हो।' ऐसा सोचकर जरा सा वापस मुडकर प्रभु आगे चलते बने। अब वह ब्राह्मण जो प्रभु के पीछे घूम रहा था, वह तेरह महिने पर यह आधा वस्त्र लेकर प्रभु की वंदना करके अपने गाँव की ओर चला। आनंदपूर्वक अपने गाँव पहुंचकर वह आधा वस्त्र लेकर उस रफु करनेवाले बुनकर के पास गया और उसे वह वस्त्र दिया। बुनकर ने उसके दो भागों को मालूम न पड़े इस प्रकार जोड़ दिया। फिर उसे बेचने

पर उसके एक लाख दीनार मिले। उन दोनों ने बंधुओं की भाँति वे आधे-आधे बाँट लिये।

यहां भगवान वीरप्रभु पवन की तरह अस्खलितरुप में विहार करते हुए **श्वेतांबी** नगर की ओर चले। मार्ग में ग्वालों के पुत्रों ने कहा, 'हे देवार्य ! यह मार्ग श्वेतांबी को सीधा जाता है, उसके बीच में कनकखल नाम के तापसों का आश्रम आता है। वहां इस समय एक दृष्टिविष सर्प रहता हैं, जिससे वहां पक्षियों का भी संचार नहीं है। सिर्फ वायु का ही संचार (आना-जाना) है। इसलिए उस सरल मार्ग को छोड़कर दूसरे इस वक्र मार्ग पर चलो, क्योंकि जिससे कान टूट जाय ऐसा सुवर्ण का कर्णाभूषण भी क्या काम का ?' प्रभु ने ज्ञान से उस सर्प को पहचाना।

वह सर्प पूर्व जन्म में तपस्वी साधु था। पारणे के लिये एक बार वह उपाश्रय से बाहर गया। मार्ग में उसके पैर तले एक मेंढकी आ गयी। यह देखकर उसकी आलोचना करने के लिये एक क्षुल्लक बालमुनि ने उसे मेंढकी दिखायी। यह देखकर उलटे ही वह लोगों द्वारा मारी हुई अन्य मेंढकियाँ दिखाने लगा और बोला कि 'अरे क्षुल्लक ! क्या ये मेंढकियाँ भी मैंने मार डाली हैं ?' यह सुनकर बालमुनि मौन रहा। शुद्धबुद्धि से उसने सोचा कि 'यह महानुभाव है, जिससे सायंकाल पर उसकी आलोचना करेगा।' फिर आवश्यक (प्रतिक्रमण) करते हुए भी जब उसकी आलोचना किये बिना वह साधु बैठ गया तब बालमुनि ने सोचा कि 'वह मेंढकी की विराधना भूल गया होगा।' जिससे उसको याद दिलाया कि 'आर्य ! आप उस मेंढकी की आलोचना क्यों नहीं करते ?' यह सुनकर क्षपक क्रोध करके खड़ा होकर उस बालमुनि को मारने दौडा। क्रोधांध होकर जाते हुए बीच में एक स्तंभ के साथ सिर टकरा जाने से वह साधु मृत्यु पा गया। साधुपने की विराधना करने से वह ज्योतिष्क देवता में उत्पन्न हुआ। वहां से च्यूत होकर कनकखल नाम के स्थान में पांचसौं तपस्वियों के कुलपति की पत्नी से **कौशिक** नाम का पुत्र हुआ। वहां कौशिकगोत्रता कारण अन्य भी कौशिक तापस ही थे। उनमें यह तापस विशेष क्रोधी होने से वह **चंडकौशिक** नाम से प्रसिद्ध हुआ। पूर्व कुलपति यमराज के अतिथि होने पर (मरने के बाद) वह चंडकौशिक तापसों का कुलपति बना। उसे अपने वनखंड पर बड़ी चाहत थी, जिससे वह रात-दिन भटका करता और किसिको भी उस वन में से पुष्प, फल, मूल या पत्र नहीं लेने देता था। यदि कोई उस वन में से सड़ा हुआ फल या पत्रादिक भी ग्रहण करता तो वह कुल्हाडा, लकडी या ईंटकोहरा लेकर मारने दौडता था। वहां रहनेवाले तापसों को भी फलादि नहीं लेने देता होने से दुःखी ऐसे सब तापस ज्यों लकड़ी गिरते ही काक पक्षी भाग जाय त्यों दसों दिशाओं में चले गये। एक दिन चंडकौशिक उस वाटिका संबंधित कार्य के लिये बाहर गया, तब कुछ राजकुमार श्वेतांबी नगरी से तत्काल वहाँ आकर उस वन का नाश करने लगे। जब कौशिक वापस आया तब ग्वालों ने उसको कहा कि 'देखिए, यह कोई आपके वन का नाश कर रहा है।' यह सुनकर हुतद्रव्य से अग्नि की तरह कौशिक क्रोध से प्रज्वलित हुआ। तत्काल तीक्ष्ण धारवाला कुल्हाडा लेकर दौडा। उसे आता देखकर बाज पक्षी से अन्य पक्षियों की तरह सब राजपुत्र भाग गये और वह कौशिक पैर फिसलने से यमराज के मुख जैसे किसी खड्डे में गिर गया। गिरते हुए उसने फेंका हुआ तीक्ष्ण कुल्हाडा उस पर ही गिरा, जिससे उसके सर के

दो टुकड़े हो गये। 'कुकर्म का फल ऐसा ही होता है।' मृत्यु पाकर वह चंडकौशिक इस वन में दृष्टिविष सर्प हुआ है। 'तीव्रानुबंधी क्रोध जन्मांतर में भी साथ साथ जाता है।'

इस प्रकार उसका पूर्वजन्म देखकर 'वह दृष्टिविष सर्प अवश्य प्रतिबोध करने योग्य है' ऐसा सोचकर जगतप्रभु वीर अपनी पीड़ा की अवगणना करके सरल मार्ग पर चले। प्रभु ने जब उस जीर्ण अरण्य में प्रवेश किया तब उसमें चरण संचार नहीं होने से बालुका ज्यों की त्यों रही थी। जलाशय में से बहती नहरें जलविहीन थी, जीर्ण बने वृक्ष सूख गये थे, जीर्ण पत्रों के समूह से पूरा भाग छा गया था, सर्पबिलों से बड़ा भाग व्याप्त हो गया था और सब झौंपड़ियां मिट्टी में मिल गयी थीं। ऐसे अरण्य में आकर प्रभु यक्षमण्डप में नासिका पर नेत्र को स्थिर करके कायोत्सर्ग में रहे। थोड़ी देर में वह दृष्टिविष सर्प मुख में से कालरात्रि जैसी जिह्वा को बाहर निकालते हुए अभिमानयुक्त होकर घूमने निकला। वन में आज्ञारेखा की भाँति अपने शरीर की रेखा बनाते हुए चला जा रहा था, उतने में उसने वीर प्रभु को देखा। तो 'अरे ! मेरी अवज्ञा करने के लिये यह कौन मुझे जाने बिना यहां निःशंक होकर घूस गया है ? और शंकु की भाँति स्थिर होकर खड़ा रहा है, तो मैं उसे भस्म कर डालूं।' इस प्रकार सोचकर कोप से लालघूम होते हुए वह सर्प अपनी नागफनी को बढ़ाने लगा। ज्वालामाला को वमन करती, लतावृक्षों को दहन करती वह फुत्कार से भयंकर ऐसी दृष्टि से वह प्रभु को देखने लगा, जिससे प्रज्वलित ऐसी उसकी दृष्टिज्वालाएं आकाश में से उल्का ज्यों पर्वत पर गिरे त्यों प्रभु के शरीर पर पड़ी। लेकिन महाप्रभावी प्रभु के पर तो वह कुछ भी असर न कर सकी, क्योंकि ''महान पवन भी मेरु को कंपाने के लिये समर्थ हो सकेगा ?'' अपनी तीव्र दृष्टि द्वारा भी जब प्रभु को कुछ नहीं हुआ तब 'अब भी यह काष्ट (लकड़ी) की भाँति दग्ध क्यों नहीं हुआ ?' ऐसा सोचकर विशेष क्रोध करके वह सूर्य के सामने देख देखकर विशेष दृष्टिज्वाला छोड़ने लगा। फिर भी वे ज्वालाएं भी प्रभु पर तो जलधारा समान हो गयी, तो वह सर्प होश खोकर प्रभु के चरणकमल पर डसा। अपने विष की उग्रता से दुर्मद ऐसा वह 'मेरे तीव्र विष द्वारा आक्रांत होकर यह अभी गिरेगा तो वह मुझे दबा न डाले' ऐसे विचार से डस डस कर दूर खिसकता था। प्रभु के अंग पर जिस स्थान पर वह डसता था, वहां से उसका जहर फैल नहीं सकता था। सिर्फ गाय के दूध जैसी रक्तधारा वहां से झड़ती थी। बहुत देर तक ऐसा होने से 'यह क्या ?' यूं चकित होकर वह प्रभु के समक्ष खड़ा रहा और खिसियाना होकर प्रभु के सामने देखने लगा। फिर प्रभु के अतुल रुप को निहारते हुए प्रभु के कांत और सौम्य रुप के कारण उसके नेत्र स्तब्ध हो गये। जब वह कुछ उपशांत हुआ, तब प्रभु बोले कि 'अरे चंडकौशिक ! बुझ ! बुझ ! मोह पा नहीं।' भगवंत का यह वचन सुनकर सोच में पड़े उस सर्प को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। फिर प्रभु को तीन प्रदक्षिणा देकर उसने अपने मन में अनशन ग्रहण करने का निश्चय किया। अनशन द्वारा सर्व क्रिया से रहित बना और उपशांति पाये उस सर्प को जानकर प्रभु ने अपनी दृष्टि से उसका सिंचन किया। फिर 'विष द्वारा भयंकर ऐसी मेरी दृष्टि किसी पर न गिरे' ऐसा सोचकर अपने बिल में मुँह रखकर वह सर्प समतारुपी अमृत को पीने लगा। प्रभु भी उसकी अनुकंपा से

वहीं स्थिति करके रहे। ''महान पुरुषों की प्रवृत्ति अन्य के उपकार के लिये ही होती है।'' भगवंत को उपद्रव रहित हुए देखकर सब ग्वाले और वत्सपाल चकित होकर तत्काल वहां आये और जांच करने के लिये वृक्ष के पीछे छिपकर उस महात्मा सर्प को निश्चल रहा देखकर उनको विश्वास आया, तो उसके नज़दीक आकर उस सर्प के शरीर को लकड़ियों से छूने लगे, तो भी उसे स्थिर रहा देखकर ग्वालों ने वह बात लोगों को कही, तो लोग वहां आये और वीर प्रभु को तथा मरणोन्मुख ऐसे उस सर्प की वंदना करने लगे। ग्वालों की कुछ स्त्रियां उस मार्ग से घी बेचने जाती थीं, उन्होंने उस सर्प के शरीर पर घी लगाया। उसकी गंध से वहां तीक्ष्ण मुंहवाली चींटिया आयी। उस सर्प के कलेवर को छलनी जैसा कर डाला। 'मेरे पापकर्म के सामने इस पीडा की क्या गिनती है ?' ऐसा विचार करते हुए वह सर्पराज उस दुःसह्य वेदना को भी सहन करने लगा। और 'ये बैचारी अल्पबलवाली चींटिया मेरे शरीर के वजन से दब नहीं जाये' ऐसा सोचते हुए उस सर्प महाशय ने अपना अंग थोड़ा सा भी नहीं हिलाया। इस प्रकार के करुणा प्रणामवाला और भगवंत की दयामृत दृष्टि से सिंचित बना वह सर्प एक पखवाडे में मृत्यु पाकर सहस्रार देवलोक में देवता बना।

कौशिक सर्प पर ऐसा महाउपकार करके वहां से विहार करके प्रभु **उत्तर वाचाल** नाम के गाँव समीप आये। पखवाडे के उपवास के बाद पारणे के लिये गोचरी करते प्रभु **नागसेन** नाम के गृहस्थ के घर गये। उस दिन उस गृहस्थ का इकलौता पुत्र जो बारह वर्ष से परदेश गया था वह बिन बादल बरसात की तरह अचानक घर आया था। जिससे नागसेन ने अपने घर उत्सव किया था और अपने सर्व स्वजन वर्ग को भोजन दिया था। उस समय प्रभु वहां भिक्षा के लिये पधारे। वीर प्रभु को दूर से आता देखकर नागसेन को बड़ा हर्ष हुआ, जिससे भक्तिपूर्वक दूध द्वारा प्रभु को प्रतिलाभित किया। उस समय 'अहोदानं, अहोदान' यों बोलते हुए देवताओं ने वहां वसुधारा वगैरह पाँच दिव्य प्रकट किये। फिर प्रभु पारणा करके श्वेतांबी नगरी की और चले। वह नगरी जिनभक्त ऐसे **प्रदेशी** राजा से विभूषित थी। प्रभु की खबर सुनकर प्रदेशी राजा मानो दूसरा इन्द्र हो त्यों नगरजनों, अमात्यों और अनेक राजाओं के परिवार को लेकर प्रभु के सत्कार के लिए सामने आया और भक्ति से वीर प्रभु को वंदना की। फिर राजा अपने नगर में गया और तप से श्रेष्ठ ऐसे प्रभु क्रमशः विहार करते हुए **सुरभीपुर** समीप आये। वहां से मानो पृथ्वी की ओढनी हो और समुद्र मानो प्रतिमान हो ऐसी ऊंचे तरंगवाली गंगानदी समीप आये। प्रभु गंगा पार करना चाहते थे, इसलिये **सिद्धदंत** नाम के किसी नाविक ने तैयार की हुई नाव में प्रभु और दूसरे यात्री बैठे। फिर नाविक ने दोनों तरफ से डांड चलाया, तो दो पंख से पक्षिणी की भाँति वह नाविका त्वरा से चलने लगी। उस समय तट पर रहा उल्लू बोला, वह सुनकर नाव में बैठे सगुनशास्त्र के ज्ञाता **क्षेमिल** नाम के निमित्तिए ने कहा, 'इस समय हम कुशलपूर्वक पार उतरनेवाले नहीं है। कुछ समय में ही हम सब को मरणांत कष्ट प्राप्त होगा, लेकिन इस महर्षि की महिमा से हम बच जायेंगे।' वह ऐसा कह ही रहा था, कि नाव अथाह जल में आयी। वहां **सुदंष्ट्र** नाम का एक नागकुमार देव रहता था, उसने प्रभु को देखा। पूर्व जन्म का बैर याद करके उसने क्रोधपूर्वक सोचा, 'जब यह त्रिपृष्ट था तब उसने शेररुप

में रहे मुझको मारा था। उस समय मैं उसके देश से बड़ा दूर रहता था। मैंने उसका कुछ भी अपराध नहीं किया था और मैं गुफा में छिपकर रहा था। वहां अपनी भुजाबल के गर्व से और सिर्फ कुतूहल करने की इच्छा से उसने आकर मुझे मार डाला था। वह आज मेरी नजर में आया वह बहुत अच्छा हुआ। अब मैं मेरा बैर लूंगा। ''ऋण की तरह बैर प्राणी को सेंकडों जन्म तक अनुसरता हैं।'' पूर्व का बैर लेने से जिसका जन्म कृतार्थ हुआ है ऐसे मेरा शायद तुरंत में ही मरण हो जाय तो भी मुझे खेद नहीं होगा।' इस प्रकार सोचकर वह सुदंष्ट्र देव क्रोध से भयंकर नेत्र करते हुए वीर प्रभु के पास आया और आकाश में रहकर उसने बड़ी किलकिलाहट की। फिर बोला, 'अरे ! तू कहां जाता है ?' ऐसा कहकर प्रलयकाल के दावानल जैसा भयंकर समवर्तक जाति का महावायु उसने छोड़ा, जिससे वृक्ष गिर गये, पर्वत कंपायमान हुए और जिसके उर्मि आकाश तक उड़ रहे हैं ऐसा गंगा का जल उछलने लगा। ऊंचे उछलती और वापस बैठ जाती गंगा की तरंगों से गजेन्द्र ने उठाये किसी वृक्ष की तरह वह नाव ऊंचे नीचे डाँवाडोल होने लगी। उसका मेरुस्तंभ टूट गया। सढ फट गया और नाव की आत्मा हो ऐसा कर्णधार[1] भयभीत हो गया। नाव में बैठे हुए सर्वजन मानो यमराज की जीभ समक्ष आ गये हो त्यों मरणोन्मुख होकर व्यग्रतापूर्वक अपने अपने इष्टदेव को याद करने लगे। उस समय **कंबल** और **संबल** नाम के दो देवों ने आकर उस उपसर्ग का निवारण किया। उसके पूर्वभव का वृत्तांत इस प्रकार है -

मथुरापुरी में **जिनदास** नाम का एक वणिक रहता था। वह श्रावक धर्म पालता था। उसे **साधुदासी** नाम की स्त्री थी। उन दोनों दंपती ने परिग्रह का प्रमाण करते हुए ढोर रखने के पचखाण लिये थे, इसलिये हंमेशां वे आहीर लोगों की स्त्रियों से दहीं-दूध वगैरह लेते थे। एक बार कोई आहीर की स्त्री उत्तम दहीं लायी। उसे खरीदकर प्रसन्न होकर साधुदासी ने उसको कहा, 'दूध-दहीं वगैरह जो तेरे यहां हो, उसे तू बेचने जाना मत। यहीं ले आना, हम वह ले लेंगे और तूझे तेरी इच्छानुसार मूल्य देंगे।' तब से वह आहीराइन भी खुश होकर सदैव वैसा ही करती और साधुदासी भी उसे वस्त्र वगैरह वस्तु देकर खुश करती। ऐसे करते हुए उन दोनों को सगी बहनों जैसा स्नेह हो गया। एक बार उस आहीर स्त्री के घर विवाह का प्रसंग आया, तो उसने उस प्रसंग पर सेठ-सेठानी को निमंत्रण दिया। तब उन्होंने कहा, 'भद्रे ! हम वणिक हैं, इसलिए तेरे घर आ सकेंगे नहीं, लेकिन तुझे विवाह के लिये योग्य जो चीज चाहिये, वह सब हमारे घर से ले जाना।' ऐसा कहकर उन्होंने वस्त्र, धान्य, अलंकार वगैरह उसको दिये। उनकी दी हुई वस्तुओं से उसका विवाहोत्सव बड़ा सुन्दर हुआ, जो उनके सगे ग्वाल लोगों में उसकी शोभा का कारण बन पड़ा। जिससे उस ग्वाले और ग्वालन ने प्रसन्न होकर तीन वर्ष की उम्र के कंबल व संबल नाम के सुन्दर दो बैल सेठ को देने के लिये लाये। सेठ ने वे ग्रहण नहीं किये, तो भी वे जबरदस्ती से उनके द्वार पर बांधकर चले गये। 'ग्वालों का स्नेह ऐसा ही होता है।' जिनदास ने सोचा कि, 'यदि अब मैं इन दोनों वृषभों को छोड़ दूंगा तो दूसरे साधारण पुरुष उनको हल वगैरह में जोतेंगे और दुःखी करेंगे। मेरे घर

१. खेवैया।

उपयोग बिना उनको पालना भी बड़ा मुश्किल है। अब मूझे क्या करना ? मूर्ख के साथ के स्नेह से मैं संकट में पड़ गया हूं।' ऐसा विचार करके वे दयालु जिनदास सेठ उन दोनों वृषभों का प्रासुक घास और जस से पोषण करने लगे। अष्टमी या चतुर्दशी आये तब वह सेठ उपवास करके पौषध व्रत लेकर वे बैल सुने इस प्रकार धर्म संबंधी पुस्तकें पढ़ते थे। इस प्रकार सदैव धर्म सुनने से वे भद्रिक भावी बने। इसके बाद जिस दिन सेठ भोजन नहीं करते उस दिन वे भी घास-पानी का उपयोग नहीं करते थे। उस दिन उनको घास वगैरह डाला जाता, लेकिन जब वे नहीं खाते तब सेठ ने सोचा कि मैंने इतने समय तक तो मात्र दया के कारण ही इन बैलों का पोषण किया, लेकिन अब तो ये मेरे साधर्मी बंधु हैं, इस बुद्धि से मुझे उनका पोषण करना चहिये।' इस प्रकार सोचकर सेठ प्रतिदिन उनका विशेष विशेष बहुमान करने लगा, क्योंकि सेठ की बुद्धि में वे पशुरुप नहीं थे।

एक बार **भंडीरवण** नाम के यक्ष का यात्रोत्सव आया, तो उस दिन गाँव के युवा बालक वाहनों की वहनक्रीडा करने लगे। उस गाँव में जिनदास का एक कुतूहली मित्र था, वह श्रेष्ठी को पूछे बिना ही उस दिन उन दोनों वृषभों को अपने वाहनों में जोतने के लिये ले गया। ''जहां स्नेह होता है, वहां जुदाई न होने से पूछने की जरुरत नहीं रहती। जो उसका हो वह अपना ही माना जाता हैं।'' मुर्गी के अंडे समान श्वेत, मानो जुड़वे ही जन्मे हो त्यों एक समान, गेंद की तरह गोल अंगवाले, चँवर जैसी पूंछवाले, मानो ऊंचे चढ़ते हो त्यों उछलते और वायु के पुत्र हो ऐसे वेगवान उन दोनों बैलों को उस सेठ के मित्र ने अपनी गाड़ी में जोडे। उनकी सुकुमारता जाने बिना ही वह निर्दयी मित्र लोगों को आश्चर्य पहुँचाने के लिये चाबूक और छड़ी की पैनी आरी से मार मारकर उनको हांकने लगा। अनुपम वेगवान उन वृषभ से उसने वाहनक्रीडा में होड़ करनेवाले सभी नगरजनों को क्षणभर में जीत लिया। आरी से पड़े हुए छिद्रों में से निकलते रुधिर द्वारा जिनके अंग आर्द्र हो गये हैं और जिनके जोड़ टूट गये हैं ऐसे उन वृषभों को काम पूरा हो जाने पर वह मित्र सेठ के घर वापस बांध आया। भोजन का समय होने पर सेठ हाथ में जौ का पूला लेकर पुत्र की तरह उन वृषभों के पास आया। वहां तो उन वृषभों के मुख खुले रह गये थे, नेत्रों में से अश्रु टपक रहे थे, श्वास चढ़ा हुआ था, असह्य दुःखी लगते थे, कांप रहे थे और आरी से पड़े हुए छिद्र में से रुधिरधाराएं निकल रही थीं। उनकी ऐसी स्थिति देखकर सेठ बोला कि, 'ये बैल जो मुझे प्राण से भी प्यारे हैं, उन्हें पूछे बिना ले जाकर किस पापी ने इस दशा में पहुँचाया ?' फिर परिजन ने आकर सेठ को उनके मित्र की बात कही, तो अपने सहोदर को विपत्ति आने से हो वैसा ही बड़ा खेद उनको हुआ। उन वृषभों को भी अनशन करने की इच्छा हुई होने से वे उस सेठ के दिये हुए घास या जल को जरा सा सूंघे भी नहीं। फिर सेठ ने पौष्टिक अन्न से भरपूर एक थाल लाकर उनके समीप रखा, उसको उन्होंने दृष्टि से भी संभावित किया नहीं। फिर उनका भाव जानकर सेठ ने उनको चारों आहार का पचखाण करवाया, वह उन्होंने अभिलाषापूर्वक समाधिरुप में ग्रहण किया। उनके पर दया लाकर दूसरे अन्य सब काम छोड़कर सेठ स्वयं उनको नवकार मंत्र सुनाते और भवस्थिति का बोध करते हुए उनके समीप ही बैठे रहे। नवकार मंत्र को सुनते हुए और भवस्थिति का चिंतन

करते हुए वे समाधि से मृत्यु पाकर नागकुमार में देवरुप में उत्पन्न हुए।

उन कंबल और संबल ने अवधिज्ञान से देखा तो सुदंष्ट्र नागकुमार ने प्रभु पर किया हुआ नाव डुबा देने रुप उपद्रव उन्हें नज़र आया। तो 'हमें अभी दूसरा कुछ काम करने की जरुरत नहीं है' इस समय तो चलो, अर्हंत के उपर होते उपद्रव को एकदम अटकाए।' इस प्रकार सोचकर वे प्रभु के पास आये। उनमें से एक जन सुदंष्ट्र नागकुमार के साथ युद्ध करने के लिये तत्पर हुआ और दूसरे ने हाथ से उठाकर उस नाव को गंगा के दूसरे तट पर रख दिया। वह सुदंष्ट्र देव यद्यपि बड़ी रिद्धिवाला था, लैकिन आयुष्य का अंत आ गया होने से उसका बल घट गया था। और इन दोनों का नया देवपने का वैभव था। इसलिये उन दोनों ने उसे जीत लिया। फिर सुदंष्ट्र वहां से भाग गया तो कंबल-संबल नागकुमारों ने प्रभु को नमन करके हर्ष पूर्वक प्रभु के उपर पुष्प की और सुगंधित जल की वृष्टि की। 'आपके प्रभाव से इस नदी को आपत्ति की तरह हम पार कर गये' यूं बोलते हुए नाव में बैठे हुए दूसरे लोग भक्तिपूर्वक वीर प्रभु की वंदना करने लगे। दोनों नागकुमार प्रभु को नमन करते हुए अपने स्थान पर गये। प्रभु नाव में से उतरकर विधिपूर्वक इर्यापथिकी से प्रतिकर्म (प्रतिक्रमण) करके वहां से दूसरी ओर चले।

जिसमें सूक्ष्म और आर्द्र रेत है ऐसे गंगानदी के तट पर चक्रादिक के लांछनवाली प्रभु के कदमों की पंक्ति पृथ्वी पर आभूषण रुप से स्फुट रुप में अंकित होती थी। इतने में सामुद्रिक लक्षण को जाननेवाला पुष्प नाम का कोई पुरुष उन कदमों की पंक्ति देखकर सोचने लगा कि 'इस मार्ग पर होकर कोई चक्रवर्ती अकेले गये लगते हैं। अब तक उन्हें राज नहीं मिला होगा, अथवा किसिने छल करके उसका राज्य ले लिया होगा। मैं मानता हू, कि वह अभी अभी यहां से चले जा रहे हैं, इसलिये मैं जाकर उनकी सेवा करूं, क्योंकि वह सेवक चाहते होंगे। इस अवस्था में सेये हुए वह चक्रवर्ती जरुर फल देंगे। सेव्य पुरुष की सेवा करने का अवसर पुण्य से ही प्राप्त होता है।' इस प्रकार सोचकर वह कदम देखते हुए चला। आगे जाते हुए **स्थूणाक** नाम के गाँव के पास अशोक वृक्ष के नीचे प्रतिमा धरकर रहे हुए प्रभु को उसने देखा। उनके हृदय में श्रीवत्स का लांछन था। मस्तक पर मुकुट का चिह्न था। दोनों भुजा पर चक्रादिक के लांछन थे, दोनो हाथ शेषनाग जैसे लंबे थे और नाभिमंडल दक्षिणावर्त्त वाला गंभीर व विस्तीर्ण था। प्रभु के शरीर पर ऐसे लोकोत्तर चिह्न उसे नजर आये। यह देखकर पुष्प ने सोचा, ''ज्यों चरण के लक्षणों से यह लोकोत्तर पुरुष है ऐसा लगता हैं त्यों दूसरे लक्षणों से भी चक्रवर्ती हो यों दिखता हैं। ऐसे लक्षण होने पर भी यह तो भिक्षुक है, जिससे मुझे आश्चर्य होता है, इसलिये ऐसे भिक्षुक पर अच्छी आशा रखनेवाले मुझे और मेरे शास्त्र के श्रम को धिक्कार है। विश्व को छलने के लिये और अपनी कुतूहलता की पूर्ति के लिये किसी अनाप्त (अहितकारी) पुरुष नें ही ये शास्त्र रचे होंगे ऐसा लगता हैं। मरुभूमि में मृगजल देखकर मृग दौडे त्यों उनके वचन पर आशा रखकर में वृथा दौड आया।'' इस प्रकार सोचते हुए उस पुष्प के हृदय में बड़ा खेद हुआ। उस समय शक्रेन्द्र को स्वर्ग में बैठे बैठे विचार आया कि 'महावीर प्रभु इस समय कहाँ विचर रहे होंगे ?' अवधिज्ञान से देखते ही उन्होंने प्रभु को स्थुणाक

गाँव में रहे हुए देखा और पुष्प निमित्तिए को खेद से अपने शास्त्रों को दूषण देते हुए देखा। तो इन्द्र तत्काल वहाँ आया और उसने पुष्प निमित्तिए के सामने ही प्रतिमा धरकर खड़े प्रभु को बड़ी समृद्धि से उसने वंदना की। फिर पुष्प को कहा, "अरे मूर्ख ! तू शास्त्रों की निंदा क्यों करता हैं ? शास्त्रकारो ने कुछ भी जूढा भाषण नहीं किया। तू तो प्रभु के बाह्य लक्षण ही जानता हैं, आंतरिक नहीं जानता। लेकिन इस प्रभु के मांस और रुधिर दूध जैसे उज्ज्वल हैं। उनके मुखकमल का श्वास कमल की खुशबो जैसा सुगंधित हैं। उनका शरीर बिलकुल निरोगी और मल तथा पसीने से रहित है। इन तीनों जगत के स्वामी, धर्मचक्री, जगत हितकारी और विश्व को अभय देनेवाले सिद्धार्थ राजा के पुत्र वीर प्रभु हैं। चौसठ इन्द्र भी इनके सेवक हैं। तो उनके समक्ष चक्रवर्ती क्या हिसाब में हैं, कि जिनसे तूं फल की इच्छा करता हैं।" ये प्रभु वार्षिक दान देकर भवसागर पार करने की इच्छा से राज्य छोड़कर, दीक्षा लेकर, अश्रांतपन से विहार करते हैं। शास्त्रों में कहे हुए लक्षण सच्चे ही हैं। इसलिये तू थोडा सा भी खेद मत कर। मैं तूझे इच्छित फल दूंगा, क्योंकि इन प्रभु का दर्शन निष्फल होता ही नहीं है।" इस प्रकार कहकर उस पुष्प निमित्तिए को वांछित फल देकर प्रभु को नमन करके इन्द्र पुनः अपने स्थान पर गये।

वीर प्रभु कायोत्सर्ग पूरा करके चरणन्यास द्वारा पृथ्वी को पवित्र करते हुए क्रमशः **राजगृह** नगर में आये। उस नगर के बाहर नज़दीक में **नालंदा** नाम के भूमि भाग में किसी बुनकर की विशाल शाला में प्रभु पधारें। वहां वर्षाकाल व्यतीत करने के लिये प्रभु ने उस बुनकर से अनुमति ली। फिर मासक्षपण करते हुए उस शाला के एक भाग में प्रभु रहे।

उस समय पर **मंखली** नाम का कोई मंख्य[1] था। उसे भद्रा नाम की स्त्री थी। वे दोनों चित्रपट लेकर पृथ्वी पर घूमते थे। वे **सरवण** गाँव में आये। वहां भद्रा ने एक बहुत गायोंवाले ब्राह्मण की गौशाला में पुत्र को जन्म दिया। वह गौशाला में जन्मा इसलिये उसका नाम **गोशाल** रखा। क्रमशः वह युवावस्था में आया। तो उसने अपने पिता का धंधा सीख लिया। यह गौशाल स्वभाव से ही कलह करता था। माता-पिता के वश में नहीं रहता था। जन्म से ही लक्षणहीन था और उत्कट विचक्षण था। एक बार वह माता-पिता के साथ कलह करके चित्रपट लेकर भिक्षा के लिये निकल पड़ा। घूमते घूमते वह राजगृह नगर में आया। जो प्रदेश प्रभु ने अलंकृत किया था, उसी शाला में ही वह गोशाल सिंह के समीप लोमड़ी की भाँति एक कोने पर आकर रहा। प्रभु मासक्षपण का पारणा करने की इच्छा से **विजय** श्रेष्ठी के घर करपात्र द्वारा भिक्षा मांगने आये। श्रेष्ठ बुद्धिवाले विजय श्रेष्ठी ने स्वयं भक्तिपूर्वक सम्यक्तव (यथाविधि) प्रकार की भोजनविधि से प्रभु को वोहराया। उस समय आकाश में 'अहोदानं' ऐसी आघोषणा करके देवताओं ने उसके घर रत्नवृष्टि वगैरह पाँच दिव्य प्रकट किये। यह हकीकत सुनकर गोशाल ने सोचा, 'यह मुनि कोई सामान्य नहीं है क्योंकि उसे अन्न देनेवाले के घर में भी ऐसी समृद्धि हो गयी इसलिये मैं तो इस चित्रपट का पाखंड छोड़कर

१. चित्रकला जानकार भिक्षाचर विशेष

इस मुनि का ही शिष्य बन जाऊं, क्योंकि ये गुरु निष्फल नहीं होंगे।' गोशाल ऐसा चिंतन कर रहा था कि इतने में ही प्रभु पारणा करके वापस उस शाला में आकर कायोत्सर्ग करके रहे। गोशाल प्रभु को नमन करके बोला, 'हे भगवन ! मैं सुज्ञ होने पर भी प्रमाद से आपके जैसे महामुनि का प्रभाव आज तक नहीं जान सका, लेकिन अब मैं आपका शिष्य बनूंगा। आज से आप एक ही मेरी शरण हो।' इस प्रकार कहकर उसने वैसा किया, फिर भी प्रभु तो मौन धरकर ही रहे। गोशाल भिक्षा माँगकर प्राणवृत्ति करते हुए अपनी बुद्धि से प्रभु का शिष्य होकर प्रभु को रात-दिन छोड़ता ही न था। दूसरे मासक्षपण में प्रभु भिक्षा के लिए निकले, तब **आनंद** नाम के एक गृहस्थ ने खाद्य वस्तु द्वारा प्रतिलाभित किया। तीसरे मासक्षपण पर **सुनंद** नाम के गृहस्थ ने सर्वकामगुण नाम के आहार से प्रभु को प्रतिलाभित किया। गोशाल भी भिक्षा के अन्न से उदरपोषण करके भगवंत श्री महावीर प्रभु को अर्हनिश सेवा करने लगा।

एक समय कार्तिक मास की पूर्णिमा को गोशाल ने हृदय में चिंतन किया कि 'ये बड़े ज्ञानी हैं ऐसा मैं सुनता हूँ, तो आज मैं उनके ज्ञान की परीक्षा करूं।' फिर उसने पूछा, 'हे स्वामी ! आज प्रत्येक गृह में वार्षिक महोत्सव हो रहा है, तो मुजे आज भिक्षा में क्या मिलेगा वह कहिए।' उस समय वह सिद्धार्थ प्रभु के शरीर में प्रवेश करके बोला, 'रे भद्र ! खट्टा हो गया कोद्रव और कुर का धान व दक्षिणा में एक नकली रुपिया मिलेगा।' यह सुनकर गोशाल दिन के प्रारंभ से ही उत्तम भोजन के लिये श्वान की तरह घर घर भटकने लगा। फिर भी उसे किसी जगह से कुछ भी मिला नहीं। जब सायंकाल हुआ तब कोई सेवक उसे अपने घर ले गया और खट्टे हो गये कोद्रव और कूर दिया। अति भूख के कारण वह ऐसा अन्न भी खा गया। फिर उसे दक्षिणा में एक रुपैया मिला। उस रुपये की परीक्षा करायी तो वह भी नकली निकला। तो वह लज्जा पा गया। फिर 'जो भावी है वह होता ही है' ऐसे नियतिवाद को उसने ग्रहण किया।

दीक्षा लेने के बाद यह दूसरा चौमासा **नालंदापाडा** में व्यतीत करके वहां से निकलकर प्रभु **कोल्लाक** नाम के गाँव समीप आये। वहां **बहुल** नाम का एक ब्राह्मण रहता था। वह बड़े आदर से ब्राह्मणों को अपने घर भोजन कराता था। उसके घर प्रभु भिक्षा के लिये पधारे। उसने घी-मिसरी सहित खीर की भिक्षा प्रभु को दी, तो देवताओं ने उसके घर पाँच दिव्य किये। प्रभु ने यहां चौथे मासक्षपण का पारणा किया, जो पारणा श्रद्धा से भिक्षा देनेवाले दाता प्राणी को संसारसागर से पार करानेवाला हैं। यहां वह गोशाल सायंकाल में लज्जा पाते हुए चुपचाप आकर उस शाला में घुसा। वहां उसने प्रभु को देखा नहीं, तो 'स्वामी कहां है ?' ऐसा वह लोगों को पूछने लगा। लेकिन किसीने प्रभु की खबर दी नहीं, जिससे वह दीन होकर प्रभु को खोजने के लिये पूरा दिन चारोंओर घूमा। फिर 'मैं तो फिर से एकाकी हो गया !' ऐसा सोचकर मस्तक मुंडवाकर, वस्त्र छोड़कर वह वहां से निकल पड़ा। वह कोल्लाक गाँव में आया। वहां उसने लोगों में होती बात सुनी कि 'इस बहुल ब्राह्मण को धन्य हैं कि मुनि को दान करने से उसके घर में देवताओं ने रत्नवृष्टि (धनवृष्टि) की।' यह बात सुनकर गोशाल ने सोचा कि 'ऐसा प्रभाव मेरे गुरु का ही है, जिससे जरुर वे यहीं होंगे।'

ऐसा सोचकर वह प्रभु को ढूंढने के लिये भटकने लगा। निपुण दृष्टि से ढूंढते हुए एक जगह कायोत्सर्ग करके रहे प्रभु को उसने देखा। वह प्रभु को प्रणाम करके बोला, 'हे प्रभु ! पहले मैं दीक्षा के योग्य नहीं था, अब तो वस्त्र आदि का संग छोड़ देने से सचमुच निःसंग हुआ हूँ, इसलिये मुझे शिष्य रुप में स्वीकार कीजिए और आप मेरे यावज्जीव गुरु बनें। आपके बिना मैं पलभर भी नहीं रह सकता। हे स्वामी ! आप राग रहित हो तो आपके साथ स्नेह कैसे हो ? क्योंकि एक हाथ से ताली नहीं बजती, लेकिन क्या करूं ? मेरा मन जबरन आपकी ओर दौडता हैं। और मैं मेरी आत्मा को आपने स्वीकारा है ऐसा ही मानता हूँ, क्योंकि आप विकसित कमल जैसी दृष्टि से मेरे सामने देखते हो।' उसके ऐसे वचन सुनकर यद्यपि प्रभु वीतराग थे फिर भी उसके भाव को जानकर उसकी भव्यता के लिये प्रभु ने उसका वचन स्वीकारा। ''महान पुरुष कहां वत्सल नहीं होते ?''

फिर प्रभु उस गोशाले को साथ लेकर युगमात्र दृष्टि करते हुए **स्वर्णखल** नाम के स्थान की ओर चले। मार्ग में कुछ ग्वाले क्षीर पका रहे थे, यह देखकर गोशाल ने कहा, 'स्वामी ! मैं क्षुधातुर हुआ हूँ, इसलिये चलिये, हम इस पायसान्न का भोजन करें।' सिद्धार्थ ने कहा, 'वह क्षीर बनेगी ही नहीं।' यह सुनकर दुष्ट बुद्धिवाले गोशाल ने उन ग्वालों के पास जाकर कहा, 'ये देवार्य त्रिकालज्ञ हैं, वे कहते हैं की यह क्षीर आधी पकते ही उसका पात्र कांच के पात्र की तरह फूट जायेगा।' यह सुनकर भय पाये ग्वालों ने उस हांडी को बाँस की कमठियों से बांध ली, लेकिन उसमें चावल प्रमाण से ज्यादा डाले होने से वह फूले और हांडी फूट गयी। फिर ग्वाले ठीब में रही क्षीर को खुश होते हुए खा गये। गोशाले को उसमें से कुछ भी न मिली, जिससे उसने विशेष रुप से नियतिवाद ग्रहण किया।

वहां से विहार करके प्रभु **ब्राह्मण गाँव** में गये। उस गाँव में मुख्य दो पाडे थे। उसके नंद और उपनंद नाम के दो भाई मालिक थे। छठ के पारणे पर प्रभु नंद के पाडे में गोचरी करने गये। नंड ने प्रभु को दहीं सहित कूर (करंबा) की भिक्षा दी। गोशाल उपनंद के पाडे में उसका बड़ा घर देखकर आदरपूर्वक भिक्षा के लिये गया। उपनंद की आज्ञा से एक दासी ने उसे बासी चावल दिये। पसंद नहीं आने से उस दुष्ट बुद्धिवाले ने उपनंद का तिरस्कार किया। उपनंद ने दासी को कहा कि 'यदि वह अन्न न लेता हो तो उसके सर पर डाल दे।' दासी ने भी वैसा ही किया। तो गोशाल ने कोप करके कहा, 'यदि मेरे गुरु का तपतेज हो तो इस उपनंद का घर जलकर भस्म हो जाय।' प्रभु का नाम लेकर दिया हुआ शाप भी निष्फल न होना चाहिये। ऐसा सोचकर नजदीक में रहे व्यंतरों ने उपनंद का घर घास के पुंज की तरह जला डाला। वहां से विहार करके प्रभु चंपानगरी में पधारे। वहां दो दो मासक्षपण करने की प्रतिज्ञा लेकर तीसरा चौमासा रहे। सम्यक् समाधि को धारण करते हुए प्रभु उत्कटिक वगैरह आसनो द्वारा कायोत्सर्ग करके मुक्त की भाँति वहां रहे। नगर के बाहर दूसरे दो मासक्षपण का पारणा करके गोशाल सहित प्रभु **कोल्लाक** नाम के गाँव में आये। वहां रात्रि में एक शून्यगृह में प्रतिमा धारण करके रहे। गोशाल वानर की भाँति चपलता करते हुए उसके द्वार समक्ष बैठा।

उस गाँव के स्वामी को **सिंह** नाम का एक पुत्र था। वह नवीन यौवन वाला होने से **विद्युन्मति** नाम की उसकी दासी के साथ रतिक्रीडा करने की इच्छा से उस शून्यगृह में घुसा। उसने ऊंचे स्वर से कहा कि, 'इस गृह में यदि कोई साधु, ब्राह्मण या यात्री हो तो बोलना, जिससे हम यहां से दूसरे स्थान पर जाये।' प्रभु तो कायोत्सर्ग में रहे थे, इसलिये वे मौन रहे परंतु गोशाल ने ये वचन सुने फिर भी कपट से नहीं बोला। जब किसिका प्रत्युत्तर नहीं मिला, तब उस सिंह ने दासी के साथ बहुत देर तक वहां क्रीडा की। फिर उस घर में से निकलने लगा तो प्रकृति से चपल और दुर्मति ऐसा गोशाल जो द्वार समीप बैठा था उसे वहां से निकल रही विद्युन्मति दासी को हाथ से स्पर्श किया, तो उसने चिल्लाकर कहा कि 'स्वामी ! किसी पुरुष ने मुझे स्पर्श किया।' तत्काल सिंह वापस आकर गोशाल को पकड़कर बोला, 'अरे कपटी ! तूने चूप रहकर हमारा अनाचार देखा। उस समय मैंने कहा तो भी उत्तर नहीं दिया।' इस प्रकार कहकर उसको बहुत पीटकर सिंह अपने स्थानक पर गया। फिर गोशाल ने प्रभु को कहा, 'हे स्वामी ! आपकी नजरों के सामने इसने मुझे पीटा।' सिद्धार्थ बोला, 'तू हमारे जैसा शील (आचरण) क्यों नहीं रखता ? द्वार पर रहकर ऐसी चपलता करता है तो तूजे मार क्यों न मिले ?' इसके बाद वहां से निकलकर प्रभु **पत्रकाल** नाम के गाँव में आये। वहां भी पूर्व की भाँति प्रभु किसी शुन्यगृह में प्रतिमा धरकर रहे। गोशाल भय पाकर घर के एक कौने में बैठ गया। उस गाँव के स्वामी का पुत्र **स्कंद** भी **दंतिला** नाम की दासी के साथ रतिक्रीडा करने के लिये वहाँ आया। उसने भी सिंह की तरह पूछा लेकिन किसिने उत्तर नहीं दिया। फिर वह क्रीडा करके निकला तब गोशाल ऊंचे स्वर से हँस पड़ा। तो 'यहां पिशाच की भाँति गुप्त रहकर कौन हँसता है ?' ऐसा कहकर उस स्कंद ने आकर उसे बहुत पीटा। फिर स्कंद अपने घर चला गया। गोशाल ने प्रभु को कहा, 'हे नाथ ! क्या स्वामी का धर्म ऐसा होता है ? निर्दोष ऐसे मुझे पीटने पर आप मेरा रक्षण क्यों नहीं करते ?' सिद्धार्थ बोला 'अरे मूर्ख ! तीतर पक्षी की तरह बडबडाहट से तू ऐसा अनर्थ अनेक बार भोगता है।'

फिर वीरप्रभु वहां से विहार करके **कुमार-सन्निवेश** में आये। वहां चंपकरमणीय नाम के उद्यान में प्रतिमा धरकर रहे। उस गाँव में धन-धान्य की समृद्धिवाला **कुपन** नाम का एक कुम्हार रहता था। मदिरा के कीड़े की तरह उसको मदिरा पर बड़ी प्रीति थी। उस समय उसकी शाला में **मुनिचंद्राचार्य** नाम के पार्श्वनाथ प्रभु के एक बहुश्रुत शिष्य बड़े शिष्यवर्ग के साथ ठहरे थे। वे अपने शिष्य वर्द्धन नाम के सूरि को गच्छ में मुख्य रुप में स्थापित करके जिनकल्प का अतिदुष्कर प्रतिकर्म[1] करते थे। तप सत्त्व, श्रुत, एकत्व और बल - यूं पांच प्रकार की तुलना करने के लिये वे समाधिपूर्वक उपस्थित हुए थे। यहां गोशाल ने प्रभु को कहा, 'हे नाथ ! इस समय मध्याह्न का समय है, इसलिये चलिये, गाँव में भिक्षा लेने चले।' सिद्धार्थ ने कहा, 'आज हमारा उपवास है।' फिर क्षुधातुर बना गोशाल गाँव में भिक्षा के लिये गया। वहां चित्र-विचित्र वस्त्र को धारण करनेवाले और पात्र आदि रखनेवाले श्री पार्श्वनाथ के पूर्वोक्त शिष्यों को उसने देखा, तो पूछा कि 'आप कौन

१. जिनकल्पीपन करने की तुलना

हो ?' वे बोले कि 'हम श्री पार्श्वनाथ के निर्ग्रंथ शिष्य हैं।' गोशाल ने हँसते हुए कहा, ''मिथ्या भाषण करनेवाले आपको धिक्कार है। आप वस्त्रादिक को धारण करनेवाले हो, फिर भी निर्ग्रंथ कैसे ? केवल आजीविका के लिये ही इस पाखंड की कल्पना की लगती है। वस्त्रादिक संग से रहित और शरीर से भी अपेक्षाविहीन जैसे मेरे धर्माचार्य हैं ऐसे ही निर्ग्रंथ होने चाहिये।'' वे जिनेन्द्र को पहचानते नहीं थे, इसलिये गोशाले के ऐसे वचन सुनकर बोले, 'जैसा तू है, वैसे तेरे धर्माचार्य भी होंगे, क्योंकि वह अपने आप लिंग ग्रहण करनेवाला लगता है।' क्षुधातुर बने गोशाल ने उनके ऐसे वचन से शाप दिया कि 'यदि मेरे गुरु का तप तेज हो तो यह तुम्हारा उपाश्रय जल जाय।' वे बोले कि 'तेरे वचन से हम जलेंगे नहीं।' गोशाल खिसियाना बनकर प्रभु के पास आकर कहने लगा, 'आज मैंने आप के तपस्वीपन की निंदा करनेवाले सग्रंथ साधुओं को देखा, आपकी निंदा सुनकर मैंने क्रोध से उन्हें शाप दिया की आपका उपाश्रय जल जाय। फिर भी उनका उपाश्रय थोड़ा सा भी नहीं जला। इसलिये हे स्वामी ! उसका क्या कारण होगा वह कहिए।' सिद्धार्थ बोला, 'अरे मूढ ! वे श्री पार्श्वनाथ के शिष्य हैं। उनका उपाश्रय तेरे शाप से क्यों जलेगा ?' इतने में रात्रि हो गयी तो वे मुनिचंद्रसूरि उपाश्रय के बाहर प्रतिमा धरकर रहे। वह कुपनय कुम्हार मदिरापान करके उन्मत्त बनकर घूमते घूमते वहां आया। उसने आचार्य को देखा, तो उस दुष्ट कुम्हार ने चोरबुद्धि से आचार्य को गले से पकड़कर श्वास विहिन कर दिया, लेकिन वे शुभ ध्यान से चलित नहीं हुए। उस वेदना को सहन करते हुए उनको तत्काल अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ और मृत्यु पाकर देवलोक में गये। उस स्थान के समीप रहे व्यंतरों ने प्रातःकाल के पवन की तरह उन पर पुष्प बरसाकर उनकी महिमा की।

यहां गोशाल ने आकाश में बिजली की तरह प्रकाशित देवश्रेणी को देखकर प्रभु को पूछा, 'स्वामी ! क्या हमारे शत्रुओं का उपाश्रय जलने लगा ? इस आकाश में दिखते अत्यंत प्रकाश से मुझे उसका अनुमान होता है।' सिद्धार्थ ने कहा, ''अरे ऐसा मत कह। यह तो वे सूरि शुभ ध्यान से स्वर्ग में गये, क्योंकि 'शुभ ध्यान कामधेनु की तरह सर्व मनोरथों की पूर्ति करनेवाला हैं।' उनकी महिमा करने के लिये ये तेजोमय देवता आ रहे हैं, जिससे तेरे जैसे अल्पबुद्धिवाले मनुष्य को अग्नि की भ्राँति उत्पन्न हुई हैं।'' कुतूहलता से वह देखने के लिये गोशाल तत्काल वहां गया। इतने में तो देवता अपने स्थान पर चले गये, क्योंकि 'ऐसे दुष्ट को देवदर्शन कैसे होगा ?' लेकिन वहां पुष्प और सुगंधित जल की वृष्टि देखकर वे हर्ष पाये। फिर उनके शिष्य जिस उपाश्रय में सो रहे थे, उनके पास जाकर उसने इस प्रकार कहा, ''अरे मुंडों ! तुम दुष्ट शिष्य हो क्योंकि दिन को इच्छानुसार भोजन करके पूरी रात अजगर की भाँति सो रहे हो। तुम जानते ही नहीं कि तुम्हारे सूरि मृत्यु पा गये। अहो ! उत्तम कुल में जन्म लेनेवाले तुम्हारे जैसों को गुरु के लिये भी इतना प्रतिबंध नहीं हैं ?'' फिर वह शिष्य बैठे हुए और 'यह पिशाच की तरह कौन बौल रहा है ?' ऐसा चिंतवन करने लगे। फिर वे उपाश्रय के बाहर आये। वहां आचार्य को मृत्यु पाया जानकर वे कुलीन पुत्रों की तरह अत्यंत खेद पाकर बहुत देर तक अपनी आत्मा को कोसने लगे। गोशाल भी उनका तिरस्कार करके स्वैच्छापूर्वक ज्यों त्यों बोलते हुए प्रभु के पास आया।

प्रभु वहां से विहार करके **चोराक** गाँव में आये। वहां परचक्र के भय से चोर को खोजनेवाले आरक्षक पुरुषों ने गोशाल सहित प्रभु को कायोत्सर्ग में रहा देखा। उनको पूछा कि 'आप कौन हो ?' लेकिन मौनपने के अभिग्रहवाले प्रभु कुछ भी नहीं बोले। 'मुनि बधिर जैसे ही होते हैं।' उत्तर न मिलने से उन्होंने सोचा कि 'जरुर यह कोई गुप्तचर है, जिससे मौन धरकर रहा है।' ऐसा सोचकर वे क्रूरबुद्धिवाले पुरुषों ने गोशाल सहित प्रभु को पकड़ा और दोनों को डाकिन की तरह बांधकर कुंए में डाला और बार बार घडे की तरह ऊंचा-नीचा करने लगे। उस समय **सोमा** और **जयंति** नाम की उत्पल निमित्तिये की दो बहने जो पार्श्वनाथ प्रभु की शिष्या (उत्तम साध्वियाँ) बनी थी, वे उस गाँव में आयी थी। उन्होंने लोगों से सुना कि 'अमुक स्वरुपवाले किसी दो पुरुषों को आरक्षक लोग कुंए में डालकर ऊंचा-नीचा करके पानी में डाल-निकालकर कष्ट दे रहे हैं।' यह सुनकर उन्होंने सोचा कि 'शायद ये चरम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी होंगे।' ऐसा मानकर वे तत्काल वहाँ आयी तो वहां प्रभु को ऐसी स्थिति में देखा, तो उन्होंने आरक्षकों को कहा, 'अरे मूर्खो ! क्या तुम मरना चाहते हो ? क्या ये सिद्धार्थ राजा के पुत्र महावीर प्रभु हैं ऐसा तुम नहीं जानते ?' साध्वी के ऐसे वचन सुनकर उन्होंने भय पाकर प्रभु को छोड दिया और बार बार क्षमा माँगने लगे लेकिन ''महान पुरुष तो कोप करते ही नहीं हैं। वे तो अपनी आत्मा मलिन न हो जाय ऐसे संदेह से सदैव क्षमा ही करते हैं।''

प्रभु कुछ दिन यहां व्यतीत करके चौथा चौमासा करने के लिये **पृष्टचंपा** नगरी में पधारे। वहां चार मासक्षपण करके नाना प्रकार से प्रतिमा धरते हुए प्रभु चातुर्मास रहे। चौमासे के आखरी दिन कायोत्सर्ग पूरा करके वहां से निकलकर **कृतमंगल** नाम के नगर में गये। उस नगर में दरिद्र, स्थविरपन से पहचाने जाते, आरंभी, परिग्रहधारी और स्त्रीसंतान वाले कुछ पाखंडी बसते थे। उनके महोल्ले के बीच में एक बड़ा देवालय था। उसमें उनके कुलक्रम से चली आ रही किसी देवता की प्रतिमा थी। उस देवालय के एक कौने में मानो उसका स्तंभ हो त्यों निष्कंप होकर वीर प्रभु कायोत्सर्ग धरकर रहे। उस समय माघ मास था और ठंड बड़ी दुःसह्य पड़ती थी। प्रभु आये उस दिन उन पाखंडियों का उस देवालय में रात्रिमहोत्सव था, तो पुत्रपरिवार लेकर वे हर्षपूर्वक देवालय में इकट्ठे हुए। फिर नृत्य-गान करके जागरण करने लगे। यह देखकर गोशाल हँसकर बोला, ''अरे ! ये पाखंडी कौन होंगे ? कि जिनकी स्त्रियाँ मद्यपान करके ऐसा नृत्य-गान करती हैं ?'' यह सुनकर उन्होंने क्रोधित होकर उसे घर में से निकाल दिया। गोशाल ठंड से ठिठुरते हुए अंग संकुचित करते हुए और गायक ज्यों वीणा बजाय त्यों दंतवीणा को बजाते हुए बाहर खड़ा रहा। थोडी देर बाद अनुकंपा लाकर उन्होंने वापस गोशाल को अंदर दाखिल किया। कुछ देर में उसकी ठंड दूर हुई तो वह दुबारा पहले की तरह ही बोला, वापस उसको निकाल दिया, फिर दया लाकर वापस प्रवेश कराया। इस प्रकार कोप और कृपा करके उन्होंने गोशाल को तीन बार निकाला और प्रवेश कराया। जब चौथी बार गोशाल घुसा तब वह बोला, 'अरे पाखंडियों ! अल्पबुद्धिवाले ऐसे आपको सच कहने पर कोप क्यों होता है ? आपके ऐसे दुष्ट चारित्र पर कोप क्यों नहीं करते और मैं जो स्पष्ट वक्ता

हूं उसपर यूं बार बार कोप करते हो ?' यह सुनकर उसको कूटने के लिये पाखंडी तैयार हुए, तो उनके बुजुर्ग उनको रोक कर कहने लगे, 'यह महातपस्वी महात्मा देवार्य का कोई पीठधारी या उपासक ही लगता है, इसलिए उसके कहने पर ध्यान नहीं देना, वह भले ही स्वेच्छापूर्वक बोलता रहे, और यदि तुम सुन नहीं सकते हो तो वाद्य बजाये रखो।' उन्होंने वैसा किया और क्रमशः सूर्योदय हुआ तो वीर प्रभु वहां से विहार करके **श्रावस्ती** नगरी में आये और नगर के बाहर कायोत्सर्ग धरकर रहे।

भोजन का समय होने पर गोशाल ने प्रभु को कहा, 'भगवंत ! भिक्षा लेने चलिए। मनुष्य जनों में साररुप एक भोजन ही हैं।' सिद्धार्थ ने पहले की तरह कहा, 'अरे भद्र ! हमें उपवास हैं।' गोशाल ने पूछा, 'स्वामी ! तो मुझे आज कैसा आहार मिलेगा ?' सिद्धार्थ बोला, 'आज तो तूझे नरमांस की भिक्षा मिलेगी।' गोशाल बोला, 'जहां मांस की गंध भी न हो ऐसे स्थान पर मैं भिक्षा करूंगा।' ऐसा निश्चय करके वह श्रावस्ती पुरी में भिक्षा लेने घूसा।

उस नगरी में **पितृदत्त** नाम का एक गृहस्थ था। उसे **श्रीभद्रा** नाम की पत्नी थी। उसे मृतक पुत्र जन्मते थे। एक बार उसने **शिवदत्त** नाम के निमित्तिए को आदर से पूछा कि 'मेरे संतान किस प्रकार जियेंगे ?' उसने कहा, ''भद्रे ! जब तुझे मरा हुआ संतान जन्मे तब उसके रुधिरयुक्त मांस की दूध, घी और शहद के साथ मिलाकर खीर बनाना। फिर पैरों में धूलवाला कोई अच्छा भिक्षुक आये उसे दे देना। ऐसा करने से तेरे संतान जरुर जीयेंगे और तेरी प्रसूति नाश नहीं पायेगी। लेकिन वह भिक्षुक जब भोजन करके जाय तब तुझे तत्काल घर का द्वार परिवर्तन कर देना, क्योंकि शायद बाद में वह जान जाय तो भी कोप से तुम्हारे घर को जला न सके।'' संतान के अर्थवाली उस स्त्री को जब गोशाल भिक्षा के लिये गया उसी दिन ही बालक का जन्म हुआ होने से पूर्वोक्त प्रकार से उसने खीर बनायी, और जब गोशाल उसके घर आया तब उसने भक्ति से वह पायसान्न (खीर) उसे दिया। गोशाल वह खाकर प्रभु के पास आया और वह बात कह सुनायी। सिद्धार्थ ने खीर संबंधित जो मूल बात थी वह कह सुनायी तो गोशाल ने तत्काल मुख में ऊंगली डालकर वमन किया। उसमें बालक के नाखून वगैरह बारिक अवयव देखकर उसे बड़ा क्रोध चढ़ा, जिससे वह उस स्त्री का गृह ढूंढने निकला, लेकिन उसने गृह का द्वार बदल डाला होने से ग्वाले की तरह गोशाल उसके घर को पहचान न सका। फिर गोशाल बोला, 'यदि मेरे गुरु का तपतेज हो तो यह पूरा प्रदेश जल जाओ।' सान्निध्य में रहे व्यंतरों ने सोचा कि, 'प्रभु का माहात्म्य अन्यथा न हो' ऐसा सोचकर उन्होंने वह पूरा प्रदेश जला डाला।

वहां से विहार करके प्रभु **हरिद्रु** नाम के गाँव में गये। वहां गाँव के बाहर रहे हरिद्रु वृक्ष के नीचे प्रतिमा धरकर रहे। उस समय पत्र की छायारुपी छत्रवाले उसी वृक्ष के नीचे श्रावस्ती नगरी को जाता कोई बड़ा सार्थ ठहरा। बाघ से भय पाये हुए हो त्यों उस सार्थ ने ठंड से भय पाकर वहां रात्रि को अग्नि प्रज्वलित की। फिर प्रातःकाल में उठकर सार्थ चलता बना, लेकिन प्रमाद से उस अग्नि को बूझायी नहीं। जिससे वह अग्नि व्याधि की तरह प्रसरते हुए समुद्र में वडवानल की तरह

महावीर प्रभु के पास आई। उस समय 'भगवन् ! यह अग्नि नजदीक आई, इसलिये यहां से भाग जाय' ऐसा बोलते हुए गोशाल तत्काल काकपक्षी की तरह अन्यत्र भाग गया। प्रभु ने उसका वचन सुना था लेकिन कर्मरुपी इंधन को जलाने के लिये ध्यानरुपी अग्नि की तरह उस अग्नि को भी उपकारी मानते हुए प्रभु स्थिर होकर वहीं खड़े रहे।

हेमंत के तुषार (औंस) से कमल के दो कोश की तरह उस अग्नि से प्रभु के चरण श्याम हो गये। अग्नि शांत होने के बाद प्रभु गोशाल सहित **लांगल** नाम के गाँव में गये। वहां वासुदेव के मंदिर में प्रतिमा धरकर रहे। उस गाँव के बालक वहां क्रीडा करते थे, उनको गोशाल प्रेत की तरह विकृतरुप धरकर चारोंओर से डराने लगा। उसके भय से किसिके वस्त्र गिर गये, किसिकी नासिका फूटी, कोई चलते चलते गिर गया। इस प्रकार सब बालक गाँव की ओर भाग गये, तो उन बालकों के पिता वहां आये और गोशाल को विकृत रुप धारी देखकर, 'अरे ! हमारे बालकों को क्यों डराता हैं ?' ऐसा कहकर वे उसको बूरी तरह पीटने लगे। उस समय गांव के बुजुर्ग वहां आये, वे प्रभु को देखकर बोले, 'अरे मूर्खो ! उसे छोड़ दो। यह तो इस देवार्य का सेवक हो ऐसा लगता हैं।' उन्होंने बुजुर्गों के कहने पर उसे छोड़ दिया, तो गोशाल ने प्रभु को कहा, 'स्वामी ! अन्य लोग मुझे मारते हैं, फिर भी आप आज तक मेरी उपेक्षा क्यों करते हो ? आप तो वज्र समान निष्ठुर लगते हो।' सिद्धार्थ ने कहा, 'तू जो मार खाता है वह व्याधि की तरह अंग में से उठे हुए तेरे स्वभाव से ही खाता है।' फिर कायोत्सर्ग छोड़कर वहां से विहार करके प्रभु **आवर्त्त** नाम के गाँव में आये। वहां बलदेव के मंदिर में प्रतिमा धरकर रहे। गोशाल वहां भी पहले की तरह गाँव के बालकों को डराने लगा। उन बालकों के पिता ने वहां आकर दुर्मद सांढ की तरह उसे बहुत पीटा। उनके जाने के बाद वह फिर से उन बालकों को डराने लगा। 'प्राणियों से प्राणांत तक भी प्रकृति छूटती ही नहीं है।' क्रोध पाकर उन बालकों के पिता वहां आकर परस्पर कहने लगे कि 'इस बैचारे बलकुटक को मारना कुछ योग्य नहीं है, उसके स्वामी को ही मारो, क्योंकि वह उसे रोकता क्यों नहीं है ? सेवक अपराध करे तो उसके स्वामी को दंड करना चाहिये, ऐसी मर्यादा है।' फिर अपराध होने पर भी श्वान की तरह गोशाल को छोड़कर वे दुर्बुद्धि दंड तानते हुए वीर प्रभु के पास आये। इतने में वहां स्थित अर्हंत का कोई व्यंतर भक्त क्रोध से बलदेव की प्रतिमा में अधिष्ठित हुआ, जिससे मानो प्रत्यक्ष बलदेव हो त्यों उस बलदेव की प्रतिमा हल लेकर उनको मारने के लिये सामने से आयी। वह देखकर आशंका और आश्चर्य पाकर सब गाँववासी प्रभु के चरणकमल में गिरकर क्षमा माँगने लगे और स्वयं को कोसने लगे।

वहां से विहार करके प्रभु **चोराक** गाँव में आये और किसी एकांत स्थल पर प्रतिमा धरकर रहे। गोशाल ने कहा, 'स्वामी ! गोचरी जाना हैं या नहीं ?' सिद्धार्थ ने कहा, 'आज हमारा उपवास है।' फिर क्षुधातुर बना गोशाल अकेला उत्सुकतापूर्वक भिक्षा के लिये गाँव में गया। वहां किसी जगह मित्रगोष्ठी के लिये रसोई होती उसने देखी, तो 'भिक्षा का समय हुआ है, या नहीं ?' उसका निर्णय करने के लिये गोशाल छिप छिपकर देखने लगा। उस समय उस गाँव में चोर लोगों का बड़ा भय

था। जिससे 'यह छिपकर देख रहा है, इसलिये वह चोर है अथवा चोर का भेजा हुआ गुप्तचर है।' ऐसा तर्क करके गाँववासियों ने गोशाल को पीट डाला। गोशाल ने क्रोधित होकर शाप दिया कि, 'यदि मेरे धर्मगुरु का तपतेज हो तो इन लोगों का गोष्ठिमंडप जल जाय।' तो भगवंत के भक्त व्यंतरों ने उस मंडप को जला डाला। वहां से विहार करके प्रभु **कलंबुक** नाम के गाँव में गये। उस गाँव में **मेघ** और **कालहस्ती** नाम के दो शैलपालक भाइ रहते थे। उस समय कालहस्ती सैन्य लेकर चोरों के पीछे पड़ा था। उसने मार्ग में गोशाल सहित वीर प्रभु को आते हुए देखा, तो उन पर चोर का संदेह किया। ''ऐसे लोगों की बुद्धि ऐसी ही होती है।'' कालहस्ती ने पूछा ''तुम कौन हो ?'' परंतु मौनधारी प्रभु कुछ न बोले। गोशाल भी विनोद के लिये वानर की तरह मौन धरकर चूप रहा। फिर उसने गोशाल और प्रभु को बांधकर अपने भाई मेघ को सौंपा। वह मेघ सिद्धार्थ राजा का सेवक था और उसने पहले प्रभु को देखा हुआ था, जिससे प्रभु को पहचाना तो उसने प्रभु से क्षमा मांगकर उन्हें छोड़ दिया। प्रभु ने अवधिज्ञान से देखा, 'अभी भी मुझे कइं कर्म की निर्जरा करनी हैं। वे कर्म सहाय बिना मुझसे तुरंत पूरे किये जा सके ऐसा नहीं हैं[1]। क्योंकि सैनिकों के बिना शत्रुओं का बड़ा समूह जिता नहीं जाता। इस आर्य देश में विहार करने से मुझे ऐसी सहाय मिलना दुर्लभ हैं, इसलिये अब मैं अनार्य देश में विहार करुं।' ऐसा विचार करके बड़े गहरे सागर में जल-जंतु प्रवेश करें त्यों प्रभु **लाट** देश में गये, उस देश में प्रायः सब क्रूर स्वभावी मनुष्य ही रहते थे। वहां प्रभु को देखकर कोई 'मुंडा, मुंडा' कहकर मारने लगा। कोई स्पर्श[2] करके पकड़ने लगा। कोई चोर मानकर उनको बांधने लगा, कोई कूतुहलता से प्रभु पर भौंकते श्वानों को छोड़ने लगे और दूसरे अपनी मरजी अनुसार दूसरी अनेक प्रकार की विडंबना करने लगे। परंतु ज्यों रोगी अति उग्र औषध से रोग का निग्रह होता जानकर आनंद पाये, त्यों प्रभु ऐसे उपसर्गो से कर्म नाश होते जानकर बड़ा हर्ष पाते थे। वन में से पकड लाये हाथी की तरह गोशाल ने भी वहां बंधन और ताड़न वगैरह की अनेक वेदनाए सहन की। प्रभु वहां कर्म की बड़ी निर्जरा करके मानो कृतार्थ हुए हो त्यों आर्य देश के सम्मुख चले। क्रमशः **पूर्णकलश** नाम के गाँव के समीप जाने पर उस लाट देश की भूमि में प्रवेश करना चाहते दो चोरों ने प्रभु को सामने से आते हुए देखा, तो 'यह असगुन हुआ' ऐसा मानकर उन्होंने प्रभु को मारने की इच्छा से कटार निकाली और आते हुए प्रेत की तरह खड़ग उठाकर प्रभु के सामने दौडे। उस समय देवलोक में बैठे हुए इन्द्र को चिंतन हुआ कि 'इस समय वीर प्रभु कहां होंगे ?' अवधिज्ञान से देखते हुए उसने प्रभु को तथा उनको मारने के लिये तैयार हुए उन दोनों चोरों को वहां देखा। तत्काल सिंह ज्यों हाथी को मार सके ऐसे पंजे से दो हिरन को मारे त्यों इन्द्र ने बडे पर्वत को तोड़ सके ऐसे पराक्रमी वज्र द्वारा उन दोनों चोरों को मार डाला।

वहां से विहार करके प्रभु **भद्दिलपुर** आये। वहां चार मास के उपवास (चोमासी तप) करके पाँचवां चातुर्मास रहे। तप का पारणा करके वहां से विहार करते हुए क्रमशः प्रभु **कदली समागम** नाम के गाँव समीप आये। वहां के लोग याचकों को अन्न देते थे[3], वह देखकर गोशाल ने प्रभु

१. यहां उपद्रवादिक के करनेवालों को सहायक माना हैं। २. आर्य राजा के गुप्तचर। ३. सदाव्रत था।

को कहा, 'स्वामी ! यहां भोजन कीजिए।' सिद्धार्थ ने कहा कि, 'हमे आज उपवास है।' 'तब तो मैं अकेला ही भोजन करुंगा।' ऐसा कहकर वह वहां गया। गोशाल वहां भोजन के लिये बैठा, लेकिन पिशाच की तरह तृप्त नहीं हुआ, तो गाँववासियों ने सर्व अन्न से भरा हुआ एक थाल उसको अर्पण कर दिया। गोशाल उसका पूरा अन्न खा नहीं सका, कंठ तक आहार किया, जिससे पानी पीने में भी मंद हो गया। इसलिये उन लोगों ने 'अरे ! तू तेरी आहार करने की शक्ति को भी जानता नहीं है, इसलिये क्या तू मूर्तिमान अकाल हैं ?' ऐसा कहकर वह थाल उसके मस्तक पर फैंका। फिर तृप्ति से पेट को सहलाते सहलाते गोशाल वहां से चला गया।

वहां से विहार करके प्रभु **जंबुखंड** नाम के गाँव में गये। प्रभु कायोत्सर्ग में रहे। गोशाल सदाव्रत का भोजन पाने की इच्छा से पूर्ववत उस गाँव में गया। पहले की भाँति ही वहां भी उसे भोजन और तिरस्कार दोनों मिले। वहां से विहार करके प्रभु **तुंबाक** नाम के गाँव समीप आये। प्रभु बाहर प्रतिमा धरकर रहे और गोशाल गाँव में गया। उस गाँव में बहुश्रुत और अनेक शिष्यो के परिवार सहित श्री पार्श्वनाथ के शिष्य वृद्ध **नंदिषेणाचार्य** आये थे। वे गच्छ की सब चिंता छोड़कर जिनकल्प के प्रतिकर्म[1] को करते थे। उन्हें देखकर गोशाल मुनिचंद्राचार्य की तरह उनका भी हास्य करके प्रभु के पास आया। वे महर्षि नंदिषेण रात्रि में उस गाँव के किसी चौक में धर्मध्यान करने के लिये कायोत्सर्ग धरकर स्तंभ की तरह स्थिर रहे। चौकी करने निकले हुए ग्रामरक्षकों ने उनको चोर की भ्रांति से मार डाला। वे तुरंत अवधिज्ञान पाकर मृत्यु पाने के बाद देवलोक में गये। देवताओं ने उनकी महिमा की। यह देखकर गोशाल ने वहां आकर उनके शिष्यों का पूर्ववत तिरस्कार किया।

वहां से विहार करके प्रभु **कुपिका** नाम के गाँव समीप आये। वहां आरक्षक लोगों ने प्रच्छन्न चरपने की भ्रांति से गोशाल सहित प्रभु को परेशान किया। उस समय 'निरपराधी ऐसे किसी रुपवान, शांत और युवा देवार्य को गुप्तचर की भ्रांति से आरक्षक मार रहे हैं' ऐसा वार्तालाप लोगों में फैला। वह वार्तालाप श्री पार्श्वनाथ की **प्रगल्भा** और **विजया** नाम की दो शिष्या चारित्र छोड़कर निर्वाह के लिये परिव्राजिका होकर रहती थीं उन्होंने सुना कि 'शायद वे वीर प्रभु तो नहीं होंगे ?' ऐसी शंका करते हुए वहां आयीं। वहां भगवंत को ऐसी स्थिति में देखा, तो उन्होंने प्रभु को वंदना करके आरक्षकों को कहा, ''अरे मूर्खों ! ये सिद्धार्थ राजा के पुत्र श्री महावीर हैं, ऐसा क्या आप नहीं जानते ? अब जलदी से उनको छोड़ दो क्योंकि, यह खबर यदि इन्द्र जानेगा तो तुम्हारे पर प्राणहर वज्र छोडेगा।'' इस प्रकार सुनकर उन्होंने प्रभु को छोड़ा और बार बार क्षमा मांगी। फिर भगवंत वहां से **विशालापुरी** की ओर चले। आगे जाते हुए दो मार्ग आये, तो गोशाल ने कहा कि ''हे नाथ ! मैं आपके साथ नहीं आऊंगा, क्योंकि मुझे कोई मारता है तब आप निष्पक्ष होकर देखा करते हो, और आपको उपसर्ग होते हैं, उसके साथ मुझे भी उपसर्ग होते हैं, क्योंकि अग्नि सूखे के साथ हरे को भी जलाती हैं। और लोग पहले मुझे मारते हैं और फिर आपको मारते हैं तथा

१. जिनकल्प की तुलना।

अच्छे भोजन की इच्छा होने पर भी किसी दिन भोजन होता है और किसी दिन भूखा रहना पड़ता है और पाषाण में और रत्न में, अरण्य और नगर में, धूप में और छाँव में, अग्नि में और जल में, मारने आनेवाले में और सेवक में, निर्विशेष समदृष्टि रखनेवाले ऐसे आपकी सेवा मूढबुद्धिवाले पुत्र की तरह कौन करे ? एक ताल वृक्ष की सेवा करे ऐसी निष्फल आपकी सेवा मैंने भ्रांत होकर आज तक की है, यह याद रखना, अब मैं ऐसी सेवा करुंगा नहीं।'' सिद्धार्थ बोला, 'तुझे जो योग्य लगे वह कर। हमारी तो ऐसी ही रिति है, वह कदापि अन्यथा नहीं होगी।'

फिर प्रभु वहां से विशाला नगरी के मार्ग पर चले और गोशाल अकेला राजगृह नगर के मार्ग चला। आगे जाते हुए सर्पवाले बड़े बिल में चूहा घुसे त्यों जिसमें पांचसौं चोर रहते हैं, ऐसे एक बड़े अरण्य में गोशाल ने प्रवेश किया। एक चोर ने गीध की तरह वृक्ष पर से गोशाल को दूर से आता देखा तो उसने दूसरे चोर को कहा कि 'कोई द्रव्यविहिन नग्न पुरुष आ रहा है।' वे बोले कि 'वह नग्न है तो भी हमें उसको छोड़ना नहीं हैं, क्योकि शायद वह किसिका भेजा हुआ गुप्तचर भी हो सकता है। इसलिये वह हमारा पराभव करके जाय यह उचित नहीं है।' इस प्रकार सोचकर वे समीप आये गोशाल को 'मामा, मामा' कहकर बारी बारी से उसके कंधे पर चढ़कर उसे चलाने लगे। बार बार इस प्रकार चलवाने से गोशाल के शरीर में श्वास मात्र बाकी रहा। तो चोर लोग उसे छोड़कर वहां से अन्यत्र चले गये। गोशाल ने सोचा, 'स्वामी से अलग होते ही प्रारंभ में ही श्वान की तरह मैंने ऐसी दुःसह्य विपत्ति भोगी। प्रभु की विपत्ति को तो इन्द्रादिक देवता भी आ आकर दूर करते हैं, तो उनके चरण की शरण में रहने से मेरी भी विपत्तियाँ नाश पाती हैं, जो प्रभु रक्षण करने के लिये स्वयं समर्थ है, फिर भी किसी कारण से उदासीन रहते हैं, ऐसे प्रभु को मंदभाग्यवाला पुरुष धन के निधि को प्राप्त करे, त्यों अब मैं किस प्रकार प्राप्त करुंगा ? तो चल, उसकी ही खोज करुं।' ऐसा निश्चय करके गोशाल प्रभु के दर्शन के लिये उस वन का उल्लंघन करके अश्रांततापूर्वक (थके बिना) घूमने लगा।

प्रभु **विशाला** नगरी में आये। वहां कोई लुहकार की शाला में लोगों की आज्ञा लेकर प्रभु प्रतिमा धरकर रहे। उस शाला का स्वामी लुहार छः माह तक रोग से पीडा पाकर हाल ही में निरोगी बना था। उस दिन अपने स्वजनों सहित अपनी कोढ़ में आया। वहां प्रभु को देखकर उसने सोचा कि 'पहले ही दिन मुझे इस पाखंडी के दर्शन हुए, यह बड़ा असगुन हुआ, इसलिये इसके उपर ही लोहे का हथोडा मारकर इस अमंगल को दूर करुं।' फिर वह दुष्ट प्रभु को मारने के लिये बड़ा हथोडा उठाकर दौडा। उस समय इन्द्र को विचार आया कि 'इस समय प्रभु कहां होगे ?' अवधिज्ञान से देखते ही उस लुहार को हथोडा मारने के लिये तत्पर हुआ जानकर इन्द्र तत्काल वहाँ आया और अपनी शक्ति से वह हथोडा उसके ही सिर पर गिराया। जिससे ज्यों-त्यों रोगमुक्त होने पर भी उस हथौडे के प्रहार से वह लुहार यमद्वार पहुँच गया। इन्द्र प्रभु को नमन करके सौधर्म कल्प में गये। वहां से विहार करके प्रभु **ग्रामक** नाम के गाँव समीप आये। वहां बिभेलक नाम के उद्यान में स्थित बिभेलक नाम के यक्ष के मंदिर में प्रभु कायोत्सर्ग करके रहे। उस यक्ष को पूर्व जन्म

में समकित प्राप्त हुआ था, जिससे उसने अनुराग धरकर दिव्य पुष्प और विलेपनादिक से प्रभु की पूजा की।

वहां से विहार करके प्रभु **शालिशीर्ष** नाम के गाँव में पधारे। वहां उद्यान में प्रतिमा धरकर रहे। उस समय माघ मास प्रवर्तित था। वहां **कटपूतना** नाम की एक वाणव्यंतरी देवी थी, वह प्रभु के त्रिपृष्ठ के जन्म में प्रभु की **विजयवती** नाम की पत्नी थी। उस भव में उसको भली प्रकार से मान न मिलने से क्रोधित होकर मृत्यु पायी थी। कुछ भव में भटकने के बाद वह मनुष्य भव पायी थी। उस भव में बालतप करके मृत्यु पाकर इस भव में वह व्यंतरी बनी थीं। पूर्व के बैर से और प्रभु के तेज को सहन न कर सकने से उसने प्रभु के पास आकर तापसी का रुप बनाया। फिर सिर पर जटा धारण करके, वल्कल के वस्त्र पहनकर, हिम जैसे शीतल जल में शरीर को डुबोकर प्रभु के उपर ऊंचे खड़ी रही। फिर पवन फैलाकर साही की तरह शरीर को कंपाने लगी। जिससे उसके शरीर पर से जल के अति दुःसह्य शीतल बिंदु प्रभु पर ऊंचे से गिरने लगे। जटा के अग्र भाग से और वल्कल में से गिरते जलबिंदुओं ने प्रभु को भिगो दिया। यदि दूसरा कोई पुरुष उस जगह होता तो शीत से कष्ट पाकर फट जाता, अर्थात् प्राण चले जाते। इस प्रकार पूरी रात्रि शीतोपसर्ग को सहन करते हुए प्रभु का अत्यंत कर्मों को नाश करनेवाला धर्मध्यान विशिष्ट रुप में चमक उठा और अनुत्तर विमान में रहे देव हो त्यों सब लोक का अवलोकन करानेवाला विशिष्ट प्रकार का[1] अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ। श्री वीरप्रभु को देवभव में भी जब जब सहज अवधिज्ञान प्राप्त होता, तब वे एकादशांगी सूत्रार्थ के धारण करनेवाले होते थे। रात्रि व्यतीत हो गयी तो कटपूतना शांत हो गयी। फिर उसने बड़ा पश्चात्ताप करके भक्तिपूर्वक प्रभु की पूजा करने के बाद वह अपने स्थानक पर गयी।

वहां से विहार करके प्रभु **भद्रिकापुरी** में आये। वहां दीक्षा लेने के बाद छट्ठा चौमासा करने के लिये प्रभु अपना तप करते हुए स्थिति करके रहे। वहां छः मास के बाद गोशाल आकर मिला। पहले की भाँति वह प्रभु की सेवा करते हुए साथ रहा। प्रभु ने विविध अभिग्रहपूर्वक वहां चार मासक्षपण किये। फिर वर्षाकाल व्यतीत करके नगरी के बाहर पारणा किया।

इत्याचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि विरचिते त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरिते महाकाव्ये
दशमपर्वणि श्री महावीर प्रथम षड् वर्ष विहार वर्णनो नाम तृतीयः सर्गः।।३।।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

१. लोकावधि।

चौथा सर्ग

श्री महावीर स्वामी के दूसरे छः वर्ष का छद्मस्थ विहार

गोशाल द्वारा सेवित श्री वीर भगवंत ने इसके बाद आठ महिने तक बिना उपसर्ग के **मगध** देश की भूमि में विहार किया। फिर **आलंभिका** नाम की नगरी में गये। वहां चार मासक्षपण करके चौमासा व्यतीत किया। चौमासा पूरा होने के बाद उस नगर के बाहर पारणा करके प्रभु गोशाल सहित कुंडक नाम के गाँव में आये। वहाँ वासुदेव मंदिर के एक कौने में मानो रत्नमय प्रतिमा बैठायी हो त्यों प्रभु प्रतिमा धरकर रहे। प्रकृति से ही निर्लज और बड़े समय से की हुई मग्नता से आतुर बना गोशाल वासुदेव की प्रतिमा के मुख समीप पुरुषचिह्न धरकर खड़ा रहा। इतने में उसका पूजारी आया। गोशाल को इस तरह से खड़ा हुआ देखकर वह सोचने लगा कि 'यह कोई पिशाचग्रस्त अथवा पागल आदमी दिखता है।' ऐसा मानकर वह अंदर आया और उसे बराबर देखा, तो उसको नग्न देखकर उसने सोचा कि 'यह कोई नग्न जैन साधु लगता हैं।' आगे और सोचा, 'यदि मैं इसको मारुंगा तो लोग कहेंगे कि इस दुष्ट ने निर्दोष ऐसे साधु को बेवजह मारा है, तो गाँव को इसका जो उचित होगा वह करेंगे। मैं इसकी पूरी बात गाँव लोगों को जाकर बताऊं।' यों सोचकर वह गाँवलोगों को उसे दिखाने के लिये बुला लाया। गाँव के बालक तत्काल उसे चाँटे और मुष्टियों से मारने लगे। फिर 'यह पागल है, इसलिये मारने से काम हो गया' ऐसा कहकर बुजुर्ग लोगों ने उसे छुडवाया।

कर्मरुपी शत्रु को मर्दन करनेवाले प्रभु वहां से विहार करके **मर्दन** नाम के गाँव समीप आये। वहां बलदेव के मंदिर में प्रभु प्रतिमा धरकर रहे। वहां भी पहले की भाँति बलदेव के मुख में पुरुषचिह्न रखकर गोशाल खड़ा रहा, जिससे पहले की तरह गाँव लोगों ने उसे पीटा और पहले की तरह ही वृद्धों ने उसे छुडवाया। वहां से विहार करके तपस्वी प्रभु **बहुशाल** नाम के गाँव में गये। वहां शालवन नाम के उद्यान में प्रतिमा धरकर रहे। वहां **शालार्या** नाम की एक व्यंतरी थी, बेवजह क्रोध पाकर प्रभु पर कर्म का घात करनेवाले कुछ उपसर्ग किये। उपसर्ग करते हुए जब वह थक गयीं तब उसने प्रभु की पूजा की। फिर वहां से विहार करके वीर प्रभु **लोहार्गल** नाम के गाँव में आये। वहां **जीतशत्रु** नाम का राजा था। उस राजा को किसी राजा के साथ विरोध चल रहा था, जिससे राजपुरुषों ने मार्ग में प्रभु को गोशाल सहित आते देखा तो 'तुम कौन हो ?' ऐसा उन्होंने पूछा, लेकिन मौनधारी प्रभु कुछ भी बोले नहीं। जिससे 'ये कोई शत्रु के गुप्तचर हैं' ऐसा सोचकर उनको पकड़कर जीतशत्रु राजा को सौंपा। वहां अस्थिक गाँव से उत्पल निमित्तिया आया था। उसने प्रभु को पहचाना, तो वंदना करके उसने जीतशत्रु राजा को संपूर्ण बात बतायी। फिर राजा ने भी भक्तिपूर्वक प्रभु की वंदना की।

वहां से विहार करके प्रभु **पुरिमताल** नगर पधारे। वहां पहले ऐसी घटना घटी थी कि वहां **वागुर** नाम का एक धनाढ्य सेठ रहता था। उसे **भद्रा** नाम की पत्नी थी। वह बांझ थी, वह संतान

के लिये देवताओं की मनौती कर करके थक गई थी। एक बार वे दोनों शकटमुख नाम के उद्यान में गये। वहां उन्होंने देव की भाँति पुष्प चुनने वगैरह से चिरकाल क्रीडा की। क्रीडा करते करते वे एक बड़े जीर्ण मंदिर समीप आये। कुतूहलता से दोनों ने उसमें प्रवेश किया। अंदर दृष्टि को अमृत समान श्री मल्लीनाथ प्रभु की प्रतिमा देखकर श्रद्धापूर्वक उन्होंने वंदना की। फिर प्रार्थना की, 'हे देव ! आपकी कृपा से यदि हमें पुत्र या पुत्री होगी, तो हम आपके इस चैत्य का उद्धार करेंगे, और तब से सदा आपके भक्त होकर रहेंगे।' इस प्रकार कहकर वे अपने घर आये। वहां समीप में कोई अर्हंतभक्त व्यंतरी का निवास था। उसके प्रभाव से भद्रा के उदर में गर्भ ठहरा, जिससे सेठ को देव पर विश्वास बैठा। गर्भ के दिनसे ही लेकर उसने बड़े हर्ष से दुर्गति में से अपनी आत्मा की तरह उस देवालय का उद्धार करना प्रारंभ किया। और बुद्धिमान वागुर सेठ ने लिये हुए अभिग्रह अनुसार प्रतिदिन वहां जाकर उस मल्लिनाथ की प्रतिमा की त्रिकाल पूजा करने लगा। उसको जिनभक्त जानकर विचरते हुए साधु और साध्वी भी उसके घर आने लगे और वह भी सदैव उनकी पूजा-सत्कार करने लगा। नित्य के साधु-संग से श्रेष्ठ बुद्धिवाले वे सेठ-सेठानी श्रावकपना पाकर सब विधि के ज्ञाता बन गये।

उस समय श्री वीरभगवंत उस पुरिमताल नगर के शकटमुख नाम के ही उद्यान में काउसग्ग करके रहे। वहां इशानेन्द्र जिनेश्वर को वंदना करने आया। उसने मल्लिनाथ प्रभु के बिंब की पूजा करने जाते हुए उस वागुर सेठ को देखा, तो इशानेन्द्र ने कहा, 'अरे सेठ ! इस प्रत्यक्ष जिनेश्वर का उल्लंघन करके जिनेश्वर के बिंब को पूजने के लिये आगे कहां जाते हो ? ये भगवान श्री वीरस्वामी चरम तीर्थंकर हैं, वे छद्मस्थता से विहार करते हुए यहां प्रतिमाधारी बनकर रहे हैं।' यह सुनकर वागुर सेठ ने मिथ्या दृष्कृत देकर तीन प्रदक्षिणा करके कूर्म की भाँति शरीर संकुचन करके भक्तिपूर्वक प्रभु की वंदना की। फिर इशानेन्द्र और वागुर सेठ प्रभु को नमन करके अपने स्थान पर गये।

वहां से विहार करके प्रभु **उष्णाक** नाम के नगर की ओर चले। मार्ग में ताजे ब्याहे हुए और बिलकुल विरुप आकृतिवाले कोई वरवधू सामने मिले। उनको देखकर गोशाल बोला, 'अहो ! देखो तो सही ! इन दोनों के कैसे बड़े पेट हैं, बड़े दांत हैं, ठोडी और गरदन लंबी है, पीठ पर कूबड़ निकला है और नाक चपटा है। अहो ! विधाता की जोडी बनाने की यह खूबी कैसी है, कि जिन्होंने वरकन्या दोनों को एक समान मिला दिया हैं ! मैं तो मानता हूँ, ये विधाता भी कुतूहली हैं।' इस प्रकार गोशाल उनके समक्ष बार बार जाकर कहने लगा और विनोदी विदूषक की भाँति बार बार अटहास्य करने लगा। यह देखकर उस वधू-वर के साथ के आदमी क्रोधायमान हुए। जिससे उन्होंने गोशाल को चोर की भाँति मयूरबंध से बांधकर बांस के जाल में फैंक दिया। गोशाल ने प्रभु को कहा, 'हे स्वामी ! मुझे बांधा है, फिर भी आप मेरी उपेक्षा क्यों करते हो ? आप अन्य जनो पर भी कृपालु हो, तो क्या अपने सेवक पर कृपालु नहीं हो ?' सिद्धार्थ ने कहा, 'वानर की भाँति चपलता करनेवाले ऐसे तुझे तेरे अपने दुश्चरित्र से सदैव विपत्तियां तो सिद्ध हो चूकी हैं।' प्रभु थोड़ा दूर जाकर

उसकी राह देखते हुए खड़े रहे, तो उस वधू-वर के आदमी प्रभु को देखकर सोचने लगे कि 'देखो ! यह महातपस्वी दैवार्य इस पुरुष की राह देख रहे हैं, इसलिये यह आदमी शायद उनका पीठधारी, छत्रधारी या कोई अन्य कार्य करनेवाला सेवक होगा।' इस प्रकार सोचकर उन्होंने प्रभु के लिये गोशाल को छोड़ दिया। फिर प्रभु उसके साथ चलते हुए क्रमशः गोभूमि में आये। गोशाल ने ग्वालों को पूछा, 'अरे बीभत्स मूर्तिवालों ! अरे म्लेच्छो ! अरे अपनी ही आभिरपल्ली में शूरवीर ग्वालों ! कहो, यह मार्ग कहां जाता है ?' ग्वाले बोले, 'अरे ! मुसाफिर ! तू बेवजह हमे गालियां क्यों दे रहा है ? अरे बदमाश ! तेरा नाश हो जायेगा।' गोशाल ने कहा, 'अरे दासीपुत्रों ! यदि तुम मेरा इतना आक्रोश सहन नहीं कर पाओगे, तो मैं और अधिक आक्रोश करुंगा और मैंने तुम सबको कोई गालियां नहीं दी हैं, मैंने तो तुमको म्लेच्छ और बीभत्स कहा है, तो क्या तुम म्लेच्छ और बीभत्स नहीं हो ? मैंने गलत क्या कहा है ?' ऐसा सुनते ही उन्होंने क्रोध से गोशाले को बांधकर बांस के वन में फेंक दिया परंतु दूसरे दयालु यात्रियों ने उसे छुडवाया। वहां से विहार करके प्रभु राजगृह नगर पधारे। वहां चार मासक्षपण द्वारा विविध प्रकार के अभिग्रह करके प्रभु ने आठवां चौमासा व्यतीत किया। चतुर्मास के अंत में नगर के बाहर प्रभु ने पारणा किया।

इसके बाद प्रभु ने सोचा कि 'मुझे अब भी बहुत कर्म-निर्जरा करनी बाकी हैं।' ऐसा सोचकर कर्मनिर्जरा के लिये प्रभु गोशाल सहित बज्रभूमि, शुद्धभूमि और लाट वगैरह म्लेच्छ देशों में घूमे। उन देशों में परम-अधार्मिक जैसे स्वच्छंदी म्लेच्छ विविध उपसर्गों से श्री वीरप्रभु को उपद्रव करने लगे। कोई प्रभु की निंदा करता, कोई प्रभु पर हँसता और कोई श्वान वगैरह दुष्ट प्राणियों को लेकर प्रभु को घेर लेते थे, लेकिन 'इससे कर्म का ध्वंस होता है' ऐसा मानकर शल्य के उद्धार के साधनों से छेदादिक होने से ज्यों रोगी हर्ष पाये त्यों प्रभु उन उपसर्गों से उलटे ही हर्ष पाते थे। कर्मरोग की चिकित्सा करनेवाले प्रभु कर्म का क्षय करने में मददगार उन म्लेच्छो को बंधु से भी अधिक मानते थे। जिनके चरणांगुष्ठ मात्र दबाने से अचल ऐसा मेरु भी कंपायमान हुआ था, ऐसे श्री वीरप्रभु भी कर्म से कष्ट पाने पर भी इस प्रकार रहते हैं। शक्रेन्द्र ने उनकी आपत्ति दूर करने के लिये सिद्धार्थ व्यंतर की नियुक्ति की है, लेकिन वह तो सिर्फ गोशाल को उत्तर देने के लिये ही उपयोगी बन पड़ा। दूसरे समय तो वह उपस्थित रहता ही नहीं था। प्रभु के चरणों में बड़े बड़े सुरेन्द्र आकर बार बार लोटते है और किंकर बनकर रहते है। इन्द्र आदि भी प्रभु को प्राप्त हो रही कर्मजन्य पीडा में सिर्फ उदासी बनकर रहते है। जिनके नाम मात्र से दुष्ट उपद्रव द्रवित हो जाते हैं, वैसे प्रभु को उलटे ही अति क्षुद्र लोग उपद्रव करते हैं, किसके आगे जाकर ऐसी बात करें ? जगत के उस कृतघ्न सुकृतो को धिक्कार है कि जो स्वामी से उत्पन्न हुए हैं, फिर भी ऐसे विघ्न में फँसे स्वामी की रक्षा करते नहीं हैं। पूरे जगत का रक्षण और क्षय करने का अपना बल होने पर भी प्रभु उसका किंचित भी उपयोग नहीं करते हैं, क्योंकि 'संसार सुख के लालसी पुरुष ही अपने बल का इस प्रकार का फल पाना चाहते हैं।' आश्रयस्थान भी न मिल पाने से ठंड और धूप को सहन करते हुए प्रभु छः मास तह धर्म जागरण करते हुए उस भूमि में रहे और शून्यागार या वृक्षतले रहकर

धर्मध्यान में लीन ऐसे प्रभु ने नौवां चातुर्मास व्यतीत किया।

वहां से विहार करके प्रभु गोशाल के साथ **सिद्धार्थपुर** आये। वहां से **कूर्मगाँव** तरफ चले। मार्ग में एक तिल का पौधा दैखकर गोशाल ने प्रभु को पूछा, 'स्वामी ! तिल का यह पौधा फलेगा या नहीं ?' भवितव्यता के योग से प्रभु स्वयं ही मौन छोडकर बोले, 'हे भद्र ! यह तिल का पौधा फलित होगा। पुष्प के सात जीव जो दूसरे पौधे में रहे हैं, वे च्यूत होकर इसी पौधे में तिल की फली में उतने ही तिल रुप में उत्पन्न होंगे।' प्रभु के इस प्रकार के वचन पर गोशाल को श्रद्धा न बैठने से उसने उस तिल के पौधे को मिट्टि सहित उखाडकर अन्यत्र रख दिया। उस समय 'प्रभु की वाणी असत्य न हो' ऐसा सोचकर समीप रहनेवाले किसी देवता ने तुरंत ही वहां मेघवृष्टि की, जिससे वहां की जमीन और तिल का पौधा थोड़ा आर्द्र हुआ। इतने में इस प्रदेश में कोई गाय निकली। उसके पैर से वह पौधा जमीन में दबाया, तो वह आर्द्र भूमि में घुस गया। फिर पृथ्वी के साथ चिपक जाने से वह चौंट गया। क्रमशः उसकी जड़ गहरी गयी और नये अंकुर उत्पन्न हुए। क्रमशः उसकी फली में प्रभु के कहे अनुसार पुष्प के सात जीव तिल रुप में उत्पन्न हुए और बढ़ने लगे। भगवंत वहां से दुष्ट बुद्धिवाले और अपने को प्रभु का सच्चा भक्त मानते गोशाले सहित **कूर्म** गाँव में गये।

अब **चंपा** और **राजगृही** नगरी के बीच धन से पूर्ण और महिमंडल में मंडनरुप **गौबर** नाम का एक गाँव है। उसमें **गोशंखी** नाम का एक आहीरपति कुटुम्बिन (कणबी) रहता था। उसे **बंधुमती** नाम की एक बांझ स्त्री थी, जो उसे बहुत प्यारी थी। उस गाँव के समीप **खेटक** नाम का एक गाँव था। वह गाँव चोर लोगों ने आकर लूंट लिया और कइं लोगों को बंधक के रुप में पकड़ा। उस समय **वेशिका** नाम की किसी स्त्री ने पुत्र को जन्म दिया। उसका पति मारा गया होने से उसे स्वरुपवान जानकर चोर लोगों ने उसे साथ लिया। प्रसव रोग से पीडित ऐसी वह स्त्री वृषभ जैसे दुर्दांत और तेजी से चलते हुए चोर लोगों के साथ हाथ में बालक लेकर चल न सकी, तब चोर बोले कि 'अरे स्त्री ! यदि तू जीना चाहती हो तो मूर्तिमंत व्याधि जैसे इस बालक को छोड़ दे।' फिर वह वेशिका बालक को एक वृक्ष तले छोड़कर भय पाते हुए चोर लोगों के साथ चलीं। ''सब लोगों को प्राण से ज्यादा दूसरा कुछ भी प्रिय नहीं है।'' प्रातःकाल में वह गोशंखी कुटुम्बिक वहां आया, उसने उस बालक को देखा। उसे स्वरुपवान देखकर उसको ग्रहण किया और घर आकर अपनी पत्नी को पुत्र रुप में रखने के लिये अर्पण किया। ''अपुत्रवालों को अन्य का पुत्र भी अति प्यारा लगता है।'' फिर उस बुद्धिमान कुटुम्बिक ने एक मेष को मारकर उसके रुधिर से बालक को लेपकर अपनी पत्नी को सूतिका का वेष पहनाकर लोगों में ऐसी बात फैलायी कि 'मेरी स्त्री को गूढ गर्भ था, तो आज पुत्र का जन्म हुआ है' ऐसा कहकर उसने लोगों में महोत्सव किया। यहां उस बालक की माता वेशिका को जो चोर लोग ले गये थे, उन्हों ने उसे चंपापुरी के चौक में बेचने के लिये खड़ी रखी। उसे अपने धंधे के योग्य जानकर किसी वेश्या ने खरीदा। फिर उस वेश्या ने उसे गणिका का संपूर्ण व्यवहार सिखाया। क्रमशः रुप में अप्सरा का भी तिरस्कार करे ऐसी वह वेशिका एक प्रसिद्ध गणिका बन गयीं। उस वेशिका का पुत्र गोशंखिक कुटुम्बिक के घर युवा बना। एक बार

वह मित्रों के साथ घी का शकट वेचने के लिये चंपानगरी में आया। वहां नगरजनों को चतुर रमणियों के साथ विलास करते हुए देखकर वह भी विलास करने की इच्छा से गणिकाओं के महोल्ले में गया। वहां अन्य वेश्याओं के बीच में उसने अपनी माता वेशिका को देखा, तो उसके साथ रमण करने की उसे इच्छा हुई। ''अज्ञान मनुष्य पशु जैसे ही होते हैं।'' फिर उसने तत्काल उसे एक आभूषण दिया और रात्रि को स्नान, विलेपन आदि करके वह उसके घर की और चला। मार्ग में जाते हुए उसका एक पैर विष्टा में गिरा लेकिन काम में मोहित बने उसने कुछ भी जाना नहीं। उस समय उसे प्रतिबोध देने के लिये उसके कुलदेवता ने मार्ग में एक गाय और बछडा बनाया। उस बछडे को देखकर अपना पाँव उसके साथ वह घिसने लगा, इतने में वह बछडा मनुष्य वाणी में गाय को कहने लगा, 'माता ! देखो यह कोई पुरुष धर्मरहित निर्दयता से अपने विष्टा चिपके पांव को मेरे साथ घिसता है।' वह सुनकर गाय बोली, 'वत्स ! खेद मत कर, उसका यह अपकृत्य कुछ विशेष नहीं है, क्योंकि कामदेव का गधा बनकर वह अपनी माता के साथ विलास करने के लिये तेजी से जा रहा हैं।' यह सुनकर उसने सोचा कि 'यह गाय मनुष्यवाणी में ऐसा क्यों बोलती हैं ? इसलिये मैं उस वेश्या की जाँच तो करुं' - ऐसा सोचकर वह उस वेश्या के घर आया। वेश्या ने अभ्युत्थान वगैरह करके उसका सत्कार किया लेकिन उस गाय की वाणी से संदेह में पड़ा होने से उस पुरुष के चित्त में कामव्यापार का अवरोध हो गया था, तो उसने क्षणभर बाद उस वेश्या को कहा, 'भद्रे ! आपकी जो परंपरा हो वह कहो।' उसका वह वचन मानो सुना ही न हो त्यों वह वेश्या उसे अनेक प्रकार के हावभाव बताने लगीं। ''वेश्याओं का प्रथम कामशासन ही है।'' फिर से वह बोला, ''यदि तुम तुम्हारी हकीकत बताओगी तो मैं तुम्हें दुगूना द्रव्य दूंगा। इसलिये वास्तविकता कहो, तुम्हें तुम्हारे माता-पिता की सोगंध हैं।'' इस प्रकार जब उसने बार बार कहा तब उसने जो यथार्थ था वह कह सुनाया। यह सुनकर संदेह पाकर वह वहां से उठ गया और तत्काल अपने गाँव गया। वहां जाकर उसने उस कुटुम्बिक माता-पिता को पूछा कि 'मैं आपका अंगज पुत्र हूँ या खरीद किया हुआ हूं ? अथवा किसी दूसरी तरह से पाया हुआ पुत्र हूं ? जो वास्तविक हो वह कहिए।' उन्होंने कहा कि 'तू हमारा अंगज पुत्र है।' इस प्रकार असत्य कहने पर वह दुःखी होकर नाराज बनकर बाहर जाने लगा, तो उन्होंने जिस तरह वह प्राप्त हुआ था वह वृत्तांत यथार्थ कह सुनाया। जिससे उसे मालूम हुआ कि 'वेशिका वैश्या ही मेरी अपनी असली माता है।' फिर वह वापस चंपानगरी में गया, और वेशिका के पास जाकर उसने अपना वृत्तांत सुनाया। अपने पुत्र को पहचानकर वेशिका लज्जा से नीचा मुख करके रुदन करने लगी। फिर उसकी कुट्टिनी को बहुत द्रव्य देकर उसने अपनी माता को वहां से छुडवाया और अपने गाँव ले जाकर उसको धर्म मार्ग में स्थापित किया। वह वेशिका का पुत्र 'वैशिकायन' ऐसे नाम से पहचाना जाने लगा। वहां आने के बाद विषय से उद्वेग पाकर उसने तुरंत ही तापस व्रत ग्रहण किया। अपने शास्त्र के अध्ययन में तत्पर और स्वधर्म में कुशल ऐसा वह तापस घूमते घूमते श्री वीरप्रभु के आगमन पहले कूर्म गाँव में आया था। उस गाँव के बाहर रहकर मध्याह्न समय पर ऊंचे हाथ रखकर सूर्यमंडल के

सामने दृष्टि रखकर वटवृक्ष की बरोह की तरह लंबी जटा रखकर स्थिर रहता था। स्वभाव से ही विनीत, दया दाक्षिण्य से युक्त और समतावान ऐसा वह धर्मध्यान में तत्परतापूर्वक मध्याह्न (दोपहर) के समय आतापना लेता था। वह कृपानिधि तापस सूर्यकिरणों की गरमी से पृथ्वी पर झड़ती हुई जूओं को बीन बीन कर वापस अपने मस्तक पर डालता था।

ऐसे वैशिकायन तापस को देखकर गोशाल प्रभु के पास से वहां आया और उसको पूछा कि 'अरे तापस ! क्या तूं तत्व जानता हैं ? अथवा क्या तू पुराना शय्यातर हैं ? तू स्त्री हैं या पुरुष ? यह भी कुछ बराबर समज नहीं आता।' इस प्रकार उसने कहा फिर भी वह क्षमावान तपस्वी कुछ भी न बोला। गोशाल उसे बार बार इस प्रकार कहने लगा, क्योंकि ''कुत्ते की पूंछ को बहुत देर तक यंत्र में रखा हो तो भी वह सीधी नहीं होती।'' अंत में उस तापस को कोप चढ़ा तो उसने उस पर तेजोलेश्या छोड़ी। ''अतिशय घिसने से चंदन के काष्ठ में से भी अग्नि उत्पन्न होती है।'' ज्वालाओं से विकराल ऐसी तेजोलेश्या से भय पाया हुआ वह गोशाल दावानल से त्रस्त पाकर हाथी ज्यों नदी के समीप जाय त्यों वह प्रभु के पास आया। गोशाल की रक्षा करने के लिये प्रभु ने सामने शीतलेश्या छोड़ी, जिससे जल द्वारा अग्नि की तरह तेजोलेश्या बुझ गयी। प्रभु की ऐसी समृद्धि (शक्ति) देखकर वैशिकायन चकित हुआ, जिससे वह श्री महावीर के पास आकर नम्रतापूर्वक इस प्रकार बोला, 'हे भगवन ! मैंने आपका ऐसा प्रभाव नहीं जाना था। इसलिये मेरा यह विपरीत आचरण क्षमा करें।' इस प्रकार कहकर वह तापस गया। इसके बाद गोशाल ने प्रभु को पूछा, 'हे भगवन ! इस तेजोलेश्या की लब्धि किस प्रकार प्राप्त होती होगी ?' प्रभु बोले, 'जो मनुष्य नियमधारी बनकर सदैव छट्ठ करे और एक मुष्टि कुल्माष (उडद) तथा अंजलि मात्र जल से पारणा करे उसे छः मास के अंत पर अस्खलित और प्रतिपक्षी को भयंकर ऐसी महातेजोलेश्या प्राप्त होती है।'

फिर कूर्म गाँव से विहार करके प्रभु गोशाल सहित सिद्धार्थपुर नाम के उत्तम नगर की ओर चले। मार्ग में वह तिल का पौधा जहाँ गिरा था वह प्रदेश आया, तो गोशाल ने कहा, 'हे स्वामी ! आपने जो तिल का पौधा उगने को कहा था, वह उगा नहीं है।' प्रभु बोले 'उगा ही है, और वह यहीं पर है।' गोशाल ने वह बात नहीं मानी। फिर उसने उस तिल के पौधे को लेकर उसकी फली तोड़ी तो उस में तिल के बराबर सात दाने ही उगे हुए देखे। तो गोशाल बोला कि 'शरीर का परावर्तन करके वापस जंतु वहीं के वहीं उत्पन्न होते हैं।'

उसके बाद प्रभु ने तेजोलेश्या का जो विधि कहा था उस प्रकार तेजोलेश्या साधने के लिये गोशाल प्रभु को छोड़कर श्रावस्ती नगरी में गया। वहां एक कुम्हार की शाला में रहकर प्रभु ने जैसे कहा था वैसे छः मास तक तप किया और तेजोलेश्या सिद्ध की। फिर उसकी परीक्षा करने के लिये वह एक कुंए के कंठे पर गया और अपना कोप उत्पन्न करने के लिये किसी दासी का घडा कंकड मारकर फोड़ डाला। दासी ने उसे गालियाँ देना शरु किया तो उसने तत्काल क्रोधित होकर उस पर तेजोलेश्या छोड़ी, जिससे वह दासी बिजली गिरने से जले त्यों जल गयी और उसे तेजोलेश्या की प्रतीति हुई। फिर कुतूहल देखने की प्रीतिवाला गोशाल लोगों से परिवृत्त होकर विहार करने लगा।

एक बार श्री पार्श्वनाथ प्रभु के छः शिष्य कि जिन्होंने चारित्र छोड़ दिया था और अष्टांग निमित्त के ज्ञान में पंडित थे वे गोशाल को मिले। उनके शोण, कलिंद, कर्णिकार, अच्छिद्र, अग्निवेशान और अर्जुन ऐसे नाम थे। उन्होंने सौहृदपने (मित्रपने) से गोशाल को अष्टांग निमित्त का ज्ञान बताया। ''समान शील वाले पुरुषों को सद्य मैत्री होती है।'' तेजोलेश्या और अष्टांग निमित्त का ज्ञान मिलने से गर्व धरते हुए गोशाल 'मैं जिनेश्वर हूँ' यूं कहते हुए पृथ्वी पर विहार करने लगा। प्रभु **सिद्धार्थपुर** से विहार करके **वैशाली** नगरी में पधारे। वहां प्रभु के पिता का मित्र **शंख गणराज** बड़ा परिवार लेकर प्रभु के सामने आया और पूजा की। वहां से विहार करके भगवंत **वाणिजक** गाँव की ओर चले। मार्ग में मंडिकीका नाम की एक नदी आयी जो नाव द्वारा उतरे। प्रभु नाव में से उतरने लगे, तो नाविक ने तपी हुई रेतीवाले तट पर नाव रखकर नदी पार कराने का मूल्य मांगा। उस समय शंख गणराज का भानजा **चित्र** नौकासैन्य लेकर वापस लौट रहा था, उसने प्रभु को अटकाया हुआ देखा। जिससे उसने तत्काल उन नाविकों का तिरस्कार करके भगवंत को छुडवाया। परम भक्ति से प्रभु की पूजा करके वह चित्र अपने नगर में गया। फिर भगवंत वाणिजक गाँव में आये। वहां बाहर प्रतिमा धरकर रहे। वहां **आनंद** नाम का श्रावक रहता था। वह सदा छट्ठ तप करता था और आतापना लेता था। उसे अवधिज्ञान होने से वह प्रभु की वंदना के लिये आया। प्रभु की वंदना करके अंजलि जोड़कर वह बोला, 'हे भगवन ! आपने दुःसह्य परिषह और दारुण उपसर्ग सहन किये हैं, आपका शरीर और मन दोनों वज्र जैसे हैं कि जिससे ऐसे परिषह और उपसर्गो से आप भग्न नहीं रहते। हे प्रभु ! अब आपको केवलज्ञान की प्राप्ति भी नजदीक है।' इस प्रकार कहकर दुबारा प्रभु को प्रणाम करके वह आनंद श्रावक अपने घर गया। फिर कायोत्सर्ग पारकर प्रभु श्रावस्ती नगरी में पधारे। वहां दीक्षा लेने के बाद का दसवाँ चातुर्मास व्यतीत किया।

चार्तुमास पूर्ण होने पर नगर के बाहर पारणा करके प्रभु **सानुयष्टिक** गाँव में आये। वहां प्रभु ने भद्रा प्रतिमा ग्रहण की। उस प्रतिमा में आसन छोड़कर पूर्वाभिमुख में रहकर एक पुद्गल पर दृष्टि स्थिर करके पूरा दिन रहे। उस रात्रि को दक्षिणाभिमुख, दूसरे दिन पश्चिमाभिमुख और दूसरी रात्रि में उत्तराभिमुख - इस प्रकार छट्ठ तप द्वारा वह प्रतिमा पूर्ण की। उस प्रतिमा को छोडे बिना प्रभु ने महाभद्रा प्रतिमा ग्रहण की, और पूर्वादि दिशाओं के क्रम से चार अहोरात्रि तक रहे। यों दशम (चार उपवास) द्वारा महाभद्रा पूर्ण करके तत्काल बाईसम (दश उपवास) के तप द्वारा सर्वतोभद्रा प्रतिमा ग्रहण की। उस प्रतिमा को आराधते हुए दसों दिशाओं में एक एक अहोरात्रि रहे। उसमें ऊर्ध्व और अधो दिशा के प्रसंग पर ऊर्ध्व और अधो भाग में रहे द्रव्य पर दृष्टि स्थापित की। इस प्रकार तीनों प्रतिमा करके पारणे के लिये प्रभु **आनंद** नाम के एक गृहस्थ के घर गये। वहां उसकी **बहुला** नाम की कोई दासी पात्र धो रही थी, वह ठंडा अन्न फैंकनेवाली थी कि इतने में प्रभु को आया देखकर वह बोली, 'हे साधु ! आपको यह चलेगा ?' प्रभु ने हाथ फैलाया तो उसने भक्तिपूर्वक वह अन्न दिया। प्रभु के पारणे से प्रसन्न बने देवों ने वहां पांच दिव्य प्रकट किये। उसे देखकर लोग बडा हर्ष पाये। राजा ने उस बहुला को दासीपने में से मुक्त किया। ''प्रभु की कृपा से भव्य प्राणी

भी भवबंधन से छूट जाते हैं तो इसमें क्या आश्चर्य हैं ?''

वहां से विहार करते हुए प्रभु कइं म्लेच्छ लोगों से भरपूर ऐसी दृढ भूमि में आये। वहां **पेढाल** नाम के गाँव के समीप पेढाल नाम के उद्यान में **पोलास** नाम के चैत्य में प्रभु ने अष्टम तप करके प्रवेश किया। वहां जंतुओं का उपरोध न हो ऐसे एक शिलातल पर जानु तक भुजा फैलाकर, शरीर को थोड़ा सा झुकाकर, चित्त स्थिर करके, अनिमेष नेत्रों से रुक्ष द्रव्य पर दृष्टि रखकर प्रभु एक रात्रि महाप्रतिमा में रहे। उस समय शक्रेन्द्र सुधर्मा सभा में चौरासी हजार सामानिक देवताओं, तैतिस त्रायत्रिंश[1] देवताओं, तीन प्रकार की सभाओं[2], चार लोकपालों, असंख्य प्रकीर्णक देवताओं, चार दिशाओं में दृढ परिकर बांधकर रहे प्रत्येक चौरासी हजार अंगरक्षकों, सेना से युक्त सात सेनापतिओं, आभियोगिक[3] देव देवियों के गणों और किल्बिष्यादिक देवताओं के परिवार सहित बैठे थे। दक्षिण लोकार्ध की रक्षा करनेवाले वे इन्द्र शक्र नाम के सिंहासन पर बैठकर नृत्य, गीत और तीन प्रकार के वाद्यविनोद द्वारा समय व्यतीत कर रहे थे। उस समय अवधिज्ञान से भगवंत को इस प्रकार रहा हुआ जानकर वह तत्काल खड़ा हुआ। पैर में से पादुका छोड़कर, उत्तरासंग करके, दाहिने जानु को पृथ्वी पर स्थापित करके और बांये जानु को जरा सा झुकाकर, पृथ्वी पर मस्तक टेककर उसने शक्रस्तव द्वारा प्रभु की वंदना की। फिर बैठे होकर जिसके सर्व अंगों में रोमांच प्रकट हुआ है ऐसे इन्द्र ने सर्व सभा को उद्देश करके इस प्रकार कहा, 'अरे ! सौधर्मलोकवासी सर्व देवताओं ! श्री वीर प्रभु की अद्‌भुत महिमा सुनो। पंच समिति को धारण करनेवाले, तीन गुप्तिओं से पवित्र, क्रोध, मान, माया और लोभ से पराजित नहीं हो पाये, आश्रव रहित और द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव संबंधित किसी भी प्रकार से प्रतिबंध नहीं करनेवाले वे प्रभु एक रुक्ष पुद्‌गल पर दृष्टि स्थिर करके इस समय महाध्यान में स्थित हुए हैं। उनको उस ध्यान में से चलायमान करने के लिये देवता, असुर, यक्ष, राक्षस, उरग, मनुष्य या त्रैलोक्य भी शक्तिमान नहीं है।' इन्द्र के ऐसे वचन सुनकर उस सभा में बैठा हुआ इन्द्र का सामानिक संगम नाम का देवता जो अभव्य और गाढ मिथ्यात्व के संगवाला था, वह ललाट पर चढाई हुई भ्रुकूटि से भयंकर दिखता था। अधर को कंपाता हुआ और कोप से आंखे लाल करता हुआ वह बोला, 'हे देवेन्द्र ! एक श्रमणरुप बने मनुष्य मात्र की आप इतनी बड़ी प्रशंसा करते हो, उसका कारण सत्-असत बोलने में स्वच्छंदता प्रकट करनेवाली आपकी प्रभुता (सत्ता) ही है। हे सुरेन्द्र ! 'ये साधु देवताओं से भी ध्यान में से चलित किये जाये ऐसे नहीं है' ऐसा उद्‌भट (असत्य) आप हृदय में क्यों सोचते हो ? और शायद रखते हो तो किसलिये कहते हो ? जिसके शिखर आकाश को रोक रहे हैं और जिसकी जड़ रसातल को रोक रही है ऐसे सुमेरुगिरि पर जो एक इंटकोहरे की तरह भुजा फैला देने से समर्थ हैं, कुलगिरि सहित पूरी पृथ्वी को डूबो देने में जिसका स्पष्ट वैभव हैं, ऐसे सागर को भी जो एक गंडूष (कवल) मात्र कर जाय ऐसे हैं, और अनेक पर्वतोवाली इस प्रचंड पृथ्वी को जो छत्र की तरह एक भुजा से उठा लेने की शक्ति रखते हैं, ऐसे अतुलनीय समृद्धिवाले, अमित पराक्रमी और इच्छानुसार सिद्धि

१. गुरुस्थानकवाले। २. अभ्यंतर सभा, मध्य सभा, बाह्य सभा। ३. सेवकवर्ग

को प्राप्त करनेवाले देवताओं के सन्मुख वह मनुष्य मात्र साधु क्या हैं ? मैं स्वयं ही उसे ध्यान में से चलित करुंगा।'' इस प्रकार कहकर भूमि पर हाथ पछाडकर वह सभामंडप में से खड़ा हुआ। उस समय 'अर्हंत प्रभु परायी सहाय से अखंडित तप करते हैं ऐसा शायद यह दुर्बुद्धि न जाने' ऐसा सोचकर शक्रेन्द्र ने उसकी उपेक्षा की।

फिर वेग द्वारा उठी प्रलयकाल की अग्नि जैसा और अविरत मेघ जैसे प्रतापवाला, रौद्र आकृति से सामने भी देखा न जा सके ऐसा, भय से अप्सराओं को भगाता और बड़े विकट उरस्थल के आघात से गृहमंडल को भी ईकट्ठे करते हुए वह पापी देव जहां प्रभु थे वहां आया। निष्कारण जगत के बंधु और निरबाधता से यथास्थित रहनेवाले वीर प्रभु को देखते ही उसे अधिक द्वेष उत्पन्न हुआ। उस दुष्ट देव ने तत्काल प्रभु पर बेसमय अरिष्ठ को उत्पन्न करनेवाली महादुःखदायक धूल की वृष्टि की। उस धूल की बाढ़ से चंद्र को राहु की तरह और सूर्य को दुरदीन की तरह प्रभु के सर्व अंगों को ढक दिया। उस रज से उसने चारोंओर से प्रभु के शरीर के द्वारों को इस प्रकार भरा कि जिससे प्रभु श्वासोच्छ्वास करने के लिये भी असक्त बन गये। फिर भी जगतगुरु एक तिल मात्र भी ध्यान से चलित नहीं हुए। चाहे जैसे शक्तिवान गजेन्द्रों से भी क्या कुलगिरि चलित होता हैं ? फिर रज को दूर करके उस दुष्ट ने प्रभु के सर्व अंग पर पीडा करनेवाली वज्रमुखी चिंटीयाँ उत्पन्न की। वे चिंटीयाँ प्रभु के अंग में एक और से घूसकर स्वेच्छा से दूसरी ओर आरपार वस्त्र में सुई निकले त्यों निकलकर तीक्ष्ण मुखाग्र से प्रभु के सर्व अंग को बेधने लगी। निर्भांगी की आकांक्षा निष्फल हो त्यों जब चिंटीयों का उपसर्ग भी निष्फल हुआ, तब उसने प्रचंड पारषद (डांस) छोड़े। ''दुरात्मा पुरुषों के अपकृत्य का अंत नहीं होता।'' उनके एक एक प्रहार से निकलते गाय के दूध जैसे रुधिर द्वारा प्रभु निर्झरणावाले गिरि की तरह दिखने लगे। जब उससे भी प्रभु क्षोभ नहीं पाये तब उसने प्रचंड चौंच वाली दुर्निवाल बड़ी चिंटियाँ (धीमेल) उत्पन्न की। प्रभु के शरीर पर वे मुखाग्र से इस प्रकार चिपक गई कि मानो शरीर के साथ ही आयी हुई रोमपंक्ति हो ऐसी दिखने लगी। उससे भी योगसाधन के जाननेवाले जगद्गुरु चलित नहीं हुए, तो प्रभु को ध्यान में से चलित करने के निष्चयवाले उस दुष्ट ने बिच्छु छोड़े। वे प्रलयकाल के अग्नि की चिनगारी जैसे और तपाये हुए भाले की जैसे अपने भयंकर पुच्छ कांटों से भगवंत के शरीर को भेदने लगे। उससे भी प्रभु आकुल नहीं हुए, तो बूरा संकल्प करनेवाले उसने बड़े दांतवाले नकुल (ब्रेवले) उत्पन्न किये। खी ! खी ! ऐसे विरस शब्द करते हुए वे अपनी उग्र दाढ़ों से भगवंत के शरीर में से तोड़ तोड़कर मांस के खंड अलग करने लगे। उससे भी वह कृतार्थ नहीं हुआ तो यमराज के भुजदंड समान भयंकर और बड़ी फनवाले सर्पो को उसने महा कोप से उत्पन्न किये। बड़े वृक्ष को ज्यों क्रौंचे की लता लिपट जाय त्यों उन सर्पो ने महावीर प्रभु को पैर से मस्तक तक लपेट लिया। फिर उन्हों ने अपनी फन फट जाय इतने जोर से प्रभु पर प्रहार करने लगे और दाढ़े तूट जाय उतने जोर से अपनी दाढ़ो से उनको डसने लगे। जब संपूर्ण जहर वमन करके वे रस्सी की भाँति लटक रहे तब उस दुष्ट ने वज्र जैसे दांतवाले चूंहे उत्पन्न किये। वे नाखून से, दांतो से, मुख से और कर से प्रभु के अंग को खरोचने

लगे। ओर उसके उपर मूत्र करके घाँव पर क्षार डालने लगे। जब उससे भी कुछ नहीं हुआ तब क्रोध से भूत जैसे बने उस देव ने बड़े दंतमूशलवाला एक गजेन्द्र (हाथी) उत्पन्न किया। पेर के प्रहार से मानो पृथ्वी को झुकाता हो और बड़ी तथा ऊंची की हुई सूंढ से मानो आकाश को तोड़कर नक्षत्रों को नीचे गिराना चाहता हो ऐसा वह गजेन्द्र प्रभु पर दौड आया। उसने दुर्वार सूंढ से पकड़कर प्रभु के शरीर को आकाश में दूर तक उछाल दिया। फिर प्रभु का शरीर कण कण में बिखर जाय तो अच्छा ऐसा सोचकर वह दुराशयी दांत ऊंचे करके प्रभु को वापस पकड़ने के लिये दौडा। इस प्रकार पकड़ने के बाद वह दांत द्वारा बार बार इस प्रकार प्रहार करने लगा कि जिससे प्रभु की वज्र जैसी छाती में से अग्नि के शोले नीकलने लगे। फिर भी वह वराख (दुष्ट))हाथी प्रभु को कुछ भी न कर सका, तो उस दुष्ट ने मानो बैरी हो ऐसी एक हथिनी उत्पन्न की। उसने अखंड ऐसे मस्तक से और दांतो से प्रभु को भेद डाला और विष की तरह अपने शरीर के जल से उस भाग पर सिंचन करने लगी। जब वह हथिनी भी प्रभु के शरीर पर रेणु (रेत) जैसी बन गयी तब उस अधम देव ने मगर जैसी उग्र दाढ़ोवाला एक पिशाच का रुप धरा। ज्वालाओं से आकुल ऐसा उसका फैला हुआ मुख प्रज्वलित अग्निकुंड की तरह भयंकर लगता था, उसकी भुजाए यमराज के गृह के ऊंचे बांधे बंधनवार के स्तंभ जैसी थी, और उसकी जंघा और ऊरु ऊंचे ताल वृक्ष जैसे थे। चर्म के वस्त्र धरते हुए अट्टहास्य करते हुए और किलकिल शब्द करके फुत्कारता हुआ वह पिशाच हाथ में कटार लेकर भगवंत को उपद्रव करने के लिये दौड आया। वह भी क्षीण तैलवाले दिपक की तरह जब बुझ गया तब उस निर्दय देव ने तुरंत ही क्रोध से बाघ का रुप धरा। पुच्छ की छटा के आच्छोट से पृथ्वी को फाडता हो और बुत्कार शब्द की प्रतिध्वनि से भूमि तथा अंतरीक्ष को रुलाता हो ऐसा वह बाघ वज्र जैसी दाढ़ो से और त्रिशूल जैसे नखाग्रों से भुवनपति को अव्यग्रतापूर्वक उपद्रव करने लगा। वह भी दावानल में दग्ध बने वृक्ष की तरह निस्तेज हुआ, तो वह अधम देव सिद्धार्थ राजा का रुप धारण करके आया और बोला, 'हे तात ! यह अति दुष्कर काम तूंने किसलिये शुरु किया है ? इस दीक्षा को छोड़ दे, हमारी अवगणना मत कर, तेरा भाई नंदिवर्धन मुजे वृद्धावस्था में अशरण छोड़कर चला गया हैं।' फिर त्रिशलादेवी का रुप धरा। उसने भी बार बार ऐसा ही विलाप किया। उनके ऐसे विलाप से भी जब प्रभु का मन लिप्त नहीं हुआ तब उस दुराचारी ने एक छावनी (मनुष्यों से बसी हुई) रची। उसमें से एक रसौये को चावल पकाने का विचार आया। चूल्हे के लिये पाषाण नहीं मिले तो उसने प्रभु के दो चरणों को चूल्हे रुप बनाकर उसके पर चावल का पात्र रखा और उन दो पैरो के बीच में तत्काल अग्नि प्रज्वलित की। क्रमशः उसने अग्नि इतनी बढ़ा दी की पर्वत पर दावानल की भाँति प्रभु के चरणमूल उस अग्नि से तपायमान हुए। फिर भी अग्नि में रखे हुए सुवर्ण की तरह उनकी शोभा हीन न हुई। (उलटे ही वृद्धि पायी) फिर निष्फल बने उस अधम देव ने एक भयंकर चांडाल का रुप धरा। उसने आकर प्रभु के कंठ में, दो कान में, दो भुजा में और जंघा पर शुद्र पक्षियों के पिंजरे लटकाये। उन पक्षीओं ने चौंच तथा नाखून के इतने अधिक प्रहार किये की जिससे प्रभु का पूरा शरीर उन पिंजरों जैसा सैंकडो छिद्रों वाला हो गया। उसमें भी पके हुए

पत्ते की तरह वह चांडाल जब असारता को पाया तब उस दुष्ट ने महाउत्पात करनेवाले प्रचंड पवन उत्पन्न किया। बडे वृक्षों को तृण की तरह आकाश में उछालते हुए और दिशाओं में पत्थर और कंकडो को फेंकते हुए वह पवन चारो और अत्याधिक धूल उडाने लगा। धोंकनी की तरह अंतरीक्ष और भूमि को सर्व ओर से भर देते हुए उस पवन ने प्रभु को उठाकर नीचे पछाडा। ऐसे उग्र पवन से भी जब उसका सोचा हुआ नहीं हुआ, तब देवताओं में कलंकरुप उस दुष्ट ने तत्काल बवंडर वायु उत्पन्न किया। पर्वतों को भी घूमाने में परिपूर्ण पराक्रमवाले उस बवंडर ने चक्र पर रहे हुए मिट्टी के पिंड की तरह प्रभु को घूमाया। समुद्र के अंदर आवर्त्त की तरह उस बवंडर ने प्रभु को बहुत घूमाया, फिर भी एक ध्यान में रहे प्रभु ने सहज भी ध्यान नहीं छोड़ा। फिर उस संगम को विचार हुआ कि 'अहो ! इस वज्र जैसे कठिन मनवाले मुनि को मैंने अनेक प्रकार से परेशान किया है, फिर भी उसने जरा सा भी क्षोभ नहीं पाया हैं, इसलिये अब ऐसा भग्न वाचावाला बनकर मैं इन्द्र की सभा में कैसे जाऊं ? इसलिये अब तो उसके प्राण का नाश करने से ही उसका ध्यान नाश पायेगा। इसके सिवा अन्य कोई उपाय नहीं है।' ऐसा मानकर उस अधम देव ने एक कालचक्र उत्पन्न किया। हजार भार लोहे से घडा हुआ वह कालचक्र कैलास पर्वत को ज्यों रावण उठाता था, त्यों उस देव ने ऊंचे उठाया। फिर मानो पृथ्वी का संपूट करने के लिये दूसरा उतने ही प्रमाणवाला पुट (नाश) हो ऐसा वह कालचक्र उसने जोर से प्रभु पर छोड़ा। उछलती ज्वालाओं से सर्व दिशाओं से विकराल करता हुआ वह चक्र समुद्र में वडवानल की तरह प्रभु पर गिरा। कुलपर्वतों को भी चूर्ण करने में समर्थ ऐसे उस चक्र के प्रहार से प्रभु जानु (घूटने) तक पृथ्वी में मग्न हो गये। इस प्रकार होने पर भी भगवंत मित्रदृष्टि से देख रहे थे, जिससे जरुर वह विश्व को तारना चाहते हैं और हम संसार के कारण हैं। जब ऐसे कालचक्र से भी वे पंचत्व (मोत) को पाये नहीं, तब तो जरुर वे अस्त्रों से भी अगोचर है, इसलिये अब दूसरा क्या उपाय करना बाकी रहा ? अब तो उस अनुकूल उपसर्गो से किसि प्रकार क्षोभ आये ऐसा करना चाहिये, ऐसी बुद्धि से वह देव विमान में बैठकर प्रभु समक्ष आकर बोला, 'हे महर्षि आपके उग्र तप से, सत्व से, पराक्रम से, प्राण की उपेक्षा करने से और प्रारंभ किये हुए कार्य का निर्वाह करने के नियम से मैं आपके पर संतुष्ट बना हूं, इसलिये अब शरीर को कलेश करनेवाले ऐसे तप से क्या होगा, आपको जो चाहिये वह मांग लो। मैं आपको क्या दू ? आप सहज भी संदेह रखना मत। कहें तो जहां नित्य इच्छामात्र करने से सब मनोरथों की पूर्ति हो जाती है, ऐसे स्वर्ग में इसी देह से आपको ले जाऊं ? अथवा कहें तो अनादि भव से सरूंढ बने सर्व कर्मो से मुक्त करके एकांत परमानंदवाले मोक्ष में आपको ले जाऊं ? अथवा कहे तो सब मंडलाधीश राजा अपने मुगट से जिसके शासन का पालन करे ऐसी समृद्धिवाले साम्राज्य को इसी लोग में ही दूं ?' इस प्रकार वचनों से लुभाने पर भी प्रभु का मन थोड़ा सा भी क्षोभ नहीं पाया और कोई प्रत्युत्तर भी न मिला, तो उसने इस प्रकार सोचा कि 'इन मुनि ने मेरी सब शक्ति का प्रभाव निष्फल किया हैं लेकिन अब भी एक कामदेव का अमोघ शासन बाकी रहा हैं, क्योंकि कामदेव के अस्त्ररुपी रमणीयों के कटाक्ष में आये हुए बड़े पुरुष भी अपने पुरुषव्रत

का लोप करते हुए नजर आते हैं।' ऐसा निश्चय करके उस देवता ने देवांगनाओं को आज्ञा दी और उनके विभ्रम में सहाय करनेवाली छः ऋतुओं को प्रगट किया। कोकिला के मधुर कुंजन से प्रस्तावना करती हुई कामनाटक की अभिनेत्रीरुप वसंतलक्ष्मी शोभित हो उठी। कदंब के विकसित पुष्परज से दिग्वधू के लिये सेरंध्री दासी की तरह मुखवास सज्ज करती हुई ग्रीष्मऋतु की लक्ष्मी विस्तार पायी। केतकी के पुष्प के बहाने मानो कामदेव के राज्याभिषेक में सब अंग पर मांगलिक तिलक करती हो ऐसी वर्षाऋतु प्रकट हुई। नये नीलकमल के बहाने हजारों नेत्रवाली होकर अपनी उत्तम संपत्ति को ही देखती हो ऐसी शरदऋतु प्रकाशित हो उठी। श्वेत अक्षर जैसी मोगरे की नवीन कलियों से कामदेव की जयप्रशस्ति लिखती हो ऐसी हेमंतलक्ष्मी खिल उठी। मोगरे और सिंधुवार के पुष्पों से हेमंत और वसंत ऋतु को गणिका की तरह साथ निभाते हुए शिशिरलक्ष्मी वृद्धि पायी। इस प्रकार क्षण में सर्व ऋतुएं साथ साथ प्रकट हुई। फिर तुरंत ही कामदेव की सेना जैसी देवांगनाएं प्रकट हुई। भगवंत के समक्ष आकर वह रम्य अंगवाली रमणीयों ने कामदेव के विजयी मंत्रास्त्र जैसा संगीत शुरु किया। कोई शुद्ध चित्त से लय सहित गांधार ग्राम से अनेक राग की जातियों को गाने लगी, कोई प्रवीण देवांगना क्रम और उत्क्रम से व्यंजन और धातुओं को स्पष्ट प्रकट करती हुई मधुर वीणा बजाने लगी। कोई कूट, नकार और धोंकार ये तीन प्रकार के मेघ जैसी ध्वनि करते हुए त्रिविध मृदंग को बजाने लगी। कोई आकाश तथा पृथ्वी में उछलती, विविध हावभाव और नये नये दृष्टिभाव करते हुए नाचने लगी। दृढ अंगहार और अभिनय से कंचुकी को तोडते हुए और शिथिल केशपाश को बांधते हुए कोई अपनी भुजा के मूल बताती थी, कोई दंडपाद वगैरह के अभिनय से अपने गोरुचंदन जैसी गोरी रान (पीठ) के भाग को बार बार बताती थी। कोई शिथिल बने अधोवस्त्र की ग्रंथि को दृढ करने की लीला से अपने वापि जैसे नाभिमंडल को दिखाती थी, कोई इभदंत नाम के हस्त-अभिनय का बहाना करके बार बार गाढ आलिंगन की संज्ञा करती थी, कोई नीवी को दृढ करने के छल से उत्तरीय वस्त्र को चलित करके अपने नितंबबिंब को दिखाती थी। कोई विशाललोचना देवी अंगभंग के बहाने पुष्ट और उन्नत स्तनवाले अपने वक्षस्थल को चिरकाल तक दर्शाती थी। ''अरे भद्र ! यदि आप सचमुच वीतराग हो तो क्या आप कोई वस्तुपर राग नहीं बढ़ाते ? यदि आप शरीर पर भी निरपेक्ष हो तो वह हमें क्यों नहीं अर्पण करते ? यदि दयालु हो तो अचानक उत्कृष्ठ धनुष्य लेकर हमारे पर उठे हुए इस विषम-आयुध कामदेव से हमारी रक्षा क्यों नहीं करते ? प्रेम के लालची हो फिर भी यदि कदापि कूतुहलता से हमारी उपेक्षा करते हो तो वह कुतूहल पलभर के लिये करना उचित है, हमारे मरणांत तक करना योग्य नहीं है। हे स्वामी ! अब कठिनता छोड़ दो और हमारे मनोरथों को पूर्ण करों। प्रार्थना से विमुख मत बनो।'' इस प्रकार कोई कोई स्त्री बार बार कहने लगी। इस तरह देवांगनाओं के गीत, वाद्य, नृत्य, अंगविकार और प्रशंसा के चाटु वचनों से प्रभु थोड़ा सा भी क्षोभ नहीं पाये।

इस प्रकार उस एक रात्रि में कायोत्सर्ग से रहे प्रभु के उपर उस अधम देव संगम ने बीस बड़े उपसर्ग किये। प्रातःकाल होने पर उसने सोचा कि 'अहो ! ये महाशय मर्यादा से समुद्र की तरह

ध्यान से जरा सा भी चलित नहीं हुए, तो अब प्रतिज्ञाभ्रष्ट होकर क्या में वापस स्वर्ग में जाऊं ? लेकिन इस प्रकार तो कैसे जाया जाय ! इसलिये चिरकाल यहीं रहकर इस मुनि को अनेक उपसर्ग करके किसि भी प्रकार से क्षोभ पहुँचाऊं।'

प्रातःकाल में सूर्य के किरणों से व्याप्त ऐसा मार्ग होने पर प्रभु युगमात्र दृष्टि फेरते हुए वालुक नाम के गाँव की ओर चले। मार्ग में उस अधम संगम ने पांचसौं चोर और रेत के सागर जैसी बड़ी रेती रच दी। वे पांचसौं चोर 'मातुल (मामा) ! मातुल !' यूं उच्च स्वर से कहकर प्रभु को इस प्रकार आलिंगन देते हुए लिपट पड़े कि जिससे पर्वत हो तो वह भी फुट जाय। उनसे क्षोभ पाये बिना समतारस के सागर प्रभु रेती में जानु (घुटने) तक पग खूंपाते हुए वालुका गाँव आये। उस तरह स्वभाव से क्रूर बुद्धिवाला वह देव नगर में, गाँव में, वन में या प्रभु जहां जाय वहां उनके पीछे जाकर अनेक प्रकार के उपसर्ग करता था। इस प्रकार उपसर्ग करते हुए उस संगम देव को छः मास बीत गये। एक बार प्रभु विहार करते हुए किसि गोकुल में आये। उस समय वहां उत्सव चल रहा था। प्रभु ने छः मास तक उपवास किये थे, जिससे इस बार पारणा करने के लिये गोकुल में भिक्षा के लिये गये, परंतु जिस जिस घर में स्वामी भिक्षा के लिये जाते वहां वहां वह अधम देव आहार को दूषित कर डालने लगा। प्रभु ने उपयोग देकर देखा तो 'वह अधम देव निवृत्त नहीं हुआ है' ऐसा जानकर प्रभु वापस गोकुल के बाहर आकर प्रतिमा धरकर रहे। उस देवता ने अवधिज्ञान से देखा कि 'अब तक इस मुनि के परिणाम भग्न हुए हैं या नहीं ?' तो उसे मालूम हुआ कि 'अब भी वे क्षोभ नहीं पाये हैं।' तो उसने सोचा कि 'छः मास तक लगातार उपसर्ग किये फिर भी समुद्र के जल से सह्यगिरि की भाँति ये मुनि कांपे नहीं और अब लंबे समय तक उपद्रव करुं तो भी वे ध्यान से चलित नहीं होगे। जिससे पर्वत को भेदने में हाथी निष्फल हो जाय त्यों इसने मेरा प्रयास बिलकुल वृथा कर दिया। हा ! मेरी दुर्बुद्धि से ठगा जाकर स्वर्ग से विलास का सुख छोड़कर शाप से भ्रष्ट पाये हुए की तरह मैं इतने समय तक इस पृथ्वी पर भटका।' इस प्रकार विचार करके वह देव प्रभु को नमन करके अंजलि जोड़कर लज्जा पाते हुए म्लान मुख से इस प्रकार बोला, 'हे स्वामी ! शक्रेन्द्र ने सुधर्मा सभा में आपकी जैसी प्रशंसा की थी वैसे ही आप हो। उसके वचन पर श्रद्धा नहीं रखकर मैंने आपको कईं उपद्रव किये, फिर भी आप सत्यप्रतिज्ञ हो और मैं भ्रष्टप्रतिज्ञ हुआ हूं। मैंने यह अच्छा कार्य नहीं किया, इसलिये हे क्षमानिधि ! आप मेरा वह अपराध क्षमा करें। अब उपसर्ग करना छोड़कर खेद पाते हुए मैं देवलोक में जाता हूँ। आप भी निःशंक होकर गाँव, आगर और पूर वगैरह में सुखपूर्वक विहार किजिए। अब आप इस गाँव में भिक्षा के लिये आनंद से प्रवेश किजिए और अदूषित आहार ग्रहण किजिए। पहले जो दूषित भिक्षा मिलती थी वे दोष भी मेरे ही उत्पन्न किये हुए थे।' प्रभु बोले, 'हे संगमदेव ! तू हमारी चिंता करना छोड़ दे। हम किसि के अधीन नहीं है। हम तो स्वेच्छा से विहार करते हैं।' इस प्रकार कह रहे वीर प्रभु को प्रणाम करके वह अधम देव पश्चात्ताप करते हुए इन्द्रपुरी की ओर चला।

इतने समय तक यहां सौधर्म देवलोक में सब देवता आनंद और उत्साह से रहित होकर उद्वेग

धरकर रहे थे। शक्रेन्द्र भी सुंदर वेष और अंगराग छोड़कर तथा संगीत आदि से विमुख होकर अति दुःखी बनकर मन में चिंतन करने लगे कि 'अहो ! प्रभु पर हुए इन सब उपसर्गो का निमित्त मैं बना हूँ, क्योंकि मैंने जब प्रभु की प्रशंसा की तब ही वह देव कोपायमान हुआ।' इस प्रकार चिंता करते हुए छः मास बीत गये, तो पापरुप पंक से मलिन, जल स्पर्शवाले दर्पण की तरह कांति की शोभा रहित, प्रतिज्ञा भ्रष्ट, मंद इन्द्रियोंवाला और लज्जा से नेत्रकमल को भी मींचते हुए वह संगम इन्द्र द्वारा अधिष्ठित ऐसी सुधर्मा सभा में आया। संगमक को देखकर इन्द्र उससे पराङ्मुख हुए और ऊंच्च स्वर में बोले कि "अहो ! सर्व देवताओं ! मेरा वचन सुनो - यह संगमक महा पापी और कर्मचांडाल है। यदि उसका मुख दिखाई दे तो भी पाप लगे, इसलिये वह देखने योग्य भी नहीं है। इसने हमारे स्वामी (प्रभु) को बहुत कदर्थना (पीडा) करके मेरा बड़ा अपराध किया है, लेकिन जो इस संसार से भय नहीं पाया, वह मेरे से क्यों भय पाये ? मैं जानता हूं कि अर्हंत प्रभु अन्य की सहाय से तप नहीं करते, इसलिये इस पापी को मैंने इतने समय तक शिक्षा नहीं की, परंतु यदि अब यह अधम देव यहां रहेगा तो हमें भी पाप लगेगा, इसलिये इस दुष्ट को इस देवलोक में से निकाल देना ही योग्य हैं।" इस प्रकार कहकर क्रोध पाये हुए इन्द्र ने वज्र से पर्वत की तरह उस अधम देव पर बाये पैर से प्रहार किया, और विविध आयुधो को धारण करनेवाले इन्द्र के सुभट भी उसको धक्का मारकर वहां से निकालने लगे। देवताओं की स्त्रियां मुट्ठियां दिखाकर उस पर आक्रोश करने लगी तथा सामानिक देवता भी उसका हास्य करने लगे। इस प्रकार तिरस्कार पाते हुए वह अधम देव यानक नाम के विमान में बैठकर शेष एक सागरोपम का आयुष्य भोगने के लिये मेरुगिरि की चूलिका पर गया। फिर उस संगमक की स्त्रियों ने आकर इन्द्र को आकर पूछा कि 'हे स्वामी ! यदि आपकी आज्ञा हो तो हम भी हमारे पति के पीछे जायें ?' दीन बदनवाली उन स्त्रियों को संगमक के पीछे जाने की इन्द्र ने आज्ञा दी और दूसरे सर्व परिवार को उसके पीछे जाते हुए रोका।

यहां श्री वीर भगवंत दूसरे दिन पारणा करने के लिये गोकुल गाँव में गोचरी करने निकले। वहां एक वृद्ध वत्सपालिका नाम की गोपी ने भक्तिपूर्वक प्रभु को योग्य ऐसे परम अन्न से प्रतिलाभित किया। चिरकाल के बाद प्रभु का पारणा होने से हर्ष पाकर समीप रहे देवताओं ने वहां पंच दिव्य प्रकट किये। वहां से विहार करके प्रभु आलंभिका नाम की नगरी में गये। वहां प्रभु प्रतिमा धरकर चित्रस्थ हो त्यों स्थिर रहे। वहां हरि नाम के विद्युत्कुमार के इन्द्र ने प्रभु के पास आकर प्रदक्षिणा कर के नमन करते हुए इस प्रकार कहा, 'हे नाथ ! आपने जो उपसर्ग सहन किये वह सुनने से भी हम जैसों का हृदय छलनी हो जाता है, जिससे आप वज्र से भी अधिक दृढ हो। हे प्रभु ! अब सिर्फ कुछ उपसर्ग सहने के बाद आप चार घातिकर्म का नाश करोंगे और कुछ समय में ही केवलज्ञान उपार्जित करोगे। इस प्रकार कहकर भगवंत को भक्ति से नमस्कार करके उस विद्युत्कुमार निकाय का इन्द्र अपने स्थान पर गया। वहां से विहार करके प्रभु श्वेतांबी नगरी में गये। वहां हरिसह नाम के विद्युत्कुमार के इन्द्र ने आकर वंदना की। वह भी हरेन्द्र की तरह ही कहकर

अपने स्थान पर गया।

प्रभु वहां से विहार करके श्रावस्ती नगरी में आकर प्रतिमा धरकर रहे। उस दिन पूरी नगरी में लोगों ने कार्तिक स्वामी की रथयात्रा का उत्सव बड़े आडंबरपूर्वक आरंभा था, जिससे प्रतिमा धरकर रहे प्रभु को छोड़कर नगरजन पूजा की सर्व सामग्री लेकर कार्तिकस्वामी की पूजा करने के लिये जाने लगे। फिर कार्तिक की प्रतिमा को स्नान-अर्चन करके विधिपूर्वक रथ में बिठाने के लिये लोग तैयार हुअे। उस समय देवलोंग में शक्रेन्द्र ने सोचा कि 'इस समय वीर प्रभु कहां विचरते होंगे ?' अवधिज्ञान से देखा तो वीर प्रभु को और नगरजनों को उपरोक्त कही हुई स्थिति में देखा। तो 'अरे ! ये अविवेकी नगरजन प्रभु का उल्लंघन करके कार्तिक की पूजा क्यों करते हैं ?' ऐसी इर्ष्या धरकर इन्द्र तत्काल वहां आया और कार्तिक की प्रतिमा में प्रवेश किया। फिर यंत्रमय पूतली की तरह वह प्रतिमा जहां भगवंत प्रतिमारुप में रहे थे, उस तरफ चली। परंतु नगरजन तो उसे चलती देखकर कहने लगे, 'अहो ! यह कार्त्तिक कुमार अपने आप चलकर रथ में बैंठेगे।' इतने में तो वह प्रतिमा प्रभु के पास आयी, और प्रभु को तीन प्रदक्षिणा देकर उसने प्रणाम किये। फिर प्रभु की उपासना करने के लिये वह पृथ्वी पर बैठी, तो 'ये कोई हमारे इष्टदेव के भी पूज्य लगते हैं, इसलिये हमने उसका उल्लंघन किया, वह योग्य नहीं किया।' इस प्रकार कहते हुए नगरजनों ने विस्मय और आनंद पाकर प्रभु की महिमा की।

वहां से विहार करके प्रभु कौशांबी नगरी में आये। वहां प्रतिमा धरकर रहे प्रभु को सूर्य-चंद्र ने मूल विमान सहित आकर भक्तिपूर्वक सुख-शांति के प्रश्नपूर्वक वंदना की। वहां से क्रमशः विहार करते हुए प्रभु वाराणसी नगरी में आये। वहां शक्रेन्द्र ने आकर हर्षपूर्वक प्रभु को वंदना की। वहां से राजगृहनगर आकर प्रभु प्रतिमारुप में रहे। वहां इशानेन्द्र ने आकर भक्ति से सुख-शांति के प्रश्नपूर्वक वंदना की। वहां से प्रभु मिथिलापुरी में गये। वहां जनक राजा ने और धरणेन्द्र ने आकर प्रियप्रश्नपूर्वक पूजा की। वहां से विहार करके प्रभु विशाला नगरी में गये। वहां प्रभु ने दीक्षा के बाद का ग्यारहवां चौमासा किया। वहां समर नाम के उद्यान में बलदेव के मंदिर के अंदर प्रभु चार मासक्षपण ग्रहण करके प्रतिमा रुप में रहे। वहां भूतानंद नाम के नागकुमार के इन्द्र ने आकर प्रभु को वंदना की और प्रभु का केवलज्ञान नजदीक के भविष्य में होने का बताकर स्वस्थान पर गया। विशाला पुरी में जिनदत्त नाम का एक परम श्रावक रहता था। वह दयालु था और वैभव के क्षय से 'जिर्णश्रेष्ठी' ऐसे नाम से प्रसिद्ध हुआ था। एक बार वह उद्यान में गया था, वहां बलदेव के मंदिर में उसने प्रतिमारुप रहे प्रभु को देखा। उस समय 'ये छद्मस्थावस्था में रहे चरम तीर्थंकर है' ऐसे निश्चय से उसने भक्ति सहित प्रभु को वंदना की। फिर अपनें चित्त में सोचने लगा कि 'ये प्रभु आज उपवास करके प्रतिमा धरकर रहे लगते है, वे यदि कल मेरे घर पारणा करे तो बहुत अच्छा होगा।' ऐसी आशा धरकर उसने चार माह तक सदैव प्रभु की सेवा की, आखिरी दिन प्रभु को आमंत्रण देकर वह अपने घर गया और श्रेष्ठ मनवाले उसने अपने निमित्त पहले से पाया हुआ प्रासुक और ऐषणीय भोजन तैयार कर रखा था। फिर वह जिनदत्त श्रेष्ठी प्रभु के मार्ग की ओर

दृष्टि रखकर आंगन में खड़े रहकर सोचने लगा कि 'यह भोजन मैं प्रभु को वहोराऊंगा। मैं कैसा धनभागी हूं कि जिसके घर अर्हंत प्रभु अपने आप आयेंगे और संसारसागर से तैरानेवाला पारणा करेंगे। जब प्रभु आयेंगे तब मैं उनके सम्मुख जाऊंगा और तीन प्रदक्षिणा करके उनके चरणकमल में वंदना करुंगा। अहो ! यह मेरा जन्म अब पुनर्जन्म के लिये नहीं होगा, क्योंकि प्रभु का दर्शन भी मोक्ष का कारण बनता हैं, तो पारणे की तो बात ही क्या करनी ?' इस प्रकार जिर्णश्रेष्ठी चिंतन कर रहा था कि प्रभु वहां के नवीन सेठ के घर पधारे। वह नवीन सेठ मिथ्यादृष्टि था। उसने लक्ष्मी के मद से गरदन ऊंची रखकर दासी को आज्ञा दी, 'भद्रे ! इस भिक्षुक को भीक्षा देकर तत्काल बिदा कर।' वह हाथ में काष्ट का पात्र लेकर उसमें कुल्माष[1] धान्य लेकर आयी। और प्रभु के प्रसारे हुए करपात्र में वह वहोराये। तत्काल देवताओं ने आकाश में दुंदुभि का नाद किया, चेलोत्क्षेप[2] किया, वसुधारा[3] की तथा पुष्प और सुगंधित जल की वृष्टि की। लोक इकट्ठे होकर उस अभिनव श्रेष्ठी को पूछने लगे तो उसने कहा, 'मैंने स्वयं प्रभु को पायस अन्न से पारणा कराया।' 'अहो दानं, अहो दानं' ऐसा देवों की आवाज सुनकर लोग और राजा उस नवीन श्रेष्ठी की बारबार स्तुति करने लगे। यहां जीर्णश्रेष्ठी तो प्रभु के आगमन के बारे में विचार करते हुए वैसे ही खड़ा था। इतने में देवताओं के दुंदुभि की आवाज सुनकर वह इस प्रकार सोचने लगा, 'अहो ! मेरे जैसे मंदभागी को धिक्कार है, मेरा मनोरथ निष्फल हुआ, क्योंकि प्रभु ने मेरा घर छोड़कर दूसरे के घर पारणा किया।'

वहां पारणा करने के बाद प्रभु ने अन्यत्र विहार किया। उस उद्यान में श्री पार्श्वनाथ भगवंत के एक केवली शिष्य पधारे। तो राजा ने और लोगो ने उनके पास आकर पूछा, 'हे भगवन् ! इस नगरी में बड़े पुण्य के समूह को उपार्जित करनेवाला कौन हैं ?' केवली बोले, 'जिर्णश्रेष्ठी सब से अधिक पुण्यवान हैं।' लोग बोले कि 'जिर्णश्रेष्ठी बड़े पुण्य को उपार्जन करनेवाला किस प्रकार हैं ? क्योंकि उसने तो प्रभु को कोई पारणा कराया नहीं है। वह कार्य करनेवाला तो यह नवीन श्रेष्ठी हैं। फिर वसुधारा वगैरह भी उस नवीन श्रेष्ठी के घर हुए हैं। तो यह नवीन श्रेष्ठी महापुण्य का उपार्जन करनेवाला क्यों नहीं ?' केवली बोले, 'भाव से तो उस जिर्णश्रेष्ठी जिनदत्त ने अर्हंत प्रभु को पारणा कराया हैं। फिर उसने ऐसे भाव से अच्युत देवलोक में जन्म उपार्जित करके संसार का ध्वंश कर डाला हैं, यदि ऐसे उज्ज्वल भाववाले उसने उस समय दुंदुभि का ध्वनि न सुना होता तो ध्यानांतर में प्राप्त हुए उस उज्ज्वल केवलज्ञान को पाता। यह नवीन श्रेष्ठी शुद्ध भाव से रहित है, इसलिये अर्हंत के पारणे का मात्र वसुधारा रुपी इहलोक संबंधी फल ही प्राप्त किया हैं।' इस प्रकार भक्तिपूर्वक और भक्तिरहित अर्हंत के पारणे का फल सुनकर सब लोग विस्मय पाते हुए अपने अपने स्थान पर गये।

यहां श्री वीर भगवंत नगर, गाँव, खान और द्रौणमुख वगैरह स्थानों में विहार करते हुए सुसुमारपुर आये। वहां अशोकखंड नाम के उद्यान में अशोक वृक्ष के नीचे एक शिला पर रहकर अष्टम करके प्रभु ने एक रात्रि की प्रतिमा धारण की।

१. उडद के बाकुले। २. वस्त्र की वृष्टि। ३. द्रव्य की दृष्टि।

उस अरसे में जो घटना घटी उसकी उत्पत्ति इस प्रकार है - इस भरत क्षेत्र में विंध्याचल की तलहटी में बसे विभेल नाम के गाँव में पूरण नाम का एक गृहस्थ रहता था। एक बार आधि रात को उठकर उसने सोचा कि "मैंने पूर्व जन्म में बड़ा तप किया होगा, कि जिससे इस भव में मुझे ऐसी लक्ष्मी और ऐसी मान्यता प्राप्त हुई हैं। पूर्व में किये हुए शुभ-अशुभ कर्म का फल इस लोग में प्राप्त होता है, ऐसा लोक में सेठ और सेवकपना दृष्टि में आने से अनुमान होता हैं। तो अब गृहवास छोड़कर स्वजनों को समजाकर आनेवाले भव की फलप्राप्ति करने के लिये मैं बड़ा तप करु। कहा है कि - "आठ महिने तक ऐसा कार्य करना कि जिससे चौमासे के चार मास सुखपूर्वक रहा जाय, दिन को ऐसा कार्य करना कि रात्रि में सुखपूर्वक सोया जाय, पूर्वावस्था (जवानी) में ऐसा कार्य करना कि जिससे वृद्धावस्था में सुखपूर्वक रहा जाय और इस जींदगी में ऐसा कार्य करना कि जिससे आगामी जन्म में सुखप्राप्ति हो।" इस प्रकार चिंतन करके प्रातःकाल में स्वजनों को भोजन कराकर व्रत ग्रहण करने की आज्ञा ली और पुत्र को अपने स्थान पर स्थापित किया। फिर स्वयं व्रत लेकर प्रणाम[1] जाति का तापस बनकर तप करने लगा। उसने भिक्षा के लिये चार खानेवाला एक काष्टमय भिक्षापात्र ग्रहण किया और उस दिन से लेकर निरंतर छट्ठ का तप करने लगा। इसके साथ ही प्रतिदिन आतापना लेकर शरीर को कृश (कमजोर) करने लगा। जब पारणे का दिन हो तब वह चार खानेवाला भिक्षापात्र लेकर मध्याह्नकाल में भिक्षा लेने जाता। पहले खाने में आयी हुई भिक्षा वह पथिकों (यात्रियों) को दे देता, दूसरे खाने में आयी हुई भिक्षा वह कौए वगैरह को देता, तीसरे खाने में आयी हुई भिक्षा मत्स्यादिक जलचर प्राणीयों को देता और चौथे खाने में आयी भिक्षा रागद्वेष रहित चित्त से स्वयं खाता था। इस प्रकार बारह वर्ष तक बाल (अज्ञान) तप करके अंत में उसने बीभेल गाँव की इशान दिशा में अनशन ग्रहण किया। एक माह का अनशन पालकर मृत्यु पाने के बाद बालतप के प्रभाव से वह चमरचंचा नगरी में एक सागरोपम के आयुष्यवाला चमरेन्द्र बना। उत्पन्न होते ही अवधिज्ञान रुपी नेत्रों से वह दूसरे लोको को देखने लगा। क्रमशः ऊर्ध्व भाग में दृष्टि करते हुए उसने सौधर्मेन्द्र को देखा। सौधर्मावतंस नाम के विमान में सुधर्मा सभा में बैठे हुए महर्द्धिक वज्रधारी शक्रेन्द्र को देखकर क्रोध करके वह अपने स्वजनों को इस प्रकार कहने लगा -

"अरे ! अप्रार्थित की प्राथना करनेवाला यह कौन दुरात्मा अधम देव मेरे मस्तक पर रहकर निर्लज्जतापूर्वक विलास करता हैं ?" उसके उत्तर में उसके सामानिक वगैरह देवता मस्तक पर अंजलि (हाथ) जोड़कर बोले, 'हे स्वामी ! महापराक्रमी और प्रचंड शासनवाले सौधर्म कल्प के वे इन्द्र हैं।' यह सुनकर जिसको उलटा विशेष क्रोध उत्पन्न हुआ है ऐसा वह चमरेन्द्र भ्रुकूटि से भयंकर मुखवाला बनकर नासिका के फुत्कार से चँवर को भी उडाते हुए बोला, "अरे देवताओं ! आप मेरे पराक्रम को नहीं जानते, इसलिये उसकी प्रशंसा करते हो। अब में आपको उस इन्द्र को गिराकर मेरा बल दर्शाऊंगा। वह कदापि दैवयोग से उच्च स्थानक पर उत्पन्न हुआ तो वह कुछ बड़ा समर्थ

१. सब को प्रणाम करना ही जिसका मुख्य धर्म है ऐसे तापस।

नहीं हो गया। यदि कौआ हाथी की पीठ पर बैठा हो तो क्या वह रथी माना जायेगा ? इसलिये इतनी देर तक तो वहां निर्विघ्नतापूर्वक रहा लेकिन अब मुजे क्रोध आने पर वह वहां नहीं रह सकेगा। क्योंकि सूर्य का उदय होने पर अन्य प्रकाश या अंधकार रह नहीं सकते।'' फिर सामानिक देवताओं ने दुबारा कहा कि ''हे स्वामी ! वह सौधर्मपति पूर्व जन्म के उपार्जित किये हुए पुण्य से देवो का पति बना है और उसकी समृद्धि व पराक्रम आपसे भी अधिक हैं। आप आपके पुण्यानुसार हम जैसों के स्वामी बने हो, इसलिये पुण्य को अधिन ऐसे वैभव में आपको इर्ष्या न करनी चाहिए और कदापि आप उसके प्रति आपका कुछ भी पराक्रम दिखाना शुरु करोगे तो मेघ का सामना करनेवाले अष्टापद पशु की भाँति वह आपके हास्य के लिये और अधःपतन के लिये होगा। इसलिये आप शांत हो जाइये, सुखपूर्वक रहकर यथेच्छापूर्वक सुखभोग भोगिये और हम से सेवित विविध विनोद देखा किजिए।'' फिर चमरेन्द्र बोला, ''अरे ! यदि आप सब उससे डरते हो तो सुखपूर्वक यहीं रहो, मैं अकेला ही उसके साथ युद्ध करने जाऊंगा। सुरों का और असुरों का मैं या वह एक ही इन्द्र होना चाहिए। एक म्यान में दो तलवार नहीं रह सकती।'' इस प्रकार कहकर उग्र गर्जना करके आकाशमार्ग में उड़ने की इच्छा करते हुए उसके मन में कुछ विवेक आया तो वह दूबारा इस प्रकार चिंतन करने लगा कि ''मेरे ये सामानिक देवता शक्रेन्द्र जैसे को शक्तिवान मानते है ऐसा वह हो भी सकता है, क्योकि ये देवता तो थोडा सा भी मेरा अहित चाहनेवाले नहीं है और कार्य की गति विषम होती हैं, जिससे दैवयोग से शायद मेरी पराजय हो जाय तो फिर इससे अधिक पराक्रमवाले किसकी शरण में मुजे जाना ?'' इस प्रकार सोचकर उसने अवधिज्ञान से देखा तो सुसुमारपुर में श्री वीर प्रभु को प्रतिमा धरकर रहे हुए देखा। उसने वीर प्रभु की शरण लेने का निश्चय किया और खड़े होकर अपनी तुंबालय नाम की आयुधशाला में गया। वहां मानो मृत्यु का दूसरा हाथ हो ऐसा एक मुद्गर उसने उठाया और ऊंचे-नीचे तथा आडा-तेडा उसे दो-तीन बार घुमाया। फिर असुर स्त्रीयों ने शुरवीर मानकर कामना से देखा हुआ, कुतूहल जानने का अर्थी भुवनपतियों द्वारा उत्साहित किया हुआ और सामानिक देवताओं द्वारा 'अज्ञानी है' ऐसा जानकर उपेक्षा किया हुआ वह चमरासुर चमरचंचा नगरी में से नीकला।

पलभर में श्री वीर प्रभु के पास आकर परिघ आयुध को दूर रखकर, तीन प्रदक्षिणा देकर, नमन करके वह इस प्रकार बोला, 'हे भगवंत ! मैं आपके प्रभाव से अति दुर्जय शक्रेन्द्र को जीत लूंगा। क्योंकि वह इन्द्र मेरे मस्तक पर रहा होने से मेरे चित में बहुत बाधा (पीडा) करता हैं।' इस प्रकार कहकर परिघ आयुध लेकर इशान दिशा में आया और वैक्रिय समुद्घात से तुरंत अपना रुप एक लाख योजन का कर दिया। श्याम कांतिवाला वह महाशरीर मानो मूर्तिमंत आकाश हो, अथवा मानो नंदीश्वर महाद्वीप का चलित अंजनगिरि हो ऐसा दिखने लगा। वह मुख दाढरुप करोंति से भयंकर था, श्याम और चपल केश थे, मुखरुपी कुंड में से उछलती ज्वालाओं से आकाश भी पल्लवित हुआ था, उसके विशाल वक्षःस्थल से सूर्यमंडल आच्छादित होता था, भुजदंड के हिलने से ग्रह, नक्षत्र और तारे जड़ते थे। नाभिमंडल पर लीन बने सर्प के फुत्कार से भयंकर दिखता था,

उसके अति लंबे जानु, गिरि की चूलिका के अग्रभाग को छूते होने से आश्चर्य उत्पन्न करते थे और पाँव के अवष्टंभ से भूमंडल को भी खिसियाना कर देता था। ऐसा भयंकर रुप धरकर वह चमरासुर गर्वांध (अभिमानी) होकर सौधर्मपति की और चला।

उग्र गर्जना से पूरे ब्रह्मांड को फोडते हुए, दूसरा यमराज हो त्यों व्यंतरों को डराते हुए और शेर ज्यों हिरनों को त्रस्त (परेशान) करे त्यों ज्योतिष्क देवों को भयभीत करते हुए वह क्षणभर में सूर्य-चंद्र के मण्डल का उल्लंघन करके शक्र के मण्डल में आ पहुँचा। उस भयंकर महामूर्ति को अचानक और तेजी से आते देखकर ही किल्विष देवता छिप गये। आभियोगिक देवता त्रस्त (परेशान) हो गये, सैन्य सहित सेनापति शीघ्र पलायन कर गये और सोम तथा कुबर प्रमुख दिग्पाल भाग गये। आत्मरक्षकों से अस्खलित और छड़ीदारो से भी अनिवारित उस असुर को त्रायस्त्रिंश देवों ने 'यह क्यां ?' ऐसे संभ्रांत चित्त से देखा। समकाल में उत्पन्न कोप और आश्चर्य से सामानिक देवताओं ने देखे हुए उस चमर ने एक पैर पद्मवेदिका पर और दूसरा पैर सुधर्मा सभा में रखा। फिर परिघ आयुध द्वारा इन्द्रकील पर तीन बार ताड़न करके उत्कट भ्रुकूटि चढ़ाकर वह अति दुर्मद चमर शक्रेन्द्र प्रति इस प्रकार बोला, 'हे इन्द्र ! तू ऐसे खुशामदी देवताओं के वृन्द से या उनके पराक्रम से इस समय मेरे पर रहता हैं, लेकिन अब मैं तुजे मेरे से भी नीचे गिरा देता हूँ। पर्वत पर कौएं की तरह तू यहां चिरकाल से फोगट में ही रहा है। अरे ! चमरचंचा नगरी के स्वामी और विश्व को भी असह्य पराक्रमवाले मुझ चमरासुर को तू क्यां नहीं जानता ?' शिकारी की हाँक को सुनकर केसरी सिंह सुने त्यों उसने ऐसा कठोर वचन पहले कभी सुना न था, जो सुनकर शक्रेन्द्र कुछ हँसा और विस्मय पाया। फिर अवधिज्ञान से उसने चमरेन्द्र को जानकर 'अरे चमर ! तू भाग जा।' ऐसा बोलकर भ्रुकूटि चढाकर शक्रेन्द्र ने वज्र हाथ में लिया और प्रलयकाल के अग्नि का तत्त्व हो, विद्युत का मानो संचय हो और इकट्ठा हुआ वडवानल हो ऐसा उस प्रज्वलित वज्र को इन्द्र ने उस पर छोड़ा। तडतड् शब्द करते हुए और देवों ने त्रस्त पाते हुए देखा हुआ वह वज्र चमरेन्द्र की ओर दौडा। सूर्य के तेज से उल्लू की तरह उस वज्र को देखने में भी असमर्थ ऐसा वह चमरासुर वज्र को आता देखकर ही बंदरियां की तरह ऊंचे पैर और नीचे मस्तक ऐसा हो गया। और तत्काल चित्रा से चँवरीमृग भागे त्यों महावीर भगवंत की शरण में आने की इच्छा से वहां से भागा। उस समय 'अरे सुराधम ! ज्यों बड़े सर्प के साथ मेंढक, हाथी के साथ मेष, अष्टापद के साथ हाथी और गरुड के साथ सर्प युद्ध करना चाहे त्यों अनात्मज्ञ ऐसा तू हमारे इन्द्र के साथ युद्ध करना चाहता था। लेकिन तुजे बुरी हालत में भागना पड़ा।' इस प्रकार कहकर देवता उस पर हँसने लगे। जैसा महादेह धरकर वह आया था, वैसा ही लघुदेह धरकर पवन ने पवन द्वारा चलाये हुए मेघ की तरह भागने लगा। रुप को छोटे से छोटा करते हुए उस असुर के पीछे घोह की तरह चला आता वज्र ज्वाला की श्रेणी से शोभित होने लगा।

यहां वज्र छोड़ने के बाद इन्द्र को विचार आया कि 'कोई भी असुर की यहां तक आने की अपनी शक्ति नहीं है, फिर भी यह असुर यहां तक आया इसलिये मैं मानता हूँ कि जरुर वह कोई

अर्हंत, अर्हंत के चैत्य या किसि महर्षि का मन में स्मरण करके उसकी शक्ति प्राप्त करके आया होगा।' इस प्रकार सोचकर शक्रेन्द्र ने अवधिज्ञान से देखा, तो वह श्री वीरप्रभु के प्रभाव से वहां आया था और वापस श्री वीर प्रभु की शरण में ही गया है ऐसा जाना। जिससे 'अरे ! मैं मारा गया।' यूं बोलते हुए इन्द्र जिसके हार आभूषण तूट जा रहे थे, त्यों वज्र के मार्ग से उसके पीछे तेजी से दोडा। चमरेन्द्र का निवास व प्रभु का विहारस्थान अधोभूमि (नीचे) में होने से आगे चमरेन्द्र, उसके पीछे वज्र और उसके पीछे शक्रेन्द्र पूर्ण वेग से चले। पलभर में प्रतिकार करनेवाले के पीछे हाथी की तरह शक्रेन्द्र उसके नजीक आ पहुचा। उतने में वज्र चमरेन्द्र के नज़दीक आ पहुँचा था कि वह चमरेन्द्र दावानल से पीडीत हाथी ज्यों नदी के पास आकर पहुँचे त्यों प्रतिमा धरकर खड़े प्रभु के समीप पहुंच गया और 'शरण ! शरण !' यूं बोलते हुए अत्यंत लघु शरीर करके प्रभु के दो चरणों के बीच कुंथु की तरह लपक पड़ा। उस समय वज्र प्रभु के चरणकमल से चार तसू दूर रहा था, इतने में तो सर्प को मदारी पकड़े त्यों इन्द्र ने वज्र को मुष्टि से पकड़ लिया। फिर प्रभु को प्रदक्षिणापूर्वक वंदना करके इन्द्र अंजलि जोड़कर भक्ति से भरपूर ऐसी वाणी से इस प्रकार बोला, "हे नाथ ! यह चमरेन्द्र उद्धत होकर मुजे उपद्रव करने के लिये आपके चरणकमल के प्रभाव से मेरे देवलोक तक आया था, यह मुजे मालूम न था, जिससे अज्ञानता में मैंने इस वज्र को उस पर छोडा था। इसके बाद अवधिज्ञान से उसे आपके चरणकमल में लीन होते हुए मैंने देखा हैं। इसलिये मेरे उस अपराध को क्षमा कीजिए।" इस प्रकार कहकर कहकर शक्रेन्द्र ने इशान कोने में जाकर अपना रोष उतारने के लिये अपना वामचरण पृथ्वी पर तीन बार पटका। फिर चमरेन्द्र को कहा, "हे चमर ! तू विश्व को अभय देनेवाले श्री वीर प्रभु की शरण में आया यह तूने बहुत ठीक किया, क्योंकि वे सब गुरुओं के भी गुरु है। अब मैंने बैर छोड़कर तूजे छोड़ दिया है। इसलिये तू वापस आनंदपूर्वक चमरचंचा नगरी में जाकर तेरी समृद्धि के सुख को भोगनेवाला बन।" इस तरह चमर को आश्वासन देकर दूबारा प्रभु को नमस्कार करके इन्द्र अपने स्थान पर गया।

फिर सूर्यास्त होने पर गुहा में से उल्लू निकले त्यों चमरेन्द्र प्रभु के दो चरणों के बीच में से निकला और प्रभु को नमन करके अंजलि जोड़कर बोला, "सर्व जीवों के जीवनऔषधरुप हे प्रभु ! आप मुझे प्राण देनेवाले हो। आप के चरण की शरण में आने पर अनेक दुःख के स्थानरुपी इस संसार से भी मुक्त हो सकते है, तो वज्र से मुक्त होना तो क्या मात्र हैं ? हे नाथ ! मैंने अनजाने में पूर्व भव में बालतप (अज्ञानतप) किया था, जिससे उसका इस अज्ञान सहित असुरेन्द्रपनरुपी फल मुझे प्राप्त हुआ है। मैं अज्ञान से ये सर्व प्रयत्न मेरी आत्मा के लिये अनर्थकारी ही किया था, लेकिन आखिर में आपकी शरण में आया यह अच्छा किया। यदि पूर्वजन्म में मैंने आपकी शरण ली होती तो मैं अच्युतेन्द्रपना या अहमिन्द्रपना प्राप्त करता। अथवा हे नाथ ! मुझे इन्द्रता की अब क्या जरुरत है ? क्योंकि इस समय तो तीन जगत के पति ऐसे आप मुझे नाथरुप में प्राप्त हुए, जिससे मुझे सब प्राप्त हुआ हैं।" इस प्रकार श्रद्धापूर्वक कहकर प्रभु को नमन करके चमरेन्द्र चमरचंचा नगरी में आया। वहां अपने सिंहासन पर बैठकर लज्जा से नीचा मुख करके वह अपने

स्वागत पूछने आये सामानिक देवता प्रति बोला, "हे देवों ! आपने मध्यस्थतापूर्वक शक्रेन्द्र को जैसा कहा था वैसा ही वह है, लेकिन मैंने उस समय अज्ञान से वह कुछ जाना नहीं। शेर की गुफा में प्रथम लोमडी जाय त्यों मैं उसकी सभा में गया। वहां उसके आभियोगिक देवों ने कुतूहल देखने की इच्छा से मेरी उपेक्षा करके जाने दिया। उसके बाद इन्द्र ने मेरे पर वज्र छोड़ा, जिससे भय पाकर महाकष्ट से मैं सुर-असुर द्वारा नमन किये हुए श्रीवीरप्रभु के चरणों की शरण में गया। श्रीवीरप्रभु की शरण में जाने से इन्द्र ने मुझे जीवित छोड़ दिया, तो मैं यहां आया हूँ। अब आप सब चलिये, हम भी श्रीवीरप्रभु के पास जाकर उनकी वंदना करें।" इस प्रकार कहकर चमरेन्द्र अपने पूरे परिवार के साथ प्रभु के पास आया और प्रभु को नमन करके, संगीत करके वह अपनी नगरी में गया।

प्रातःकाल में प्रभु एक रात्रि की प्रतिमा करके क्रमशः विहार करते हुए **भोगपुर** नाम के नगर में आये। वहां **माहेन्द्र** नाम का कोई क्षत्रिय था। वह दुर्मति प्रभु को देखकर एक खजूरी की लकड़ी लेकर प्रभु पर प्रहार करने दौडा। उस समय सनत्कुमारेन्द्र कि जो लम्बे समय से प्रभु के दर्शन करने के लिये उत्कंठितता से प्रभु की वंदना के लिये वहां आया, तो उस शठ को उपद्रव करते हुए उन्हों ने देखा। जिससे उस क्षत्रिय का तिरस्कार करके इन्द्र ने प्रभु को वंदना की और भक्तिपूर्वक सुखविहार पूछकर अपने स्थान पर गये। भगवंत भी वहां से विहार करके **नंदीग्राम** आये। वहां **नंदी** नाम का भगवंत के पिता का मित्र था, उसने भक्तिपूर्वक प्रभु की पूजा की। वहां से विहार करके प्रभु **मेढक** गाँव में आये। वहां एक गोपाल बाल की रस्सी लेकर प्रभु को मारने दोडा। वहां कुर्मार गाँव की तरह इन्द्र ने आकर उस गोप को रोका और प्रभु को भक्तिपूर्वक वंदना की। वहां से विहार करके प्रभु **कौशांबी** नगरी में आये।

कौशांबी में शत्रुओं के सैन्य को भयंकर **शतानिक** नाम का राजा था। उसे **चेटक** राजा की पुत्री **मृगावती** नाम की रानी थी, वह सदा तीर्थंकर के चरण की पूजा में एकनिष्ठावाली परम श्राविका थी। शतानिक राजा को **सुगुप्त** नाम का सचिव था। उसे **नंदा** नाम की स्त्री थी, वह भी परम श्राविका और मृगावती की सखी थीं। उस नगर में **धनावह** नाम का एक सेठ रहता था, वह बड़ा धनाढ्य था। उसे गृहकर्म में कुशल **मूला** नाम की पत्नी थी। यहां वीर प्रभु आये उस दिन पोष माह की कृष्ण प्रतिपदा थी। प्रभु ने उस दिन इस प्रकार का बड़ा असंभव अभिग्रह धारण किया कि 'कोई सती और सुंदर राजकुमारी दासीपन को पायी हो, पाँव में लोहे की बेडी डाली हो, मस्तक मुंडा हुआ हो, भूखी हो, रुदन करते हुए एक पैर देहलिज पर और दूसरा बाहर रखकर बैठी हो, और सर्व भिक्षुक उसके घर आ गये हो ऐसी स्त्री सूप के कौने में रहे हुए उडद यदि मुझे भिक्षा में दे, तो चिरकाल पर मैं पारणा करूंगा, इसके सिवा करूंगा नहीं।' ऐसा अभिग्रह धरकर प्रभु प्रतिदिन भिक्षा के समय उच्च-नीच गृहों में गोचरी के लिये घूमने लगे, लेकिन प्रभु ने उपरोक्त अभिग्रह लिया होने के कारण कोई भिक्षा दे तो प्रभु लेते नहीं थे। जिससे नगरजन प्रतिदिन शोक करते और अपनी निंदा करते थे। इस प्रकार असंभवित अभिग्रह होने के कारण भिक्षा लिये बिना ही बाईस परिसह को सहन करते हुए प्रभु ने चार प्रहर की तरह चार माह व्यतीत किये। एक बार प्रभु **सुगुप्त**

सचिव के घर भिक्षा के लिये गये। वहां उसकी स्त्री **नंदा** ने प्रभु को दूर से देखा तो 'ये महावीर अर्हंत सद्भाग्य से मेरे घर पधारे।' इस प्रकार बोलते हुए नंदा आनंद पाते हुए सामने आयी और उस बुद्धिमान श्राविका ने प्रभु के योग्य ऐसे भोज्य पदार्थ प्रभु समक्ष धरे, परंतु प्रभु अभिग्रह से वश होकर उसमें से कुछ भी लिये बिना चले गये। तत्काल नंदा का हृदय मंद हो गया और 'मैं अभाग़िनी हूं, मुझे धिक्कार है। मेरा मनोरथ पूर्ण नहीं हुआ।' इस प्रकार शोक करने लगी। इस तरह खेद करते हुए उसको उसकी दासी ने कहा, 'हे भद्रे ! यह देवार्य प्रतिदिन आकर इस प्रकार भिक्षा लिये बिना ही चले जाते हैं, कुछ आज ही ऐसा नहीं हुआ है।' यह बात सुनकर नंदा ने सोचा कि 'प्रभु ने कोई अपूर्व अभिग्रह धारण किया लगता है, कि जिससे प्रासुक अन्न भी लेते नहीं है। अब प्रभु का वह अभिग्रह किसी प्रकार से भी जान लेना चाहिए।' ऐसी चिंता करते हुए नंदा आनंदरहित होकर बैठी थी; इतने में सुगुप्त सचिव घर आये। उन्होने उसे चिंता करते हुए देखा। सुगुप्त ने कहा, 'प्रिये ! उद्विग्न (उदास) चित्तवाली क्यों दिखती हो ! क्या किसि ने तुम्हारी आज्ञा खंडित की है या मैंने तुम्हारा कुछ अपराध किया है ?' नंदा बोली, 'स्वामी ! किसिने मेरी आज्ञा खंडित नहीं की, इसमें आपका भी कुछ अपराध नहीं है, लेकिन मैं श्री वीर प्रभु को पारणा करा न सकी जिससे मुझे बड़ा खेद होता हैं। भगवान वीरप्रभु नित्य भिक्षा के लिये हमारे नगर में आते हैं और किसी अपूर्व अभिग्रह के कारण से भिक्षा लिये बिना चले जाते हैं, इसलिए हे महासचिव ! आप उन प्रभु का अभिग्रह जान लो। यदि नहीं जान पाओ तो दूसरे के चित्त को पहचाननेवाली आपकी बुद्धि बेकार है।' सुगुप्त ने कहा कि 'हे प्रिया ! उस प्रभु का अभिग्रह जिस प्रकार से जाना जाये वैसा मैं प्रातःकाल में प्रयास करूंगा।' उस समय मृगावती रानी की **विजया** नाम की छड़ीदार स्त्री वहां आयी थी। उसने इस दंपती की बात सुनी तो वह सब उसने अपनी स्वामिनी मृगावती के पास जाकर कही। वह सुनकर मृगावती रानी को भी तत्काल खेद उत्पन्न हुआ। शतानीक राजा ने संभ्रम पाकर उसके खेद का कारण पूछा, तो मृगावती सहज भ्रुकूटि ऊंची करके अंतर के खेद और क्षोभ के उद्गार से व्याप्त ऐसी वाणी में बोली, ''राजा तो इस चराचर जगत को अपने खबरियों से जान सकते हैं और आप हमारे एक शहर को भी जान नहीं सकते, तो उसके पास क्या बात करनी ? राज्य के सुख में प्रमादी बने हे नाथ ! तीन लोक को पूजित अंतिम तीर्थंकर श्री वीरभगवंत इस शहर में हैं, यह आप जानते हो ? वे किसी अभिग्रह के कारण घर-घर घूमते हैं, लेकिन भिक्षा लिये बिना ही वापस लौट जाते हैं, यह आप जानते हो ? मुझे, आपको और आपके अमात्य को धिक्कार है, कि जो श्री वीरप्रभु अज्ञात अभिग्रह के कारण इतने दिनों से भिक्षा बिना रहे हैं।'' राजा ने कहा, ''हे शुभाशये ! हे धर्मचतुरे ! तुम्हें शाबाशी हैं। मेरे जैसे प्रमादी को तुमने बहुत बढिया सीख योग्य समय पर दी है। अब प्रभु का अभिग्रह मालूम करके मैं प्रातःकाल में उनको पारणा कराऊंगा।'' इस प्रकार कहकर राजा ने तत्काल सचिव को बुलवाया, और कहा कि 'हे भद्र ! मेरी नगरी में श्री वीरप्रभु चार मास से भिक्षा बिना रहे हैं, इसलिए हमें धिक्कार है ! तो आप चाहे सो कर के उनका अभिग्रह जान लेना, कि जिससे मैं उस अभिग्रह को पूरा करके मेरी शुद्धता के लिये

पारणा करवाऊं।' सचिव बोला, 'हे महाराज ! उनका अभिग्रह जाना जाय ऐसा नहीं है, मैं भी उससे ही खेद पाता हूँ, इसलिये उसका कोई उपाय करना चाहिए।' फिर राजा ने धर्मशास्त्र में विचक्षण ऐसे **तथ्यकंदी** नाम के उपाध्याय को बुलवाकर कहा कि 'हे महामति ! आपके शास्त्र में सर्व धर्मों के आचार कहे हुए हैं, तो उसमें से श्री जिनेश्वर के अभिग्रह की बात कहिए।' उपाध्याय बोले कि 'हे राजन् ! महर्षियों को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव - इस चार भेद से कईं अभिग्रह कहे हुए हैं। इन भगवंत ने जो अभिग्रह लिया है, वो विशिष्ट ज्ञान बिना कदापि जाना नहीं जायेगा।' फिर राजा ने नगरी में आघोषणा करायी कि, 'अभिग्रह के धारण करनेवाले श्री वीरप्रभु भिक्षा लेने आये तब लोगों को अनेक प्रकार की भिक्षा देनी।' राजा की आज्ञा से और श्रद्धा से सब लोगों ने वैसा किया, फिर भी अभिग्रह पूरा न होने से प्रभु ने किसी भी स्थान से भिक्षा ग्रहण नहीं की। इस प्रकार भिक्षारहित रहने पर भी विशुद्ध ध्यान में लीन बने प्रभु आनंदित मुख से रहते थे और लोग दिन प्रतिदिन लज्जा और खेद से विशेष आकुल-व्याकुल होकर चिंता से उन्हें देखा करते थे।

इस अरसे में शतानिक राजा ने सैन्य के साथ आँधी की तरह तेजी से एक रात्रि में जाकर चंपानगरी को घेर लिया। चंपापति **दधिवाहन** राजा उससे भय पाकर भाग गया। 'अति बलवान पुरुष से घिरे हुए मनुष्य को पलायन के सिवा अन्य कोई स्वरक्षण का उपाय नहीं है।' फिर शतानिक राजा ने 'इस नगरी में से जो लिया जा सके उतना ले लेना' ऐसी अपने सैन्य में आघोषणा करवाई। तो उसके सुभटों ने चंपानगरी को स्वेच्छा से लूंटना शुरु किया। दधिवाहन राजा की **धारिणी** नाम की रानी को उसकी **वसुमति** नाम की पुत्री सहित कोई ऊंटवाला हर गया। शत्रुरुपी कुमुद में सूर्य समान शतानिक राजा कृतार्थ होकर सैन्य के परिवार सहित कौशांबी नगरी में वापस आया। धारिणी देवी के रुप से मोह पाये वह ऊंटवाला सुभट लोगों के समक्ष उच्च स्वर में कहने लगा कि 'यह जो प्रौढा रुपवती स्त्री है वह मेरी स्त्री होगी और इस कन्या को कौशांबी के चौराहे में जाकर बेच दूंगा।' यह सुनकर धारिणी देवी ने मन में सोचा कि 'मैं चन्द्र से भी निर्मल ऐसे वंश में जन्मी हूँ, फिर महान वंश में उत्पन्न हुए दधिवाहन राजा की पत्नी हूँ और जैन धर्म मुझे मिला हुआ है। तो ऐसे अक्षर सुनने पर भी मैं पाप का पात्र बनकर इस समय जी रही हूँ, इसलिये मुझे धिक्कार है ! और स्वभाव से चपल ऐसा जीव ! अब भी इस देह में क्यों बैठे हुए है ? यदि तू अपने आप नहीं निकलेगा तो घोंसले में से पक्षी को निकाले त्यों मैं तूझे जबरदस्ती से निकाल दूंगी।' इस प्रकार से तिरस्कार से मानो उद्वेग पाया हो त्यों खेद से फूटे हुए उसके हृदय में से उसके प्राण पलभर में निकल गये। उसे मृत्यु पायी हुई देखकर ऊंटवाले सुभट ने खेद किया कि ''ऐसी सती स्त्री के लिये मैंने कहा कि 'ये मेरी पत्नी होगी' यह मैंने बहुत बूरा किया, मुझे धिक्कार हैं ! ऊंगली से दिखाते हुए काशीफल की तरह मेरी दुष्ट वाणी से ये सती ज्यों मृत्यु पायी त्यों शायद इसकी कन्या भी मृत्यु पायेगी इसलिये अब उसे खेद नहीं पहुँचाना हैं।'' ऐसा विचार करके उस राजकन्या को मीठे वचन से बाते करते हुए वह कौशांबी नगरी में ले आया और उसे राजमार्ग में बेचने के लिये खड़ी की। दैवयोग से वहां **धनावह** सेठ आ पहुँचा। उस वसुमती को देखकर सोच में पडा कि

इसकी आकृति देखने पर यह कोई सामान्य मनुष्य की पुत्री नहीं लगती, लेकिन यूथ में से भ्रष्ट बनी हिरनी शिकारी के हाथ में आये त्यों माता-पिता से अलग पड़ी हुई यह कन्या इस निर्दयी मनुष्य के हाथ में आयी लगती हैं, उसने यहां मूल्य लेकर बेचने के लिये रखी है, जिससे यह बैचारी जरुर किसी हीन मनुष्य के हाथ में फँस जायेगी, तो इस मनुष्य को बहुत द्रव्य देकर मैं ही इस कृपापात्र कन्या को खरीदूं। अपनी पुत्री की भाँति मैं उसकी उपेक्षा करने में अशक्त हूँ। किसी भी प्रकार की बाधा बिना मेरे घर रहने पर दैवयोग से इस बाला को इसके स्वजन वर्ग का संयोग भी हो जायेगा।' इस प्रकार सोचकर उस सुभट की इच्छानुसार उसे मूल्य देकर धनावह सेठ दया करके उस बाला को अपने घर ले गया। उसने स्वच्छ बुद्धि से पूछा कि, 'हे वत्से ! तू किसकी कन्या है और तेरा स्वजनवर्ग कौन है वह बता। भय मत पाना, तू मेरी पुत्री ही हैं।' वह अपने कुल की अति महत्ता होने से कुछ कह नहीं पायी, जिससे कुछ भी न बोलते हुए सायंकाल में कमलिनी रहे त्यों अधोमुख करके खड़ी रही। फिर सेठ ने अपनी पत्नी मूला सेठानी को कहा कि 'प्रिया ! यह कन्या हमारी पुत्री है। उसका अति यत्न से पुष्प की तरह लालन-पालन करना।' श्रेष्ठी के ऐसे वचन से वह बाला वहां अपने घर की भाँति रही और बालचंद्र (छोटे चंद्र) की लेखा की तरह सर्व के नेत्र को आनंद देने लगी। उसके चंदन जैसे शीतल विनयी वचन और शील से रंजित बने श्रेष्ठी ने परिवार के साथ मिलकर उसका चंदना ऐसा नाम रखा।

क्रमशः हस्तीनि जैसे उरुवाली वह बाला युवावस्था को प्राप्त हुई। उस समय समुद्र को ज्यों पूर्णिमा की रात्रि हर्ष दे त्यों वह उस श्रेष्ठी को हर्ष देने लगी। स्वभाव से ही रुपवती फिर भी यौवन पाने से विशेष रुपवती बनी चंदना को देखकर मूला सेठानी मन में इर्ष्या लाकर इस प्रकार सोचने लगी कि 'श्रेष्ठी ने इस कन्या को पुत्री समान रखी है, लेकिन अब उसके रुप से मोहित बनकर शायद सेठ उसके साथ ब्याहे तो मैं जीवित होते हुए भी मरे समान बन जाऊंगी।' इस प्रकार स्त्रीपन के योग्य तुच्छ हृदय के कारण वह मूला तब से रात-दिन उदास रहने लगी। एक बार सेठ ग्रीष्म ऋतु की घूप से पीडित होकर दुकान से घर आये। उस समय दैवयोग से उसके पाँव को धोनेवाला कोई सेवक हाजिर नहीं था, जिससे अति विनीत चंदना खड़ी हुई और सेठ ने रोका फिर भी वह पितृभक्ति से सेठ के पैर धोने लगीं। उस समय उसका स्निग्ध, श्याम और कोमल केशपाश अंग की शिथिलता से खुलकर जलपंकिल भूमि में गिरा, जिससे 'इस पुत्री का केशपाश भूमि के किचड से मलिन न हो' ऐसा सोचकर सेठ ने सहज स्वभाव से लकडी से उसको ऊंचा किया और फिर आदर से बांध दिया। छज्जे में खड़ी मूला ने वह देखा, तो उसे विचार आया कि ''मैंने पहले जो तर्क किया था वह बराबर मिलता आता है। इस युवा स्त्री का केशपाश सेठ ने स्वयं बांध दिया, यह उसका पत्नीपन का प्रथम चिह्न सूचित करता है, क्योंकि पिता का काम इस प्रकार करने का होता नहीं है, इसलिये अब उस बाला का व्याधि की तरह मूल में से ही उच्छेद करना चाहिए।'' ऐसा निश्चय करके वह दुराशयी डाकिन की तरह ऐसे समय की राह देखने लगी। सेठ कुछ समय का विश्राम करके दुबारा बाहर गये तो मूला ने एक नाई को बुलवाकर चंदना का मस्तक मुंडवा

डाला। फिर उसके पैर में बेडी डालकर क्रोधरुपी राक्षस के वश बनी मूला ने लता को हाथिनी की तरह चंदना को बहुत पीटा। फिर घर के एक दूर के विभाग (कमरे) में चंदना को बंद करके किवाड बंद कर दिये और मूला ने अपने परिवार[1] को कहा कि 'श्रेष्ठी इस बारे में पूछे तो किसिको भी कुछ कहना नहीं है। फिर भी जो कहेगा, उसे मेरी कोपरुपी अग्नि में आहूतिरुप बनना होगा।' इस प्रकार नियंत्रणा (मना) करके मूला अपने मैके चली गयी। सायंकाल में सेठ ने आकर पूछा कि 'चंदना कहां है ?' तो मूला के भय से किसिने उत्तर दिया नहीं। सेठ ने सोचा कि 'मेरी वत्सा चंदना कुछ खेलती होगी अथवा घर के ऊपर होगी।' इस प्रकार वापस रात्रि को पूछा पर किसिने कुछ कहा नहीं। तो सरल बुद्धिवाले सेठ ने सोचा कि 'चंदना सो गयी होगी।' उस प्रकार दूसरे दिन भी देखा नहीं तथा तीसरे दिन पर उसे देखा नहीं तो शंका और कोप से आकुल-व्याकुल बने सेठ ने परिजनों को पूछा, 'अरे सेवकों ! बताओ, मेरी पुत्री चंदना कहां हैं ? यदि तुम जानते हुए भी नहीं कहोगे, तो मैं तुम सब को शिक्षा करूंगा।' यह सुनकर किसी वृद्ध दासी ने सोचा कि 'मैं लम्बे अरसे से जी रही हूँ, अब मेरी मृत्यु भी समीप है, इसलिये शायद मैं चंदना का वृत्तांत कहूंगी तो मूला मुझे क्या कर पायेगी ?' ऐसा विचार करके उसने मूला और चंदना की संपूर्ण बात सेठ को कह सुनायी। फिर उस वृद्धा ने जाकर जहां चंदना को बंद किया था वह घर सेठ को दिखाया, तो धनावह सेठ ने अपने आप उसका द्वार खोला। वहां चोर ने खिंची हुई लता समान क्षुधा-तृषा से पीडित, नई पकडी हुई हाथिनी की तरह बैडी से बांधी हुई भिक्षुणी की तरह सर से मुंडित की हुई और जिसके नेत्रकमल अश्रु से भरे हैं ऐसी चंदना को धनावह सेठ ने देखा। सेठ ने उसे कहा कि 'वत्से ! तू स्वस्थ बन।' ऐसा कहकर नेत्र में से अश्रु बहाते सेठ उसे भोजन करवाने के लिये रसवती लेने हेतु शीघ्रता से रसोईघर में गये। वहां दैवयोग से कुछ भी अवशेष भोजन नजर आया नहीं, जिससे सूप के कौने में पड़े कुल्माष (उडद) उसने चंदना को दिये, और कहा, 'हे वत्से ! मैं तेरी बैडी तोड़ने के लिये लुहार को बुलाकर ले आता हूँ, तब तक तू इस कुल्माष का भोजन कर।' इस प्रकार कहकर सेठ बहार गये, तो चंदना खडे खड़े सोचने लगी, 'अहो ! मेरा राजकुल में जन्म कहां और इस समय की ऐसी स्थिति कहां ! इस नाटक जैसे संसार में क्षण में वस्तु मात्र अन्यथा हो जाती है, यह सब मैंने स्वयं अनुभव किया है। अहो ! अब मैं उसका प्रतिकार करूं ! आज अट्ठम के पारणे में ये उडद मिले हैं, लेकिन यदि कोई अतिथि आये तो उसे देकर बाद में मैं भोजन करूं, अन्यथा खाऊंगी नहीं।' ऐसा विचार करके उसने द्वार पर दृष्टि डाली। उतने में तो श्री वीर प्रभु भिक्षा के लिये घूमते घूमते वहां आ पहुंचे। उनको देखकर 'अहो ! कैसा शुभ पात्र ! अहो ! कैसा उत्तम पात्र ! अहो ! मेरे पुण्य का संचय कैसा कि जिससे यह कोई महात्मा भिक्षा के लिये यहां अचानक प्राप्त हुए।' इस प्रकार चिंतवन करके वह बाला कुल्माषवाला सूप हाथ में लेकर एक पैर देहलिज के अंदर और एक पैर बहार रखकर खड़ी रही। बेडी के कारण दहेलिज लांघने में अशक्त ऐसी वह बाला वहां रहते हुए आर्द्र हृदयवाली भक्ति से भगवंत प्रति बोली, 'हे प्रभु ! यद्यपि यह

१. सेवक वगैरह।

भोजन आपके लिये अनुचित है, फिर भी आप परोपकार में तत्पर हो, इसलिये इसे ग्रहण करके मुज पर अनुग्रह करें।' द्रव्यादि चार प्रकार से शुद्ध रुप में अभिग्रह पूर्ण हुआ जानकर प्रभु ने उस कुल्माष की भिक्षा लेने के लिये अपना कर फैलाया।[1] उस समय 'अहो ! मुझे धन्य है।' ऐसा ध्यान धरते हुए चंदना ने सूप के एक कौने द्वारा वे कुल्माष प्रभु के हाथ में डाले। प्रभु का अभिग्रह पूरा होने से देवता प्रसन्न होकर वहां आये और उन्होंने वसुधारा वगैरह पांच दिव्य प्रकट किये। तत्काल चंदना की बेडिया टूट गई, उसके स्थान पर सुवर्ण के नूपूर बन गये और केशपाश पूर्व की भाँति सुशोभित हो गया। श्री वीरप्रभु के भक्त देवों ने तत्काल चंदना को सर्व अंग को वस्त्रालंकार से शोभित कर दिये। फिर देवता पृथ्वी और अंतरिक्ष के उदर को भर दे ऐसा उत्कृष्ट नाद करके सूत्रधार की तरह हर्ष पाते हुए गीत-नृत्यादिक करने लगे। दुदुंभि का ध्वनि सुनकर मृगावती और शतानिक राजा तथा सुगुप्त सचिव और नंदा बडे परिवार सहित वहां आये। देवपति शक्रेन्द्र भी पूर्ण अभिग्रहवाले प्रभु की वंदना के लिये मन में हर्ष पाते हुए तेजी से वहां आये। दधिवाहन राजा का **संपुल** नाम का एक कंचुकी था, उसको शतानिक राजा जब चंपानगरी को लूंटा तब वहां से पकड़ लाया था, उसे इस समय पर ही छोड़ देने पर वह वहां आया, तो अपने राजा की पुत्री वसुमती को देखकर उसके चरणों में पडा और खुले कंठ से रुदन करने लगा, जिससे उस बाला को भी रुदन आया। शतानिक राजा ने उसे पूछा कि 'तू क्यों रोता है ?' तब वह कंचुकी अश्रुधारा सहित बोला, 'महाराज ! दधिवाहन राजा की धारिणी रानी की यह पुत्री है। अहो ! उसके उत्कृष्ठ वैभव से भ्रष्ट होकर माता-पिता बिना की यह बाला दूसरे के घर दासी समान रहती है, उसे देखकर मुझे रुदन आता है।' राजा ने कहा, 'हे भद्र ! यह कुमारी शोक करने योग्य नहीं है, क्योंकि उसने तीनों जगत का रक्षण करने में शूरवीर ऐसे वीरप्रभु का अभिग्रह पूरा करके उन्हें प्रतिलाभित (पारणा) किया है।' उस समय मृगावती बोली, 'अरे ! धारिणी तो मेरी बहन लगती है, उसकी यह पुत्री है, तो मेरी भी पुत्री है।' फिर प्रभु छः मास में पांच दिन कम रहने पर तप का पारणा करके उस धनावह सेठ के घर में से बाहर निकले।

प्रभु के जाने के बाद लोभ की प्रबलता से शतानिक राजा ने वह वसुधारा का धन लेने की इच्छा की तो सौधर्मपति ने शतानिक राजा को कहा, 'हे राजन् ! आप इस रत्नवृष्टि को लेने की इच्छा करते हो, लेकिन इस द्रव्य पर आपका स्वामीभाव नहीं है। इसलिये यह कन्या जिसे दे वह यह द्रव्य ले सकेगा।' राजा ने चंदना को पूछा, 'चंदना ! यह द्रव्य कौन ले ?' चंदना बोली, 'यह धनावह सेठ ग्रहण करे, क्योंकि मेरा पालन करने से वे मेरे पिता हैं।' फिर धनावह सेठ ने उस वसुधारा का द्रव्य ग्रहण किया। फिर इन्द्र ने दुबारा शतानिक राजा को कहा, 'यह बाला चरमदेही (मोक्ष में जानेवाली) है और भोगतृष्णा से विमुख है, जिससे जब वीरप्रभु को केवलज्ञान होगा तब

१. उस समय चंदना के नेत्र में आंसु नहीं थे, जिससे प्रभु अभिग्रह की अपूर्णता जानकर वापस लौटे, तो चंदना को अति खेद हुआ, जिससे उसकी आंख में से आंसु आये। प्रभु अभिग्रह पूरा हुआ जानकर वापस लौटे और दान लिया। ऐसा अन्यत्र कथन हैं।

वह उनकी प्रथम शिष्या बनेगी। इसलिये जब तक प्रभु को केवलज्ञान उत्पन्न हो तब तक आपको इसका रक्षण करना है।' इस प्रकार कहकर प्रभु को नमन करके इन्द्र देवलोक में गए। राजा शतानिक ने चंदना को अपने यहां ले जाकर कन्याओं के अंतःपुर में रखा। चंदना भी प्रभु के केवलज्ञान की उत्पत्ति होने का ध्यान धरते हुए वहां रही। वह मूला सेठानी जो अनर्थ का मूल थी उसे धनावह सेठ ने निकाल दिया, वह दुर्ध्यान करते हुए मृत्यु पाकर नरक में गयी।

प्रभु वहां से विहार करके प्रातःकाल में **सुमंगल** गाँव में आये। वहां सनतकुमार इन्द्र ने आकर प्रभु को वंदना की। वहां से प्रभु **सत्क्षेत्र** नाम के गाँव में आये। वहां माहेन्द्र कल्प के इन्द्र ने आकर भक्ति से प्रणाम किए। वहां से प्रभु **पालक** गाँव गये। वहां **भायल** नाम का कोई वणिक यात्रा करने जा रहा था, उसने प्रभु को आते हुए देखा तो 'इस भिक्षुक के असगुन हुए इसलिये उसके मस्तक पर खडग का प्रहार करूं।' ऐसा सोचकर खडग उठाकर वह प्रभु को मारने के लिये दौडा। उस समय सिद्धार्थ व्यंतर ने आकर उस खडग से उसका ही मस्तक छिदवा डाला। प्रभु वहां से विहार करके **चंपानगरी** में आये। वहां **स्वादिदत्त** नाम के किसी ब्राह्मण की अग्निहोत्र शाला में प्रभु चार माह के उपवास करके बारहवां चौमासा रहे। वहां **पूर्णभद्र** और **माणिभद्र** नाम के दो महर्द्धिक यक्ष रोज रात्रि में आकर प्रभु की पूजा करते थे। यह देखकर स्वादिदत्त ने सोचा कि 'ये देवार्य क्या कुछ जानते होंगे कि जिससे हरेक रात्रि में उनके पास आकर देवता उन्हें पूजते हैं ?' इस प्रकार चिंतन करते हुए जिज्ञासु बनकर स्वादिदत्त प्रभु के पास आया और पूछा कि 'हे देवार्य ! सिर वगैरह अंग से पूर्ण ऐसे इस देह में जीव किसे कहते हैं ?' प्रभु बोले कि 'देह में रहते हुए जो अहं (मैं) ऐसा मानता है, वह जीव हैं।' स्वादिदत्त ने कहा, 'उसे किस तरह समजना ?' भगवंत बोले, 'हे द्विज ! मस्तक, हाथ वगैरह जो अवयव हैं, उससे वह अलग है और सूक्ष्म है।' स्वादिदत्त ने पूछा कि 'वह सूक्ष्म है, लेकिन कहां है ? उसे बराबर स्पष्ट कह दिखाये।' प्रभु बोले, 'वह इन्द्रियों से ग्रहण नहीं होता।' ऐसे प्रश्नोत्तर से उस ब्राह्मण ने प्रभु को तत्त्ववेत्ता जानकर प्रभु की पूजा की और प्रभु ने भी उसे भव्य जानकर प्रतिबोध दिया। वह चौमासा बीतने के बाद प्रभु **जृांभक** गाँव में आये। वहां इन्द्र नाट्यविधि दिखाकर बोला, 'हे जगद्गुरु ! अब कुछ दिन के बाद आपको उज्ज्वल केवलज्ञान उत्पन्न होगा।' इस प्रकार कहकर प्रभु को नमन करके इन्द्र स्वर्ग में गये और प्रभु वहां से विहार करके **मेढक** गाँव में आये। वहां चमरेन्द्र ने आकर प्रभु को वंदना की और सुख-शाता-विहार पूछकर अपने स्थान पर गया।

वहां से विहार करके प्रभु **षड्गमानि** गाँव में गये। वहां कायोत्सर्ग करके ध्यानपरायण होकर गाँव के बाहर रहे। उस समय वासुदेव के भव में शय्यापालक के कान में तपाया हुआ सीसा डालकर उपार्जित किया हुआ अशाता वेदनीय कर्म प्रभु को उदित हुआ। उस शय्यापालक का जीव यहां ग्वाला बना था। वह प्रभु के पास बैलों को छोड़कर गाय दूहने के लिये गया। वे बैल स्वेच्छा से चरते चरते किसी अटवी में दूर चले गये। कुछ देर बाद वह ग्वाला वापस आया। वहां बैलो को नहीं देखा तो उसने प्रभु को कहा, 'अरे ! अधम देवार्य ! मेरे बैल कहां गये ? तू क्यों बोलता नहीं है ? क्या

मेरे यह वचन सुनता नहीं ? ये तेरे कान के छिद्र क्या फोगट के ही हैं ?' इस प्रकार कहने पर भी जब प्रभु बोले नहीं तब उसने अति क्रोध धरकर प्रभु के दोनो कर्णरंध्र में कास की सलाईयां डाली। फिर उन सलाईयों को ताडन करने से वे सलाईयां परस्पर इस तरह जुड गई की मानो वह अखंड एक ही सलाई हो त्यों दिखने लगी। फिर इन दो खूंटो को कोई निकाल नहीं सकेगा, ऐसा मानकर वह दुष्ट ग्वाला उसका बाहर दिखता भाग छेदकर चला गया। माया और मिथ्यात्वरुपी शल्य जिसका नाश पाया है ऐसे प्रभु कान में डाले हुए शल्य से शुभ ध्यान में से जरा सा भी कंपित नहीं हुए। वहां से प्रभु मध्यम **अपापानगरी** में पधारे। वहां पारणे के लिये प्रभु **सिद्धार्थ** वणिक के घर गये। उसने प्रभु को भक्ति से प्रतिलाभित किया। वहां उस सिद्धार्थ का एक **खरक** नाम का प्रियमित्र वैद्य पहले से आकर बैठा था। वह सूक्ष्म बुद्धिमान होने से प्रभु को देखकर सोच-समजकर बोला कि 'अहो ! ये भगवंत की मूर्ति सब लक्षणों से भरपूर है, लेकिन थोड़ी सी म्लानिभूत (बीमारी) लगती है, जिससे शल्यवान हो वैसी लगती है।' सिद्धार्थ ने संभ्रम से कहा, 'यदि ऐसा हो तो अच्छी तरह से जाँच करके बता कि भगवंत के शरीर में किस जगह पर शल्य (घाव) है ?' फिर उस वैद्य ने प्रभु के पूरे शरीर की निपुणता से जांच की तो दोनों कान में कीले जड़े हुए देखे। उसने सिद्धार्थ को भी वह दिखाए। सिद्धार्थ बोला कि, 'अरे ! किसी अपवाद से या नरक का भी भय नहीं रखनेवाले पापी ने यह दारुण कर्म किया लगता है, परंतु हे महामति मित्र ! उस पापी की बात करने की कुछ आवश्यकता नहीं है, अब तो प्रभु के शरीर में से शल्य का उद्धार करने का प्रयत्न कर। यह शल्य तो प्रभु के कान में है, लेकिन पीडा मुझे बहुत होती है, इसलिये इसके बारे में मैं थोड़ा सा विलंब सहन नहीं कर सकता। मेरा सर्वस्व भले ही नाश पा जाय, लेकिन इस जगत्पति के कान में से जिस किसी भी प्रकार से शल्य का उद्धार (घाव दूर) हो तो हम दोनों का इस भवसागर में से उद्धार हुआ ऐसा मैं मानता हूँ।' वैद्य बोला, 'ये प्रभु यद्यपि विश्व का रक्षण और क्षय करने में समर्थ हैं, लेकिन कर्म का क्षय करवाने के लिये उन्होंने उस अपकारी पुरुष की उपेक्षा की है, जिससे ये प्रभु जो अपने शरीर की भी अपेक्षा से रहित हैं, उनकी मुज से किस प्रकार चिकित्सा होगी ? क्योंकि वे कर्म की क्षीणता के लिये ऐसी वेदना को भी अच्छा मानते है।' सिद्धार्थ बोला, 'हे मित्र ! वचनों की ऐसी युक्ति इस बार क्यों करता है ? यह बात करने का समय नहीं है, इसलिये तुरंत इन भगवंत की चिकित्सा कर।' वे दोनों इस प्रकार बात कर ही रहे थे कि प्रभु तो शरीर से भी निरपेक्ष होने से वहां से चले गये। बाहर उद्यान में आकर शुभ ध्यान में परायण हुए। फिर सिद्धार्थ और खरक वैद्य औषध वगैरह लेकर तत्काल से उद्यान में आये। फिर प्रभु को तेल की एक कुंडी में बिठाया। उनके शरीर पर तेल का अभ्यंगन (मालीश) किया और बलवान चंपी करनेवाले आदमियों से मर्दन कराया। उन बलीष्ट पुरुषों ने प्रभु के शरीर के सब जोड शिथिल कर डाले। फिर उन्होंने दो संडसी लेकर प्रभु के दोनों कानों में से दोनों कील एक साथ खींचे, तो रुधिर सहित वे दोनों कील मानो प्रत्यक्ष अवशेष वेदनीय कर्म निकल जाता हो त्यों निकल गये। वे कीलें खींचते समय प्रभु को ऐसी वेदना हुई कि उस समय वज्र से मारे हुए पर्वत की तरह प्रभु ने बड़ी भयंकर

चीख मारी। प्रभु के माहात्म्य से ही उस चीख के नाद से पृथ्वी नहीं फूट सकी। ''अर्हंत प्रभु विपत्ति में भी अन्यों को उपद्रवकारी बनते नहीं हैं।'' फिर संरोहिणी औषधि से प्रभु के कान को तत्काल भर दिये। उनसे क्षमा मांगकर तथा नमन करके सिद्धार्थ और खरक वैद्य अपने घर गये। वे शुभाशय पुरुष प्रभु को वेदना करते हुए भी देवसंबंधित लक्ष्मी को भोगनेवाले बने। वह दुराशयी ग्वाला प्रभु को वेदना देकर मृत्यु पाने के बाद सातवीं नरक के दुःखों का पात्र बना। प्रभु के भैरव (भयंकर) नाद से वह उद्यान **महाभैरव** नाम से सुख्यात हुआ, और वहां लोगों ने एक देवालय बनवाया।

इस प्रकार श्री वीरप्रभु को जो जो उपसर्ग हुए, उसमें जघन्य उपसर्गों में **कटपूतना** ने जो शीत का उपद्रव किया वह उत्कृष्ट, मध्यम उपसर्गो में, **संगम** ने जो कालचक्र छोडा वह उत्कृष्ट और उत्कृष्ट उपसर्गो में कान में से कीलों का उद्धार किया वह उत्कृष्ट, इस प्रकार प्रभु को उपसर्गों का प्रारंभ भी ग्वाले से हुआ और पूर्णता भी ग्वाले से हुई। अर्थात् इन कीलों का उपसर्ग आखिरी हुआ।

प्रभु को तपस्या में एक छःमासिक, नौ चतुर्मासक्षपण, छः द्विमासिक, बारह मासिक, बहत्तर अर्धमासिक, एक (छः मास) षणमासिक, दो त्रिमासिक, दो देढ मासिक, दो ढाईमासिक, तीन भद्रादिक[1] प्रतिमाएं, कौशांबी नगरी में छः मास में पांच दिन कम तक अभिग्रह धारण (उपवास), बारह अष्टमभक्त, अंतिम रात्रि में कायोत्सर्ग युक्त एक रात्रि की बारह प्रतिमाएं और दोसौं उनतीस छट्ठ - इतनी हुईं तथा तीनसौं उनचास पारणे हुए। इस प्रकार व्रत लिया उस दिन से लेकर साढे बारह वर्ष और एक पखवाडे में तपस्याएं हुईं। उन्होंने नित्य भक्त या चतुर्थ भक्त (एक उपवास) किया ही नहीं है। इस प्रकार जलरहित सर्व तपस्या करते हुए, उपसर्गों को जीतते और छद्मस्थता से विचरते श्री वीर प्रभु ऋजुवालिका नाम की बड़ी नदीवाले **जृंभृक** नाम के गाँव समीप आये।

इत्याचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि विरचिते त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरिते महाकाव्ये दशमपर्वणि श्री महावीर द्वितीय साग्रषड्वार्षिक छद्मस्थविहार वर्णनो नाम चतुर्थः सर्गः।।४।।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

१. भद्र, महाभद्र, सर्वतोभद्र - दो, चार और दस दिन की।

पाँचवाँ सर्ग

श्री महावीर स्वामी को केवलज्ञान और चतुर्विध संघ की स्थापना

जृंभक गाँव के बाहर ऋजुवालिका नदी के उत्तर तट पर **शामाक** नाम के किसी गृहस्थ का क्षेत्र था। वहां किसी गुप्त-अस्पष्ट रहे चैत्य के नज़दीक साल तरु (वृक्ष) के नीचे प्रभु छट्ठ तप करके उत्कटिक आसन में रहकर आतापना करने लगे। वहां विजय मुहूर्त में शुक्लध्यान में रहकर और क्षपकश्रेणी पर आरुढ हुए प्रभु के चार घाती कर्म जीर्ण धागे की तरह तत्काल टूट गये, जिससे वैशाख मास की शुकल दशवीं को चन्द्र हस्तोत्तरा नक्षत्र में आते ही दिन के चौथे प्रहर में प्रभु को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। इन्द्र आसनकंप से प्रभु के केवलज्ञान को जानकर देवताओं के साथ हर्ष पाते हुए वहां आएं। इस अवसर पर कोई देवता कूदने लगा, कोई नाचने लगा, कोई हँसने लगा, कोई गाने लगा, कोई शेर की तरह दहाड़ने लगा, कोई अश्व की तरह हेषारव करने लगा, कोई हस्ती की तरह चिंघाड़ने लगा, कोई रथ की तरह चित्कार करने लगा और कोई सर्प की तरह फुत्कारने लगा। प्रभु के केवलज्ञान से हर्ष पाये चारों निकाय के देवता भी अन्य विविध चेष्टाएं करने लगे। फिर देवताओं ने तीन किल्लेवाला और प्रत्येक किल्ले में चार चार द्वारवाला समवसरण रचा। 'यहां (रत्नसिंहासन पर बैठकर देशना देनी आदि) सर्वविरति के योग्य नहीं है।' ऐसा जानते होने पर भी प्रभु ने अपना कल्प जानकर उस समवसरण में बैठकर देशना दी। अपने तीर्थ में हाथी के वाहनवाला, कृष्णवर्णी, वाम भुजा में बीजौरे, और दक्षिण भुजा में नकुल को धारण करनेवाला, **मातंग** नाम का यक्ष और शेर के आसनवाली, नीलवर्णी, दो वाम भुजा में बीजोरा, और वीणा तथा दूसरी दक्षिण भुजा में पुस्तक और अभय को धारण करती **सिद्धायिका** नाम की देवी - ये दोनों प्रभु के समीप नित्य रहनेवाले शासनदेवता बने। उस समय वहां उपकार के योग्य ऐसे लोगों के बिलकुल अभाव से परोपकार में तत्पर और जिनका प्रेमबंधन क्षीण बना है ऐसे प्रभु ने वहां से विहार किया।[१]

इसके बाद 'मुझे तीर्थंकर नाम गोत्र का बड़ा कर्म जो पहचानना है, वह भव्य जंतु को प्रतिबोध देने द्वारा अनुभव करने योग्य है' ऐसा सोचकर असंख्य कोटि देवताओं से युक्त, और देवताओं द्वारा संचारित सुवर्णकमल पर चरण रखते हुए प्रभु दिन की तरह देवता के प्रकाश से रात्रि में भी प्रकाशित होते हुए बारह योजन के विस्तारवाली, भव्य प्राणियों से अलंकृत और यज्ञ के लिये मिले हुए प्रबोध के योग्य गौतमादिक कईं शिष्यों द्वारा सेवित **अपापा** नाम की नगरी में आये। उस पुरीं के समीप **महासेनवन** नाम के उद्यान में देवताओं ने एक सुंदर समवसरण रचा। फिर जिनको सर्व अतिशय प्राप्त हुए हैं, ऐसे और सुर-असुरों से स्तवन पाते हुए ऐसे प्रभु ने पूर्व द्वार से उस समवसरण में प्रवेश किया। बत्तीस धनुष ऊंचे रत्न के प्रतिछंद जैसे चैत्य वृक्ष को तीन प्रदक्षिणा देकर 'तीर्थाय नमः' ऐसा कहकर आर्हंती मर्यादा को पालते हुए प्रभु पादपीठ युक्त पूर्व सिंहासन पर बैठे। भक्तिवाले देवताओं ने प्रभु की महिमा से ही

---

१. तीर्थंकर की देशना निष्फल होती ही नहीं, लेकिन वीरप्रभु की प्रथम देशना किसिने भी विरतिभाव ग्रहण न करने से निष्फल गई यह आश्चर्य समजना चाहिए।

दूसरी तीन दिशाओं में प्रभु के प्रतिरुप रचे। उस अवसर पर सब देव तथा मनुष्य वगैरह योग्य द्वार से समवसरण में प्रवेश करके प्रभु के बदन को निहारते निहारते अपने अपने योग्य स्थान पर बैठे। फिर इन्द्र ने भक्ति से रोमांचित शरीर द्वारा प्रभु को नमन करके अंजलि जोड़कर इस प्रकार स्तुति की -

"हे प्रभु ! लावण्य से पवित्र शरीरवाले और नेत्रों को अमृत-अंजन रुपी ऐसा आपके बारे में मध्यस्थपन रखना वह भी दोष के लिये है तो द्वेष रखने की तो बात ही क्या करनी ? 'कोपादिक से उपद्रव पाये हुए (क्रोधी वगैरह) वे भी आपके प्रतिपक्षी हैं' ऐसी लोकवार्ता क्या विवेकी लोग करते हैं ? अर्थात् नहीं करते। आप विरक्त हो इससे यदि रागवान् आपके विपक्षी हो तो वे विपक्ष है ही नहीं, क्योंकि सूर्य का विपक्षी क्या खजुएं हो सकते हैं ? लवसत्तम (अनुत्तरवासी) देवता भी आपके योग को चाहते हुए भी उसे पाते नहीं तो योगमुद्रा बिना के दूसरों की तो बात ही क्या करनी ? हे स्वामी ! हम आपके जैसे नाथ की शरण को ही ग्रहण करते हैं, आपका ही स्तवन करते हैं और आपकी ही उपासना करते हैं। आपके सिवा अन्य कोई त्राता नहीं है, जिससे कहां जाकर कहे और क्या करें ! अपने आचार से ही मलिन और दूसरे को छलने में ही तत्पर ऐसे अन्य देवों से यह जगत छला जाता है। ओह ! इसकी पुकार किसके समक्ष करें ? नित्यमुक्त कहलानेवाले, फिर भी इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय करने में उद्यत बननेवाले और उससे ही बांझ स्त्री के बालक जैसे देवों का कौन सचेत पुरुष आश्रय करेगा ? हे देव ! अन्य कुछ मूढ पुरुष उदरपूर्ति करनेवाले और विषयेन्द्रियों द्वारा दुराचार करनेवाले देवताओं से आप जैसे देवाधिदेव का निन्हव (अपमान) करते हैं, यह कैसे खेद की बात हैं ? अहो ! कुछ घर में रहकर गर्जना करनेवाले मिथ्यात्वी ये सब आकाशपुष्पवत है, ऐसी उत्प्रेक्षा करके और उसके कुछ प्रमाण की कल्पना करके देह और गेह (घर) में आनंद मानते रहते हैं। कामराग और स्नेहराग का निवारण करना तो सहज में हो सके ऐसा है, लेकिन दृष्टिराग तो ऐसा अति पापी है कि जो सत्पुरुषों को भी उच्छेदन करना मुश्किल लगता है। हे नाथ ! प्रसन्न मुख, मध्यस्थ दृष्टि और लोक में प्रीति उत्पन्न करनेवाला वचन - ये सब आपमें अत्यंत प्रीति के स्थानरुप होने पर मूढ लोग वृथा आपसे उदास रहते हैं। कदापि वायु स्थिर रहे, पर्वत द्रवित हो जाय और जल जाज्वल्यमान (अग्निमय) हो, फिर भी रोगादिक से ग्रस्त बने पुरुष कदापि आप्त होने योग्य नहीं है।" इस प्रकार स्तुति करके इन्द्र ने विराम पाया। इसके बाद प्रभु ने सर्व भाषा में समझ आ जाय ऐसी वाणी से निम्नानुसार देशना दी।

"अहो ! यह संसार समुद्र समान दारुण है, और उसका कारण वृक्ष के बीज की तरह कर्म ही है। अपने ही किये हुए कर्म से विवेकरहित बना प्राणी कुआ खोदनेवाले की तरह अधोगति को पाता है और शुद्ध हृदयवाला पुरुष अपने ही कर्म से महल बांधनेवाले की तरह ऊर्ध्वगति को पाता है। कर्म के बंधन का कारण ऐसी प्राणी की हिंसा कभी भी न करनी। सदैव अपने प्राण की तरह अन्य के प्राण की रक्षा में तत्पर रहना। आत्मपीडा की तरह पराये जीव की पीडा को त्यागना चाहते प्राणी को असत्य न बोलते हुए सत्य ही बोलना चाहिए। मनुष्य के बाह्यप्राण लेने जैसा अदत्त द्रव्य कदापि लेना नहीं, क्योंकि उसका द्रव्य हरने से उसका वध किया ही कहलाता है। कई जीवों का उपमर्दन करनेवाला मैथुन कदापि सेवन करना नहीं, प्राज्ञ पुरुष को परब्रह्म (मोक्ष) को देनेवाला ब्रह्मचर्य ही धारण करना। परिग्रह धारण करना

नहीं। कइं परिग्रह के कारण अधिक बोझ से बैलों की तरह प्राणी पीडा पाकर अधोगति में गिरते हैं। इस प्राणातिपात वगैरह के दो भेद हैं, उसमें से यदि सूक्ष्म को छोड़ सके नहीं तो फिर सूक्ष्म के त्याग में अनुरागी बनकर बादर का त्याग तो अवश्य करना चाहिए।'' इस प्रकार प्रभु की देशना सुनकर सब लोग आनंद में मग्न होकर चित्रवत स्थिर बन गये।

उस अरसे में मगध देश में स्थित **गोबर** नाम के गाँव में **वसुभूति** नाम का एक गौतमगोत्री ब्राह्मण रहता था। उसे **पृथ्वी** नाम की स्त्री से **इन्द्रभूति, अग्निभूति** और **वायुभूति** नाम के तीन गौतमगोत्री पुत्र हुए थे। कोल्लाक गाँव में **धनुर्मित्र** और **धम्मिल्ल** नाम के दो ब्राह्मण थे। उन्हें **वारुणी** और **भद्दिला** नाम की स्त्रियों से **व्यक्त** और **सुधर्मा** नाम के दो पुत्र थे। **मौर्य** गाँव में **धनदेव** और **मौर्य** नाम के दो विप्र थे। वे परस्पर मौसेरे भाई लगते थे। धनदेव को **विजयदेवी** नाम की पत्नी से **मंडिक** नाम का एक पुत्र हुआ था। उसका जन्म होते ही धनदेव मृत्यु पा गया। वहां के लोकाचार अनुसार स्त्री बिना का मौर्य विजयदेवी के साथ ब्याहा। ''देशाचार लज्जा के लिये नहीं होता।'' क्रमशः मौर्य से उस विजयदेवी को एक पुत्र हुआ, वह लोगों में मौर्यपुत्र ऐसे नाम से सुख्यात हुआ था। **विमलापुरी** में **देव** नाम के ब्राह्मण को **जयंती** नाम की स्त्री से **अकंपित** नाम का एक पुत्र हुआ था। **कोशलानगरी** में **वसु** नाम के ब्राह्मण को **नंदा** नाम की स्त्री के उदर से **अचलभ्राता** नाम का एक पुत्र हुआ था। **वत्स** देश में स्थित **तुंगिक** नाम के गाँव में **दत्त** नाम के ब्राह्मण को **करुणा** नाम की स्त्री से **तैतर्य** नाम का पुत्र हुआ था। राजगृह नगर में **बल** नाम के ब्राह्मण को **अतिभद्रा** नाम की स्त्री से **प्रभास** नाम का पुत्र हुआ था। ये ग्यारह विप्रकुमार चार वेदरुपी सागर के पारगामी बने थे और गौतमादिक उपाध्याय होकर अलग अलग सेंकडो शिष्यों से युक्त रहते थे।

अपापा नगरी में **सोमिल** नाम के एक धनाढ्य ब्राह्मण ने यज्ञकर्म में विचक्षण ऐसे उन ग्यारह द्विजों को यज्ञ करने के लिये बुलवाया था। उस समय वहां ठहरे हुए श्री वीरप्रभु को वंदना करने की इच्छा से आते हुए देवताओं को देखकर गौतम ने अन्य ब्राह्मणों को कहा, 'इस यज्ञ का प्रभाव तो देखिए ! हमने मंत्रों से बुलवाये हुए ये देवता प्रत्यक्ष होकर यहां यज्ञ में आ रहे हैं।' उस समय चांडाल के गृह की तरह यज्ञ का बाडा छोड़कर देवताओं को समवसरण में जाते हुए देखकर लोग कहने लगे, 'हे नगरजनों ! अतिशय सहित सर्वज्ञ प्रभु उद्यान में ठहरे हैं, उनकी वंदना के लिये ये देवता हर्षपूर्वक जा रहे हैं।' 'सर्वज्ञ' ऐसे अक्षर सुनते ही मानो किसी ने आक्रोश किया हो त्यों इन्द्रभूति कोप करके अपने स्वजन प्रति बोला, 'अरे ! धिक्कार है ! धिक्कार ! मरुदेश के मनुष्य ज्यों आम्रवृक्ष को छोड़कर करिल वृक्ष के पास जाय त्यों ये लोग मुजे छोड़कर उस पाखंडी के पास जा रहे हैं। क्या मेरे समक्ष कोई दूसरा सर्वज्ञ हैं ? सिंह के समक्ष दूसरा कोई पराक्रमी होता ही नहीं। कदापि मनुष्य तो मूर्ख होने से उसके पास जाय तो भले जाय, लेकिन ये देवता क्यों जाते हैं ? इसलिये उस पाखंडी का दंभ कुछ महान लगता हैं, परंतु जैसा वह सर्वज्ञ होगा वैसे ही ये देवता भी लगते हैं, क्योंकि जैसा यक्ष होता है, वैसा ही बलि दिया जाता है। अब इन देवों और मानवों के समक्ष ही मैं उसके सर्वज्ञपन के गर्व को हर लेता हूँ।' इस प्रकार अहंकार से बोलते हुए गौतम पांचसौं शिष्यों से युक्त होकर जहां श्री वीरप्रभु सूरनरों से

घिरकर बैठे थे, वहां समवसरण में आया। प्रभु की समृद्धि और तादृश्य तेज देखकर 'यह क्या ?' यूं इन्द्रभूति आश्चर्य पा गया। इतने में तो 'हे गौतम ! इन्द्रभूति ! आपका स्वागत हैं।' इस प्रकार जगत्गुरु ने अमृत जैसी मधुर वाणी में कहा। जिसे सुनकर गौतम सोच में पड़ा कि 'क्या यह मेरे गोत्र और नाम को भी जानता हैं ? अथवा मेरे जैसे जगप्रसिद्ध मनुष्य को कौन नहीं जानेगा ? लेकिन मेरे हृदय में रहे संदेह को वह बताए और उसे अपनी ज्ञानसंपत्ति से छेद डाले तो वह सच्चा आश्चर्यकारी है, वैसा मैं मानूंगा।' इस प्रकार हृदय में विचार करते हुए संशयधारी इन्द्रभूति को प्रभु ने कहा, 'हे विप्र ! जीव है या नहीं ? ऐसा तेरे हृदय में संशय है, लेकिन हे गौतम ! जीव है। वह चित्त, चैतन्य, विज्ञान और संज्ञा वगैरह लक्षणों से जाना जा सकता है। यदि जीव न हो तो पुण्य-पाप का पात्र कौन ? और तुजे ये याग, दान वगैरह करने का कारण भी क्या ?' इस प्रकार प्रभु के वचन सुनकर उसने मिथ्यात्व के साथ संदेह को छोड़ दिया और प्रभु के चरण में नमस्कार करके बोला, 'हे स्वामी ! ऊंचे वृक्ष का माप लेने के लिये नीचे पुरुष की तरह मैं दुबुर्द्धि, आपकी परीक्षा लेने के लिये यहां आया था। हे नाथ ! मैं दोषयुक्त हूँ, फिर भी आपने आज मुजे अच्छी तरह से प्रतिबोध दिया है, तो अब संसार से विरक्त बने ऐसे मुजको दीक्षा देकर अनुग्रहित करें।' जगतगुरु वीरप्रभु ने उसे अपना पहला गणधर होगा, ऐसा जानकर पांचसौं शिष्यों के साथ स्वयं ही दीक्षा दे दी।

उस समय कुबेर ने चारित्र धर्म के उपकरण ला दिये। निःसंग होने पर भी उसे ग्रहण करते हुए गौतम ने सोचा, "निर्वद्य व्रत की रक्षा करने में ये वस्त्रपात्रादिक उपयोग में आते हैं, इसलिये वे ग्रहण करने योग्य हैं, क्योंकि ये धर्म के उपकरण हैं। इनके बिना छः प्रकार के जीवनिकाय की यतना करने में तत्पर ऐसे छद्मस्थ मुनियों से ठीक तरह से जीवदया किस प्रकार की जा सकेगी ! इसलिये उद्गम उत्पादादिक[1] एषणा द्वारा गुणवान् और शुद्ध उपकरण विवेकी पुरुषों को अहिंसा के लिये ग्रहण करने चाहिए। ज्ञान, दर्शन और चारित्र का आचरण करने की शक्तिवाले पुरुष को आदि, अंत और मध्य में मूढता से समय[2] में कहे अथवा अवसरोचित अर्थ को साध लेना चाहिए। ज्ञानदर्शन से रहित ऐसा जो अभिमानी पुरुष, ऐसे उपकरणों में परिग्रह का संदेह करे उसे ही हिंसक मानना चाहिए। जो धर्म के उपकरणों में परिग्रह की बुद्धि धारण करे, वे तत्त्व को नहीं जाननेवाले मूर्खों को ही प्रसन्न करना चाहता है। पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय वगैरह कइं जीवों की धर्म के उपकरण बिना किस प्रकार रक्षा होगी ? उपकरण ग्रहण करने पर भी यदि वह अपनी आत्मा को मन, वचन, काया से दूषित और असंतोषी रखे तो वह केवल अपनी आत्मा को छलता है।" इस प्रकार सोचकर इन्द्रभूति ने पांचसौं शिष्यों सहित देवताओं द्वारा अर्पण किये हुए धर्म के उपकरण ग्रहण किये।

इन्द्रभूति को दीक्षित हुआ जानकर **अग्निभूति** ने सोचा कि, "उस इंद्रजालिक ने अवश्य इन्द्रभूति को ठग लिया लगता हैं, इसलिये मैं वहां जाकर सर्वज्ञ नहीं, फिर भी अपने को सर्वज्ञ माननेवाले उस ठग को जीत लूं, और माया से पराजित किए हुए मेरे भाई को वापस ले आऊं। सर्व शास्त्र के रहस्य को

१. आहारादि कोई भी वस्तु ग्रहण करने के लिये मुनिराज को ४२ दोष रहित लेने को कहा है, उसके उद्गम-उत्पादादि अलग अलग भेद है। २. समय-सिद्धांत

जाननेवाले और बड़ी बुद्धिवाले इन्द्रभूति को माया बिना जीतने में कौन समर्थ हैं ? क्योंकि मायारहित पुरुषों में माया विजय पाती हैं, परंतु यदि वह मायावी मेरे हृदय के संशय को जानकर उसे छेद डाले तो मैं भी इन्द्रभूति की तरह शिष्य सहित उसका शिष्य बन जाऊं।'' ऐसा सोचकर अग्निभूति पांचसौं शिष्यों सहित समवसरण में गया और जिनेश्वर के पास बैठा। उसे देखते ही प्रभु बोले, ''हे गौतमगोत्री अग्निभूति ! तेरे हृदय में ऐसा संशय है कि कर्म है या नहीं ? और यदि कर्म है तो वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से अगम्य फिर भी मूर्तिमंत है, ऐसे कर्म को अमूर्तिमंत जीव किस प्रकार बांध सकता है ? अमूर्तिमंत जीव को मूर्तिमंत कर्म से उपघात और अनुग्रह किस प्रकार होता है ? तेरे हृदय में ऐसा जो संशय है वह वृथा है, क्योंकि अतिशय ज्ञानी पुरुषों को कर्म प्रत्यक्ष ही दिखता है और तुम्हारे जैसे छद्मस्थ पुरुषों को जीव की विचित्रता देखने से अनुमान द्वारा कर्म नज़र आता है। कर्म की विचित्रता से ही प्राणियों को सुख-दुःख वगैरह विचित्र भाव प्राप्त हुआ करते हैं, इसलिये कर्म है, ऐसा तू निश्चय रख। कुछ जीव राजा बनते हैं और कुछ हाथी, अश्व और रथ के वाहन को पाते हैं तथा कुछ उनके साथ जूते बिना पैदल चलनेवाले होते हैं। कुछ हजारों प्राणी के उदर भरनेवाले महर्द्धिक पुरुष होते हैं और कुछ भिक्षा मांगकर भी अपना उदर नहीं भर सकते। देशकाल एक समान होने पर भी एक व्यापारी को बड़ा लाभ होता है और दूसरे की मूल पूंजी का भी नाश हो जाता है। ऐसे कार्यों का कारण वह कर्म ही है। क्योंकि कारण बिना कार्य की विचित्रता नहीं होती। मूर्तिमंत कर्म का अमूर्तिमंत जीव के साथ जो संगम है, वह भी आकाश और घड़े की तरह बराबर मिलता है। फिर विविध प्रकार के मद्य से और औषधो से अमूर्त ऐसे जीव को भी उपघात और अनुग्रह होता है, उस प्रकार कर्मों द्वारा जीव को उपघात और अनुग्रह होता है, वह भी निर्दोष है।'' इस प्रकार प्रभु ने उसका संशय छेद डाला तो अग्निभूति ने ईर्ष्या छोड़कर पांचसौं शिष्यों के साथ प्रभु से दीक्षा ली।

अग्निभूति ने भी दीक्षा ली यह बात सुनकर **वायुभूति** ने सोचा कि ''जिसने मेरे दोनों भाइयों को जीत लिया वे सचमुच सर्वज्ञ ही होने चाहिए, इसलिये उन भगवंत के पास जाकर उनकी वंदना करके मेरा पाप धो डालूं, तथा मैं भी मेरे संशय को नष्ट करवा दूं।'' इस प्रकार सोचकर वायूभूति प्रभु के पास आया, और प्रणाम करके बैठा। उसे देखकर प्रभु बोले, ''हे वायुभूति ! तूजे जीव और शरीर के बारे में बड़ा भ्रम है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाण द्वारा ग्रहण न होने से जीव शरीर से अलग नहीं लगता, जिससे जल में बुलबूले की तरह जीव शरीर में से ही उत्पन्न होकर शरीर में ही मूर्च्छा पाता हैं, ऐसा तेरा आशय है, लेकिन वह मिथ्या हैं। कारण, सर्व प्राणियों को वह जीव देश से तो प्रत्यक्ष है, क्योंकि उसके इच्छा वगैरह गुण प्रत्यक्ष होने से जीव स्वसंविद है; अर्थात् उसका स्वयं को ही अनुभव होता है। वह जीव देह और इन्द्रियों से अलग है और इन्द्रियां जब नाश पाती है तब भी वह इन्द्रियों द्वारा पहले भोगे हुए अर्थ को याद करता है।'' प्रभु की ऐसी वाणी से अपना संदेह नष्ट हो जाने से वायुभूति ने संसार से विमुख बनकर पांचसौं शिष्यों सहित दीक्षा ली।

फिर **व्यक्त** ने स्पष्टता से सोचा कि 'सचमुच वे सर्वज्ञ भगवान ही हैं कि जिन्होंने तीन वेद की तरह इन्द्रभूति वगैरह तीनों को जीत लिया हैं; वे भगवंत मेरा संशय भी जरुर मिटा डालेंगे और फिर मैं

उनका शिष्य बनूंगा।' ऐसा विचार करके व्यक्त प्रभु के पास आया। उसे देखकर प्रभु बोले, "हे व्यक्त ! तेरे चित्त में ऐसा संदेह है कि पृथ्वी आदि पांच भूत हैं ही नहीं। उसकी जो यह प्रतीति लगती है वह भ्रम से जलचंद्र समान है। यह सब शून्य ही है - ऐसा तेरा दृढ आशय है, लेकिन वह मिथ्या है। क्योंकि यदि सर्व शून्यता का पक्ष ले तो फिर भुवन में सुख्यात बने स्वप्न, अस्वप्न, गंधर्वपुर वगैरह भेद घटित ही न हो।" इस प्रकार सुनकर व्यक्त का संशय छिद गया, जिससे उसने व्यक्त वासना बताकर पांचसौं शिष्यों सहित प्रभु से दीक्षा ली। यह समाचार सुनकर उपाध्याय **सुधर्मा** भी अपना संशय नष्ट करवाने की इच्छा से लोकालोक का स्वरुप देखने में सूर्य जैसे श्री वीरप्रभु के पास आया। उसे देखकर प्रभु ने कहा, "हे सुधर्मा ! तेरी बुद्धि में ऐसा विचार चल रहा है कि यह जीव जैसा इस जन्म में है, वैसा ही दूसरे जन्म में होता है, क्योंकि संसार में कारण को मिलता ही कार्य होता है। शालिबीज (चावल) बोने से उसमें से कुछ यवांकुर नहीं होते; लेकिन तेरा ऐसा विचार गलत और अघटित है, क्योंकि इस संसार में जो मनुष्य मृदुता और सरलता आदि द्वारा मानुषी आयुष्य बांधता है वह दुबारा भी मनुष्य बनता है। लेकिन जो माया वगैरह में लीन होकर यहां पशुरुप रहता है, वह मनुष्य आगामी जन्म में पशु बनता है। इसलिये जीव की पृथक् पृथक् गति में उत्पत्ति कर्म के अधीन है और इससे ही प्राणियों में विविधता दिखती है और 'कारण से मिलता ही कार्य होता है' ऐसा कहना वह भी असंगत है क्योंकि शृंग वगैरह में से शर प्रमुख उग नीकलता है।" प्रभु की ऐसी वाणी सुनकर सुधर्मा ने पांचसौं शिष्य सहित प्रभु के चरणकमल में दीक्षा ली।

फिर अपना संशय छिदवाने के लिये **मंडिक** प्रभु के पास आया। प्रभु ने उसको कहा, "तूजे बंध और मोक्ष के बारे में संशय है, लेकिन बंध और मोक्ष आत्मा का होता हैं, वह बात प्रसिद्ध हैं। मिथ्यात्व आदि द्वारा किया हुआ कर्म का जो संबंध बंध कहलाता हैं। उस बंध के कारण प्राणी रस्सी द्वारा बंधा हो त्यों नरक, तिर्यंच मनुष्य और देवतारुप चार गति में परिभ्रमण करते हुए परम दारुण दुःख का अनुभव करता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र प्रमुख हेतु से जो कर्म का वियोग है, वह मोक्ष कहलाता है। वह प्राणी को अनंत सुख देता है, यद्यपि जीव और कर्म का परस्पर सहयोग अनादि सिद्ध है, लेकिन अग्नि से सुवर्ण और पाषाण अलग पड़ जाते हैं, त्यों ज्ञान आदि से जीव और कर्म का वियोग हो जाता है।" प्रभु के ऐसे वचन से जिसके संशय छिद गये हैं, ऐसे उस मंडिक ने साड़े तीनसौं शिष्यों सहित व्रत ग्रहण किया, फिर मौर्यपुत्र अपना संदेह छिदवाने के लिये प्रभु के पास आया। प्रभु बोले, "मोर्यपुत्र ! तुजे देवताओं के बारे में संदेह है, लेकिन वह मिथ्या है। देख ! इस समवसरण में अपने आप आये हुए इन्द्रादिक देवता प्रत्यक्ष हैं। शेष काल में संगीतकार्य आदि की व्यग्रता से और मनुष्य लोक की दुःसह्य गंध से वे यहां नहीं आते। परंतु उससे उनका कुछ अभाव समजना नहीं हैं। वे अर्हंत के जन्म-अभिषेक वगैरह अनेक प्रसंग पर इस पृथ्वी पर आते हैं। उसका कारण श्रीमद् अरिहंत का अति श्रेष्ठ प्रभाव है।" इस प्रकार की भगवंत की वाणी से मौर्यपुत्र ने भी तत्काल प्रतिबोध पाया और अपने तीनसौं पचास शिष्यों सहित दीक्षा ली।

इसके बाद **अकंपित** भी प्रभु के पास आया। प्रभु ने कहा, "नजर से दिखते न होने से नारकी नहीं

है, ऐसी तेरी बुद्धि हैं। लेकिन नारकी जीव हैं परंतु अत्यंत परवशता से वे यहां आने में समर्थ नहीं हैं, तथा तेरे जैसे मनुष्य वहां जाने के लिये समर्थ नहीं हैं। नारकी जीव तेरे जैसे को प्रत्यक्ष उपलब्ध नहीं हैं। छद्मस्थ जीवों को वह युक्तिगम्य हैं और जो क्षायिक ज्ञानी हैं उनको वे प्रत्यक्ष दिखते हैं। लेकिन 'इस लोक में कोई क्षायिक ज्ञानी हैं ही नहीं' ऐसा भी तू बोलना मत, क्योंकि उस शंका का व्यभिचार मुजसे ही स्फुट प्रकार से होता हैं। (अर्थात् मैं ही क्षायिक ज्ञानी हूं)'' प्रभु के ऐसे वचन सुनकर संशय नष्ट होने से अकंपित ने प्रतिबोध पाकर तीनसौं शिष्यों सहित प्रभु से दीक्षा ली। फिर **अचलभ्राता** आया। प्रभु ने उसको स्फुट प्रकार से कहा, ''अचलभ्राता ! तूजे पुण्य और पाप में संदेह है, लेकिन तू उसमें जरा सा भी संशय मत करना, क्योंकि इस लोक में पुण्य - पाप का फल प्रत्यक्ष दिखता है तथा व्यवहार से भी सिद्ध होता हैं। दीर्घ आयुष्य, लक्ष्मी, रुप, आरोग्य और सत्कुल में जन्म-ये पुण्य के फल हैं और इससे विपरीत वे पाप के फल हैं। इस प्रकार प्रभु के वचन से संशय मिट जाने पर अचलभ्राता ने तीनसौं शिष्यों के साथ दीक्षा ली।

फिर **मैतार्य** नाम का द्विज प्रभु के पास आया। प्रभु बोले, ''तूजे ऐसा संशय है कि 'जन्मांतर में प्राप्त होने रुप परलोक नहीं है, क्योंकि चिदात्मारुप जीव का स्वरुप सभी प्राणी के एक संदोहरुप हैं। उस प्राणी का अभाव होने पर - बिखर जाने पर जीव का भी अभाव हो तो फिर परलोक किस प्रकार हो ?' लेकिन वह मिथ्या हैं। जीव की स्थिति सर्व प्राणी से अलग ही हैं, क्योंकि सब प्राणी एकत्र हो जाय तो भी उसमें से कुछ चेतना उत्पन्न नहीं होती। जिससे चेतना जो जीव का धर्म है, वह प्राणी से अलग है। वह चेतनावाला जीव परलोक में जाता है और वहां भी उसे जातिस्मरण वगैरह से पूर्वभव का स्मरण होता है।'' इस प्रकार प्रभु के वचन से प्रतिबोध पाकर मैतार्य ने तीनसौं शिष्यों के साथ प्रभु से दीक्षा ली।

इसके बाद **प्रभास** आया। उसे देखकर प्रभु बोले, ''प्रभास ! 'मोक्ष है या नहीं' ऐसा तूजे संदेह है, लेकिन इसके बारे में थोड़ा सा भी संदेह मत रखना। कर्म का क्षय ही मोक्ष हैं। वेद से और जीव की अवस्था के विचित्रपन से भी कर्म सिद्ध हो गया हैं। शुद्ध ज्ञान, दर्शन और चारित्र से कर्म का क्षय होता है, इसलिये अतिशय ज्ञानवाले पुरुषों को मोक्ष प्रत्यक्ष भी होता हैं।'' स्वामी के ऐसे वचन से प्रतिबोध पाकर प्रभास ने भी तीनसौं शिष्यों सहित दीक्षा ली।

इस प्रकार महान कुल में उत्पन्न हुए महा प्राज्ञ, संवेग पाये हुए और विश्व को वंदित ऐसे वे ग्यारह प्रसिद्ध विद्वान श्री वीरप्रभु के मूल शिष्य बने। उस समय शतानिक राजा के घर रहती चंदना ने आकाश मार्ग से जाते-आते देवताओं को देखा, जिससे प्रभु को केवलज्ञान की उत्पत्ति होने का निश्चय होने पर उसे व्रत लेने की इच्छा हुई। फिर नजदीक में रहे किसी देवता ने उसे श्री वीरप्रभु की पर्षदा में रखा। प्रभु की तीन प्रदक्षिणा करने के बाद नमन करके वह दीक्षा लेने के लिए तत्पर होकर खड़ी रही। उस समय राजा तथा अमात्यों की दूसरी अनेक पुत्रियां भी दीक्षा लेने के लिये तैयार हुई। प्रभु ने चंदना को आगे करके उन सबको दीक्षा दी और हजारों नर-नारियों को श्रावकपने में स्थापित किया।

इस प्रकार चर्तुविध संघ की स्थापना होने के बाद प्रभु ने इन्द्रभूति वगैरह को ध्रौव्य, उत्पादक और

व्ययात्मक त्रिपदी कह सुनायी। उस त्रिपदि द्वारा उन्होंने आचारांग, सूत्रकृतांग, ठाणांग, समवायांग, भगवती अंग, ज्ञाताधर्मकथा, उपासक, अंतकृत्, अनुत्तरोपपातिक दशा, प्रश्न व्याकरण, विपाकश्रुत और दृष्टिवाद - इस प्रकार बारह अंग रचे और दृष्टिवाद के अंदर चौदह पूर्व भी रचे। उसके नाम इस प्रकार हैं - उत्पाद, आग्रायणीय, वीर्यप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यानप्रवाद, विद्याप्रवाद, कल्याण, प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोकबिंदुसार - इस प्रकार के चौदह पूर्वगणधरों ने अंगो से पूर्व रचे इसलिए वे पूर्व कहलाते हैं। इस तरह रचते हुए सात गणधरों की सूत्रवांचना परस्पर अलग अलग हुई और अकंपित तथा अचलभ्राता ऐवं मैतार्य और प्रभास की परस्पर समान वांचना हुई। श्री वीर प्रभु के ग्यारह गणधर होने पर भी उनमें से दो दो की वांचना समान होने से गण[1] नौं हुए।

इसके बाद समय को जाननेवाले इन्द्र तत्काल सुगंधित रत्नचूर्ण से पूर्ण ऐसा पात्र लेकर उठकर प्रभु के पास खड़े रहे, तो इन्द्रभूति वगैरह भी प्रभु की अनुज्ञा लेने के लिये जरा सा मस्तक जुकाकर क्रमशः परिपाटीपूर्वक खड़े रहे। फिर 'द्रव्य, गुण और पर्याय से आपको तीर्थ की अनुज्ञा है' ऐसा बोलते हुए प्रभु ने प्रथम इन्द्रभूति - गौतम के मस्तक पर वह चूर्ण डाला। फिर क्रमशः अन्यों के मस्तक पर चूर्ण डाला। तो देवताओं ने प्रसन्न होकर चूर्ण और पुष्प की ग्यारह गणधरों पर वृष्टि की। 'ये चिरंजीव होकर[2] धर्म का चिरकाल तक उद्योत करेंगे' ऐसा कहकर प्रभु ने सुधर्मा गणधर को सर्व मुनियों में मुख्य बनाकर गण की अनुज्ञा दी। फिर साध्वियों में संयम के उद्योग की घटना के लिये प्रभु ने उस समय चंदना को प्रवर्तिनी पद पर स्थापित किया।

इस प्रकार प्रथम पौरुषी पूर्ण हुई तब प्रभु ने देशना समाप्त की, तो राजा ने तैयार करायी हुई बलि पूर्वद्वार से सेवक पुरुष लाये। उस बलि को आकाश में उडाते ही उसमें से आधी बलि आकाश में से ही देवता ले गये और आधा भाग भूमि पर पड़ा। उसमें से आधा भाग राजा और शेष भाग अन्य लोग ले गये। फिर प्रभु सिंहासन पर से उठ़कर देवच्छंदा में जाकर बैठे, तो गौतम गणधर ने प्रभु के चरणपीठ पर बैठकर देशना दी। दूसरी पौरुषी पूर्ण होने पर वृष्टि से नवीन मेघ की तरह देशना से विराम पाये। सर्व विश्व का उपकार करने में तत्पर और सुर-असुर तथा राजा जिनके चरणकमल का सेवन कर रहे है ऐसे श्री वीरप्रभु कुछ दिन तक वहां रहकर लोगों को प्रतिबोध करके वहां से अन्यत्र पृथ्वी पर विहार कर रहे थे।

इत्याचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि विरचिते त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरिते महाकाव्ये
दशमपर्वणि श्री महावीर केवलज्ञान चतुर्विध संघोत्पत्ति वर्णनो नाम पंचमः सर्गः।।५।।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

१. मुनिसमुदाय। २. कइं वर्ष तक जीवीत रही।

छठा सर्ग

श्रेणिक राजा को सम्यक्त्व का लाभ और मेघकुमार और नंदिषेण की दीक्षा

इस भरतक्षेत्र में **कुशाग्रपुर** नाम के नगर में कुशाग्र बुद्धिवाला **प्रसेनजित** नाम का राजा था। सर्व दिशाओं को अलंकृत करते हुए उसका अथाग कीर्तिसागर शत्रुओं की कीर्तिरुपी नदी का ग्रास करता था। उसके सैन्य का संग्रह सिर्फ राज की शोभा के लिये ही था, क्योंकि उसके बैरीरुप बाघ तो उसके प्रतापरुपी अग्नि से ही नाश पाये थे। वायु पर्वत से और वज्र समुद्र से स्खलित हो, लेकिन उसकी आज्ञा पृथ्वी पर किसीसे भी स्खलित नहीं होती थी। वह हाथ फैलानेवाले सभी याचकों को द्रव्य देता लेकिन मानो उसके साथ स्पर्धा हो त्यों उनको देते हुए अपने हाथ को संकोचता नहीं था। रणभूमि में उडी रज से अंधकार होने पर विजयलक्ष्मी अभिसारिका बनकर अपने अपने पतियों को छोड़कर उस राजा को ही सभी अंगों पर आलिंगन करती थी। सदाचारी में शिरोमणि ऐसे उस राजा के शुद्ध हृदय में गाढ केशपाश में अधिवास की तरह जिनधर्म स्थिर रहा था। श्री पार्श्वनाथ प्रभु के शासनरुपी कमल में भँवरें जैसा वह सम्यक् दर्शन से पुण्यात्मा होकर अणुव्रतधारी बना था। राजशिरोमणि प्रसेनजित राजा को इन्द्र की देवियों की तरह विवाहित राज्यकन्याओं से बना एक बड़ा अंतःपुर था। पृथ्वी पर राज्य करते ऐसे उस इन्द्र समान राजा को मानो उसकी अन्य मूर्तियां हो ऐसे कईं पुत्र भी हुए थे।

इस अरसे में भरतक्षेत्र में **वसंतपुर** नाम के नगर में **जितशत्रु** नाम का यथार्थ नामधारी राजा था। पृथ्वी पर अवतरित देवी हो ऐसी उसको गुणरत्न की खान समान **अमरसुंदरी** नाम की पटरानी थी। उस दंपती को **सुमंगल** नाम का एक पुत्र हुआ था, जो मंगल का निवासस्थान, रुप में कंदर्प (कामदेव) समान और कलानिधि चंद्र जैसा था। **सेनक** नाम का सचिवपुत्र उसका मित्र था। वह शारिरीक सर्व कुलक्षणों का प्रथम दृष्टांतरुप था। उसके केश पीले थे, जिससे उसके शिखर में दावानल लगा हो वैसा पर्वत समान वह दिखता था। उल्लू की तरह वह नाक से चपटा था। मार्जार जैसे उसके पीले नेत्र थे। ऊंट जैसी उसकी लम्बी गरदन और लम्बे होठ थे। चूहे की तरह छोटे कान थे, कंद के अंकूर समान दांत की पंक्ति मुख से बाहर निकली थी। जलोदर वाले के समान उसका पेट था। गाँव के सूअर समान छोटी जांघ थी। मंडलस्थानवत् आसन किया हो ऐसी वक्र जंघा थी और सूप जैसे उसके पैर थे। वह वराक दुराचारी, जहां जहां जाता वहां वहां हास्य का ही एकछत्र राज्य रहता था। जब जब वह सेनक दूर से आ रहा हो तब तब राजपुत्र सुमंगल उसका विकृत रुप देखकर हसता था।

इस प्रकार रात-दिन राजपुत्र उसका उपहास करता जिससे आखिर में उस अपमानरुप वृक्ष को महाफलरुप वैराग्य उत्पन्न हुआ और वैराग्य होते ही वह मंदभागी सैनक उन्मत की तरह

हृदयशून्य होकर शहर में से निकल गया। सचिवपुत्र के जाने के बाद कुछ समय व्यतीत होने पर राजा ने सुमंगल कुमार को अपने राज पर बिठाया। वन में घूमते हुए सेनक ने किसी कुलपति तापस को देखा। उसके पास तापस बनकर उसने उष्ट्रिका व्रत धारण किया। तीव्र तप से सदैव अपनी आत्मा को अति कदर्थना पहुंचाते हुए सैनक एक बार वसंतपुर नगर में आया।

उसको सचिवपुत्र और तापस समजकर सब लोग उसकी पूजा करने लगे। लोगों ने उसको वैराग्य आने का कारण पूछा तो वह कहने लगा, 'सुमंगलकुमार ! बार बार मेरे विरुप का हास्य करता था, जिससे मुजे वैराग्य उत्पन्न हुआ और वह हास्य मुजे तपलक्ष्मी के एक प्रत्याभू बन पड़ा है।' यह सुनकर राजा सुमंगल भी उसको नमन करने के लिये आया और उससे योग्य तरह से क्षमा मांगकर आदरपूर्वक स्वागत करके पारणे के लिये निमंत्रित किया। सेनक तापस ने राजा को आशिष देकर उसकी प्रार्थना स्वीकारी, जिससे राजा कृतार्थ हुआ हो त्यों हर्ष पाकर अपने घर आया। जब मासक्षपण पूर्ण हुआ, तब राजा की प्रार्थना याद करके वह तापस शांत होकर राजभवन के द्वार पर आया। उस समय राजा की शारीरिक रुप में ठीक न होने से द्वारपाल ने द्वार बंद किया था, जिससे भिक्षुक को कौन देखे ? इससे सेतु से जल के प्रवाह की तरह स्खलित होकर जिस मार्ग से आया था उस मार्ग पर लोट गया। फिर दूसरे मासक्षपण का निश्चय करके वापस उसने उष्ट्रिका व्रत लिया और जरा सा भी क्रोध नहीं पाया क्योंकि ''महर्षि तप की वृद्धि से हर्ष पाते हैं।'' दूसरे दिन राजा स्वस्थ हुआ तो तापस को दिया हुआ आमंत्रण याद करके उनके पास आया और नमन करके क्षमा मांगकर बोला, ''महर्षि ! मैंने आपको पुण्य के लिये न्योता दिया लेकिन उससे तो उलटा मुझे पाप ही उपार्जित हुआ। 'प्रायः पापियों को पाप ही अतिथि बनता हैं।' हे भगवंत ! मैंने उलटा दूसरी जगह से भी आपका पारणा अटकाया क्योंकि 'अदाता का प्रिय आलाप दूसरी जगह लाभ होने मे भी विघ्न करता है।' लेकिन अब प्रसन्न होकर इस दूसरे मासक्षपण के पारणे के दिन नंदनवन को कल्पवृक्ष की भाँति मेरे आंगन को अलंकृत कीजिएगा।'' तापस ने वह बात स्वीकार ली, तो राजा घर गया।

उसके पारणे के दिन के लिये राजा प्रतिदिन अंगुलि के पोर गिनता था। जब मासक्षपण पूरा हुआ तो तापस राजा के घर आया लेकिन दैवयोग से पूर्व की तरह उस दिन भी राजा के शरीर को ठीक न होने से द्वार बंद किया हुआ था जिससे तापस ने दुबारा उष्ट्रिका व्रत लिया। राजा ने स्वस्थ होकर पहले की भाँति वापस विनय से आमंत्रण दिया।

तीसरा मासक्षपण पूर्ण होते ही तापस वापस राजा के घर आया। उस समय भी पहले की तरह राजा का शरीर व्याधिग्रस्त था। बार बार ऐसा होने से राजकीय मनुष्यों ने उस समय सोचा कि ''जब जब यह तपस्वी यहां आता है तब तब हमारे स्वामी का अशिव होता है।'' जिससे उन्होंने रक्षकों को आज्ञा दी कि वह तापस सचिवपुत्र है, लेकिन जब वह राजमंदिर में प्रवेश करें तब तुम्हें उसे सर्प की तरह बाहर निकाल देना है। रक्षकों ने वैसा ही किया तो तापस ने क्रोधपूर्वक संकल्प किया कि 'मैं मेरे तपोबल से इस राजा के वध के लिये उत्पन्न होऊं।' वह मृत्यु पाकर अल्प रिद्धि

वाला वानव्यंतर देव हुआ। राजा भी तापस होकर उसी गति को पाया। वहां से च्यूत होकर सुमंगल राजा का जीव **प्रसेनजित** राजा की रानी **धारिणी** के उदर से **श्रेणिक** नाम का पुत्र हुआ।

उस नगर में **नाग** नाम का एक रथिक था। वह प्रसेनजित राजा के चरणकमल में भ्रमर (सेवक) रुप था। तथा वह दया और दान में आदरवान, परनारी का सहोदर (भाई), वीर, धीर और सर्व कला का अध्येता था, जिससे वह सर्वगुणों का एक स्थानरुप माना जाता था। उसे **सुलसा** नाम की स्त्री थी। वह पुण्यकर्म में आलस्य बिना की और देहधारी पुण्यलक्ष्मी हो ऐसी थी। साथ धुलिक्रीडा करनेवाले बालकों की तरह उसमें पतिव्रतापन, सम्यक्त्व, सरलता वगैरह गुण एक साथ रहे थे। एक बार नाग रथिक स्वयं अपुत्र होने से दंडी सहित कमल जैसे कर पर मुख रखकर चिंता करने लगा कि "मैं पुत्र को प्यार करुंगा और उसका लालन-पालन करुंगा ऐसा मेरा मनोरथ पुत्र बिना अवकेशी (वंध्य) वृक्ष की तरह निष्फल हुआ। जिन्होंने बाल्यावस्था में ब्रह्मचर्य पालन नहीं किया और युवावस्था में पुत्र का मुँह नहीं देखा उनके दोनों लोक को ठगनेवाले कामीपन को धिक्कार है।" इस प्रकार कीचड में फँसे हाथी की तरह चिंता में मग्न बने और जिसका मुख विवर्ण (उदास) हो गया है ऐसे पति को देखकर सुलसा उसके प्रति विनयपूर्वक अंजलि जोड़कर बोली, "हे नाथ! आपने हस्तरुप शय्या में मुख रखा है वह आपको कोई चिंता सता रही है ऐसा कहता हैं तो आप किसकी चिंता करते हो ? वह बताईए और मुझे उसमें साझीदार बनाएं।" नाग सारथि बोला, "मैं अपुत्र हूँ। पुत्र प्राप्ति की बड़ी इच्छा है लेकिन पुत्र या पुत्री की इच्छा कर रहे ऐसे मुझको उसकी प्राप्ति का कुछ भी उपाय नहीं सूझ रहा है।" सुलसा बोली, "स्वामी ! आप दूसरी अन्य कन्याएं ब्याहो, उसमें से क्या एक भी पुत्र को जन्म देनेवाली नहीं बनेगी ?" नाग बोला, "हे प्रिये ! इस जन्म में ही मैं तेरे से ही स्त्रीवाला रहनेवाला हूँ। दूसरी स्त्री कदापि नहीं ब्याहूँगा तो फिर उनसे पुत्रों की तो बात ही क्या करनी ? हे प्रियदर्शना ! मैं तो तूजसे ही जन्मे पुत्र की इच्छा रखता हूँ कि जो चिरकाल तक भी हम दोनों की प्रीतिरुप बेल (लता) में फलरुप बनें। तू ही मेरा प्राण, शरीर, सचिव और मित्र है। इसलिये पुत्र के लिये किसी देव की मनौति वगैरह करने से यत्न कर।" सुलसा बोली, "प्रिय स्वामी ! मैं श्री अर्हंत की आराधना करुंगी क्योंकि अर्हंत की आराधना सर्व कार्य में वांछित फल देनेवाली हैं।" फिर वह सुलसा आचाम्ल (आयंबील) वगैरह दुःसह तप करके जन्म से ही पवित्र ऐसी अपनी आत्मा को विशेष पवित्र करने लगी। विकसित बनी नवमल्लिका की तरह मोती के ही आभूषण पहनने लगी। कसुंभा वस्त्रों से अरुण अभ्र वाली प्रातःकाल की संध्या की तरह वह दिखने लगी और वितराग की पूजा में तथा ब्रह्मचर्य में तत्पर रहते हुए पति के दुःख से कोमल मनवाली होकर समाधिपूर्वक रहने लगी।

यहां प्रथम स्वर्ग (देवलोक) में देवों की सभा में शक्रेन्द्र ने प्रशंसा की, 'इस समय भरत क्षेत्र में सच्ची श्राविका सुलसा हैं।' वह सुनकर एक देव ने चकित होकर कान खड़े किये और सुलसा के श्राविकापन की परीक्षा करने के लिये वहां आया। उस समय सुलसा देवार्चन कर रही थी, वहां वह साधू का रुप लेकर 'निस्सिही' बोलते हुए गृहदेरासर में घूसा। अभ्रवीहिन (बादल रहित) वृष्टि

की तरह उस मुनि को अचानक आया देखकर सुलसा ने उनको भक्तिपूर्वक वंदना की और उनका आने का कारण पूछा। वह बोला ''मुझे किसी वैद्य ने कहा है कि आपके घर लक्षपाक तेल है, तो वह बीमार साधू के लिये मुझे दो।'' 'मेरा लक्षपाक तेल साधू के उपयोग में आने से सफल होगा' ऐसा कहते हुए वह हर्षपूर्वक तेल का कुंभ लेने चली। सुलसा के कुंभ लेकर आने पर देवता ने अपनी शक्ति से वह तेल का कुंभ उसके हाथ में से गिरा डाला। घौंसले में से गिरे हुए अण्डे की तरह वह तुरंत टूट गया तो सुलसा दूबारा दूसरा तेल का कुंभ लायी। वह भी उसी तरह टूट गया। फिर भी सुलसा ने जरा सा भी खेद नहीं पाया। फिर वह तीसरा कुंभ लायी, वह भी उसी तरह टूट गया तो उसे चिंता हुई की 'इस साधू की याचना निष्फल होने से अवश्य मैं अल्प पुण्यवाली हूं।' ऐसा उसका भाव देखकर वह देव अपना स्वरुप प्रकट करके बोला, ''हे भद्रे ! इन्द्र ने तेरे श्राविकापन की प्रशंसा की, जिससे चकित होकर मैं तेरी परीक्षा करने के लिये यहां आया था। अब में संतुष्ट हुआ हूँ, इसलिये वर मांग।'' ऐसा सुनकर सुलसा बोली, ''हे देव ! यदि संतुष्ट हुए हो तो मैं अपुत्रा हूँ, इसलिये मुझे पुत्र दो। इसके सिवा मुझे अन्य कुछ इच्छा नहीं हैं।'' देव ने उसे बत्तीस गुटिका देकर कहा, ''क्रमशः इस गुटिका का तू भक्षण करना, जिससे ये जितनी गुटिकाए हैं उतने ही तेरे पुत्र होंगे। हे पुण्यवान ! दुबारा जब तूजे जरुरत हो तब मेरा स्मरण करना, मैं शीघ्र ही आ जाऊंगा।'' इस प्रकार कहकर वह देव अंतर्धान हो गया।

देव के जाने के बाद सुलसा ने सोचा, 'क्रमशः ये सब गुटिकाएं खाने से कईं बालक होंगे, तो उनकी असूचि को कौन भोगेगा ? इसलिये मैं एक साथ सब गुटिकाएं खा लूं कि जिससे बत्तीस लक्षणवाला एक ही पुत्र हो।' ऐसा अपनी बुद्धि से सोचकर सुलसा सब गुटिकाएं एक साथ खा गयी। जैसी भवितव्यता थी वैसी उसकी बुद्धि हुई। 'अहो ! भवितव्यता अन्यथा नहीं बनती।' समकाल में बत्तीस गुटिकाएं खाने से समकाल पर उसके उदर में बत्तीस गर्भ उत्पन्न हुए। वे वृद्धि पाने से कईं फलवाली लता की तरह वह कईं गर्भो को सहन नहीं कर पायी। उस कृशोदरी ने वज्र जैसे सारवाले गर्भ को सहन न कर पाने से कायोत्सर्ग में रहकर उस देव का स्मरण किया। स्मरण करते ही वह देव प्रत्यक्ष हुआ और पूछा, 'मुझे किसलिए याद किया ?' तब उसने गुटिका की पूरी कथा कह सुनायी। देव बोला, 'अरे भद्रे ! तूने एक साथ सब गुटिकाएं किसलिए खायी ? ये गुटिकाएं अमोघ हैं जिससे उतने गर्भ एक साथ तूजे धारण होंगे। हे भद्रे ! सरल बुद्धि से भी तूने यह ठीक नहीं किया। क्योंकि ऐसा होने से वे बत्तीस पुत्र समान आयुवाले होंगे लेकिन हे महाभाग ! अब खेद मत कर क्योंकि भवितव्यता बलवान है। मैं अब तेरी गर्भपीडा को हर लूंगा, इसलिये तू स्वस्थ हो जा।' फिर वह देव सुलसा की गर्भपीडा हरकर स्वस्थान पर गया। सुलसा भी स्वस्थ होकर भूमि की तरह गूढगर्भा बनी।

गर्भसमय पूर्ण होने पर शुभ दिन और शुभमूहर्त में सुलसा ने बत्तीस लक्षण वाले बत्तीस पुत्रों को जन्म दिया। धात्रियों द्वारा लालित होते वे पुत्र क्रमशः विंध्यगिरि में हाथी के बच्चों की तरह अखंडित मनोरथपूर्वक बड़े हुए। गृहलक्ष्मीरुपी पक्षी के क्रीडावृक्ष जैसे वे बालक आंगन में खेलते

हुए शोभा दे रहे थे। नाग रथिक उन कुमारों को गोद में ले लेकर स्नेहपूर्वक आनंद के अश्रुजल से स्नान कराता था। पैर पर, गोद में, पीठ पर और मस्तक पर चढ़ जाते और चौंटते कुमारों से नाग रथिक सिंह के शिशुओं से पर्वत की तरह शोभा पाता था। नाग रथिक के सर्व कुमार आयु में समान थे, जिससे वे सब श्रेणिक कुमार के अनुयायी[१] सेवक बने।

एक बार प्रसेनजित राजा ने अपने पुत्रों की राजयोग्यता की परीक्षा करने के लिये सब को एक साथ खाने के लिये बिठाकर पायसान्न के थाल उनके पास रखवाये। जब वे कुमार भोजन करने के लिये प्रवर्तित हुए तब राजा ने उनके उपर व्याघ्र समान मुख फाड़कर आते हुए श्वानों को छोड़ दिया। श्वानों के आते ही दूसरे कुमार तो तत्काल उठ़कर भाग गये लेकिन बुद्धि के भवनरुप श्रेणिककुमार अकेला बैठा रहा। वह दूसरे थालों में से श्वानों को थोड़ा थोड़ा पायसान्न देने लगा और जैसे ही वे श्वान उसको चाटने लगे वैसे ही स्वयं अपने थाल का पायसान्न खाने लगा। इस प्रकार उसने पेट भरकर खाया। वह देखकर राजा बड़ा प्रसन्न हुआ और सोचा कि 'यह श्रेणिक कुमार किसी भी उपाय से शत्रु वगैरह को अटकायेगा और पृथ्वी को भोगेगा।' एक बार फिर से परीक्षा करने के लिये सब कुमारों को इकट्ठे करके मोदक से भरे टोकरे और पानी से भरे घड़े अंकित करके दिये और कहा कि 'इन टोकरों में से मुद्रा तोड़े बिना मोदक खाओ और इन घड़ों में छेद किए बिना पानी पीओ।' श्रेणिक के अलावा उनमें से कोई भी मोदक खाने या पानी पीने में समर्थ नहीं बना। ''बलवान पुरुष भी बुद्धिसाध्य कार्य में क्या कर सकेगा ?'' श्रेणिक ने उन टोकरों को बार बार खूब हिलाकर अंदर के मोदक का चूर्ण कर डाला और उनकी सलाईयों के छिद्रों में से गिरा गिरा कर खाया और घड़े के नीचे चांदी की सीप रखकर घड़े में से जमते जलबिंदुओं से पेट भर कर पानी पीया। ''बुद्धिमान पुरुष को क्या दुःसाध्य हैं ?'' इस प्रकार श्रेणिक की बुद्धिसंपत्ति की परीक्षा करके कुशाग्र बुद्धिवाले राजा ने उसकी राज्ययोग्यता का निश्चय किया।

एक बार कुशाग्र नगर में बार बार अग्नि का उपद्रव होने लगा, जिससे राजा प्रसेनजित ने आघोषणा करवाई की 'इस नगर में जिसके घर में से अग्नि लगेगी उसे रोगी ऊंट की तरह नगर में से ही बाहर निकाल दिया जायेगा।' एक दिन रसोईये के प्रमाद से राजा के महल में से ही अग्नि उत्पन्न हुई। ''ब्राह्मण की तरह अग्नि किसी की नहीं हैं।'' जब वह अग्नि बढ़ने लगी तब राजा ने अपने कुमारों को आज्ञा दी, 'मेरे महल में से जो चीज जो कुमार ले जाय वह उसके स्वाधीन हैं।' राजा की आज्ञा से अन्य सब कुमार रुचि अनुसार हाथी, घोडे तथा अन्य चीजें ले गये और श्रेणिक कुमार सिर्फ एक भेरी का वाद्य लेकर निकला। वह देखकर राजा ने पूछा, 'तूने सिर्फ यह वाद्य ही क्यों लिया ?' श्रेणिक बोला, ''यह भेरीवाद्य राजाओं का प्रथम जयचिह्न है। इसके शब्द से राजाओं को दिग्विजय में बड़ा मंगल हैं, जिससे उन्हें ऐसे वाद्य की पहले रक्षा करनी चाहिए।'' श्रेणिक कुमार की ऐसी महत्त्वाकांक्षा देखकर प्रसन्न बने राजा ने उसका **भंभासार** ऐसा

१. अंगरक्षक।

दूसरा नाम रखा। राजा प्रसेनजित ने पूर्व प्रतिज्ञा से कहा था कि 'जिसके घर में से अग्नि प्रकट हो उसे नगर में रहना नहीं।' उस वचन को वह भूला न था इसलिए उसने सोचा कि 'यदि मैं पहले स्वयं पर अपनी आज्ञा का आचरण नहीं करुंगा तो अन्यों पर शासन किस काम का हैं ?' ऐसे विचार से परिवार सहित तुरंत ही राजा ने कुशाग्र नगर को छोड़ दिया और एक कोश दूर जाकर छावनी डलवाकर वहां रहा। फिर लोग वहां जाते हुए परस्पर पूछते कि 'आप कहां जाते हो ?' तब वे प्रत्युत्तर देते की 'हम राजगृह (राजा के घर) में जायेंगे।' इसके उपर से राजा प्रसेनजित ने वहां **राजगृह** नाम का नगर बसाया और उसको खाई, किल्ले, चैत्य, महल और चौकों से बड़ा मनोहर बनाया। 'अन्य कुमार अपने में राज्य की योग्यता मानते हैं इसलिये श्रेणिक की राज्ययोग्यता वे न जाने तो अच्छा रहेगा।' ऐसा मानकर राजा ने श्रेणिक का अनादर किया और अन्य कुमारों को अलग अलग देश दिये तब श्रेणिक को कुछ नहीं दिया क्योंकि वह समजता था कि अंत में यह राज्य श्रेणिक का ही है। परंतु इस प्रकार अपना अपमान होने से अभिमानी श्रेणिक वन में से हाथी के बच्चे की तरह नगर बाहर निकल गया। क्रमशः घूमते घूमते वह **वेणातटपूर** में आया।

वेणातट नगर में प्रवेश करके श्रेणिककुमार **भद्र** नाम के किसी श्रेष्ठी की दुकान में मानो मूर्तिमंत लाभोदय कर्म हो त्यों बैठा। उस समय उस नगर में कोई बड़ा उत्सव चल रहा था जिससे लोग नवीन दिव्य वस्त्रालंकार और अंगराग धरकर घूमते थे। इस प्रसंग के कारण उस सेठ की दुकान में कईं ग्राहक अलग अलग चीजें खरीदने के लिये आये, जिससे सेठ आकुल-व्याकुल हो गया; लेकिन श्रेणिक वे जो वस्तु माँगते वह बराबर बांधबांधकर चतुराई पूर्वक देने लगा। श्रेणिककुमार के प्रयास से सेठ ने उस दिन बहुत द्रव्य उपार्जित किया। ''पुण्यवान पुरुषों को विदेश में भी लक्ष्मी साथ ही आती हैं।'' फिर श्रेष्ठी ने श्रेणिक को पूछा, ''आज आप किस पुण्यवान गृहस्थ के अतिथि बने हो ?'' श्रेणिक बोला, 'आपका अतिथि बना हूं।' श्रेष्ठी ने मन में ही सोचा कि 'आज रात्रि में स्वप्न में मैंने **नंदा** पुत्री के योग्य एक वर को देखा था। वह साक्षात यही होगा।' फिर सेठ ने कहा, 'मैं धन्य बना कि मेरे घर तुम्हारे जैसे अतिथि आये। आज तो अचानक आलसी के घर गंगाजी पधारे।' फिर सेठ दुकान बंद करके श्रेणिक को साथ लेकर अपने घर आये और श्रेणिक कुमार को स्नान कराकर उत्तम वस्त्र पहनाकर बड़े आदर से अपने साथ भोजन कराया।

इस प्रकार उस श्रेष्ठी के घर रहते हुए एक दिन सेठ ने श्रेणिक के पास माँग की, 'मेरी इस नंदा नाम की पुत्री को आप ग्रहण करें।' श्रेणिक ने कहा, 'मेरा कुल जाने बिना आप पुत्री क्यों देते हो ?' श्रेष्ठी ने कहा, 'आपके गुणों से मैंने आपका कुल जान लिया है।' फिर सेठ के अति आग्रह से लक्ष्मी को विष्णु ब्याहे त्यों श्रेणिक नंदा से ब्याहा। श्रेष्ठी के गृह में धवलमंगल प्रवर्तित हुए। उस वल्लभा के साथ विविध भोग भोगते हुए श्रेणिक निकुंज में गजेन्द्र की भाँति कुछ समय तक वहां रहा।

यहां राजा प्रसेनजित को अचानक रोग की पीड़ा उत्पन्न हुई जिससे उसने बहुत खेद सहित तत्काल श्रेणिक को ढूंढ लाने के लिये कईं ऊंटनियां भेजी। वे ऊंटवाले आदमी घूमते घूमते वेणातट

आकर श्रेणिक को मिले। उनसे पिता को उत्पन्न पीड़ा की बात सुनी। नंदा को स्नेहपूर्वक समजाकर सेठ की आज्ञा लेकर श्रेणिक अकेला वहां से चला। निकलते समय उसने ''जिसमें उज्ज्वल दिवारें है ऐसे राजगृह नगर का मैं गोपाल[1] हूँ।'' ऐसे निमंत्रण मंत्र जैसे अक्षर उसे अर्पण किये। फिर पिता को रोगपीडित जानकर श्रेणिक ऊंट पर चढ़कर शीघ्रतापूर्वक राजगृह नगर की और चला। वहां पहुचा तो उसे आया देखकर प्रसेनजित राजा बड़ा हर्षित हुआ। तत्काल हर्ष के अश्रुजल सहित सुवर्णकलश के निर्मल जल से राजा ने उसका राज्य पर अभिषेक किया। फिर प्रसेनजित राजा पार्श्वप्रभु को और पंचनमस्कार मंत्र को याद करते हुए चार शरण स्वीकार के मृत्यु पाकर देवलोक में गया। श्रेणिक ने पूरी पृथ्वी का भार धारण किया।

यहां नंदा ने बड़ा दुर्वह गर्भ धारण किया। उसको एक बार ऐसा अभिलाष उत्पन्न हुआ कि ''मैं हाथी पर चढ़कर बड़ी समृद्धि से प्राणियों पर उपकार करके अभय देनेवाली बनूं।'' उसके पिता ने यह बात राजा को बतायी और उसका अभिलाष पूरा किया। गर्भ समय पूर्ण होने पर ज्यों सूर्य को पूर्व दिशा प्रसव कराये त्यों उसने एक पुत्र को जन्म दिया। अभिलाष के अर्थ अनुसार उसके नाना ने शुभ दिन पर उसका '**अभयकुमार**' ऐसा नाम रखा। वह क्रमशः बड़ा हुआ। निर्दोष विद्याअध्ययन किया और आठ वर्ष की उम्र में तो वह बहत्तर कला में प्रवीण हो गया। एक बार उसके हमउम्र के किसी बालक ने उसके साथ कलह होने पर कोप से उसका तिरस्कार करके कहा कि 'तू क्या बोलता हैं ? तेरे पिता तो किसी को मालूम नहीं है।' अभयकुमार ने कहा कि 'मेरे पिता तो भद्र सेठ हैं।' उसने कहा कि 'वह तो तेरी माता के पिता हैं।' फिर अभय ने घर आकर माता को पूछा कि 'हे माता ! मेरे पिता कौन हैं ?' नंदा ने कहा, 'ये भद्र सेठ तेरे पिता हैं।' अभय बोला, 'वे भद्र सेठ तो तेरे पिता हैं, लेकिन जो मेरे पिता हैं वह बता।' इस प्रकार पुत्र के कहने पर नंदा आनंदरहित होकर बोली कि 'हे वत्स ! किसी देशांतर में से आकर वे मुझे ब्याहे हैं और जब तू गर्भ में था तब कोई ऊँटवाले पुरुष उनको ले गये हैं। उन्होंने उनको एकांत में कुछ बात कही और फिर वे उनके साथ तुरंत ही चले गये हैं। तब से आज तक यह पता नहीं चला हैं कि वे कहां हैं ? और कौन हैं ?' अभयकुमार ने कहा कि 'उन्होंने चलते समय कुछ कहा है ?' नंदा बोली, 'ऐसे अक्षर अर्पण किये हैं।' ऐसा कहकर वह पत्र दिखाया, जिसे पढ़कर अभयकुमार प्रसन्न होकर बोला, 'मेरे पिता तो राजगृह नगर के राजा हैं। इसलिये चलिये, इसी समय हम वहां जाये।' फिर भद्र सेठ की आज्ञा लेकर अभयकुमार सामग्री सहित नंदा को लेकर राजगृह नगर में आया। अपनी माता को परिवार सहित बाहर उद्यान में छोड़कर वह थोड़ा परिवार लेकर नगर में गया।

यहां श्रेणिक राजा ने पांचसौं में एक कम बड़े कुशल सचिव एकत्रित किये थे और ठीक पांचसौं सचिवों की पूर्ति के लिये किसी उत्कृष्ट पुरुष को वह ढूंढ रहा था। ऐसे बुद्धिमान मनुष्य की परीक्षा के लिये राजा ने एक सुखे कुए में अपनी अंगुठी डालकर लोगो में घोषणा करवाई थी कि 'जो

१. गो - पृथ्वी, गोपाल - राजा।

कंठे पर खड़ा रहकर इस कुएं में से अंगूठी बाहर निकाल सके वह कुशल बुद्धिमान पुरुष मेरे सचिवों में मुखिया होगा।' लोग कहने लगे कि 'हमसे ऐसा कार्य होना असंभव हैं क्योंकि जो हाथ से आकाश में से तारे तोड़ सके वो इस मुद्रिका को निकाल सकेगा।' इतने में अभयकुमार वहां हँसते हुए आया और बोला कि 'क्या यह अंगूठी न निकाली जायेगी ? इसमें मुश्किल क्या हैं ?' उसे देखकर लोग सोच में पड़े कि 'यह कोई अतिशय बुद्धिमान लगता हैं।' समय आने पर पुरुष के मुख का रंग ही उसके पराक्रम को कह देता हैं।'' फिर वे बोले कि ''कुमार ! इस अंगूठी को ले लो और उसके लिये प्रण की हुई आधे राज्य की लक्ष्मी, राजपुत्री और सचिवों में मुखियापन ग्रहण करें।'' अभयकुमार ने कुएं के कंठे पर खड़े रहकर तुरंत ही आर्द्रगोमय (गीले गोबर) का पिंड उस कुए में पड़ी मुद्रिका पर डाला और फिर उसके उपर जलते हुए घास का पूला डाला, जिससे वह गोमय तुरंत ही शोषित हो गया। फिर नंदाकुमार ने (अभयकुमार) शीघ्रता से पानी की नहर करवाकर कुएं को पूरा भर दिया और लोगों को आश्चर्यचकित कर दिया। फिर वह गोमय तैरा और उस चतुर बालक ने तुरंत ही हाथ से वह ले लिया और उस पर चिपकी हुई अंगूठी को अलग किया। ''बुद्धिमान पुरुषों द्वारा किए गये उपाय के समक्ष क्या दुष्कर हैं ?''

रक्षकों ने आकर श्रेणिक को यह समाचार दिये तो चकित होकर तुरंत ही अभयकुमार को अपने पास बुलवाया और पुत्र की भाँति उसे आलिंगन दिया। ''स्वजन कदापि पहचाने न गये हो तो भी दृष्टि पड़ते ही उन पर हृदय में हर्ष होता हैं।'' श्रेणिक राजा ने उसको पूछा कि ''आप कहाँ से आये हो ?'' अभय ने कहा, ''मैं वेणातट नगर से आया हूँ।'' राजा ने पूछा, 'हे भद्रमुख ! उस शहर में सुभद्र नाम का एक प्रख्यात सेठ रहता हैं और उसे नंदा नाम की एक पुत्री हैं, वह कुशल तो हैं ?' अभय ने कहा, 'हा, वह ठीक तरह से हैं।' राजा ने दुबारा पूछा, 'उस सेठ की पुत्री नंदा गर्भवती थी उसका क्या हुआ ?' यह सुनकर अभयकुमार ने मनोहर दाँत के किरणों की श्रेणी से प्रकाश करते हुए कहा कि 'हे देव ! उस नंदा ने अभयकुमार नाम के एक पुत्र को जन्म दिया है।' फिर 'वह कैसा रुपवान और कैसा गुणवान है ?' ऐसा राजा ने पूछा, तो अभय बोला, 'स्वामी ! मैं ही वह अभयकुमार हूँ।' यह सुनते ही राजा उसे स्नेह से आलिंगन करके उत्संग में बिठाकर और मस्तक को सूंघकर स्नेहपूर्वक स्नान कराते हो त्यों नयन के अश्रुजल से सिंचित करने लगा। फिर पूछा कि 'हे वत्स ! तेरी माता कुशल हैं ?' तो अभयकुमार ने अंजलि जोड़कर इस प्रकार बताया कि 'हे स्वामी ! भँवरी की तरह आपके चरण कमल को याद करते हुए मेरी आयुष्यमती माता इस समय इस नगर के बाहर उद्यान में ही हैं।' यह सुनकर बड़ा आनंद पाते हुए राजा ने नंदा को लाने के लिये अभयकुमार को आगे करके संपूर्ण सामग्री वहाँ भेजी और फिर मन में बडी उत्कंठा लाकर ज्यों कमलीनि के समीप राजहंस जाय त्यों स्वयं भी नंदा के समक्ष गया। राजा ने उद्यान में आकर आनंदयुक्त चित्त से नंदा को देखा; परंतु वियोगदुःख से पीडित नंदा के कंकण शिथील बन गये थे। कपोल पर केश लटक रहे थे, नेत्र काजलविहीन था, सर पर केशपाश खुला था, मलिन वस्त्र पहने थे और शरीर की कृशता से दूज के चंद्र की कला जैसी वह दिखती थी।

ऐसी नंदा को मिलकर उसे आनंद पहुँचाकर राजा अपने महल में ले आया और सीता को राम की भाँति उसने उसे पटरानी पद दिया। अभयकुमार को अपनी बहन सुसेना की पुत्री, सर्व सचिवों में मुखियापद और आधा राज्य दिया। पिता पर पूर्ण भक्ति से स्वयं को उनके एक सेवक समान मानकर अभयकुमार ने कुछ समय में ही अपनी बुद्धि द्वारा दुःसाध्य राजाओं को भी साध दिया।

वसुधारुपी वधू के मुकुट में मानिक्य जैसी और लक्ष्मी में विशाल **वैशाली** नाम की बडी नगरी हैं। उसमें इन्द्र की भाँति अखंड आज्ञावाला और शत्रु राजाओं को सेवक बनानेवाला **चेटक** नाम का राजा राज्य करता है। उसे **पृथा** नाम की रानी से सात पुत्रियाँ हुई थीं, जिससे राज्य के सात अंगो की अधिष्ठात्री सात देवियां हो वैसी वे लगती थीं। उनके **प्रभावती, पद्मावती, मृगावती, शिवा, ज्येष्ठा, सुजेष्ठा** और **चेल्लणा** ऐसे क्रमशः नाम थे। चेटक राजा श्रावक था। उसने अन्यों का (अपने पुत्र-पुत्रियों का) भी विवाह करने की मनोती ली थी जिससे उसने किसी को अपनी कन्या नहीं दी। इस बारे में वह उदासीन वृत्ति रखे हुए था तो कन्याओं की माताओं ने इसके बारे में उदासीन ऐसे राजा की किसी भी तरह से संमति पाकर उनमें से पांच कन्याएं योग्य वर को दी। **वित्तभय** नगर के राजा **उदायन** को प्रभावती दी, चंपापति **दधिवाहन** राजा को **पद्मावती** दी, **कौशांबी** के राजा **शतानिक** को मृगावती दी, उज्जैनि के राजा **प्रद्योतन** को **शिवा** दी, **कुंडग्राम** के अधिपति **नंदिवर्धन** राजा जो श्री वीर भगवंत के ज्येष्ठ बंधु थे, उन्हें **ज्येष्ठा** दी। सुजेष्ठा और चेल्लणा दोनो कुंवारी रही। वे दोनों परस्पर रुपश्री की उपमारुप थीं। दिव्य आकृति वाली और दिव्य वस्त्रालंकार को धारण करती हुई वे दोनों पुनर्वसु नक्षत्र के दो तारों की तरह सदा अवियोगी (साथ-साथ) रहती थी। कला-कलाप में कुशल और सर्व अर्थ को जानती हुई वे दोनों मानो मूर्तिमंत सरस्वती हो त्यों परस्पर विद्याविनोद करती थीं। दोनों साथ ही देवपूजा करती, साथ साथ ही धर्म सुनती और एक स्वरुपवाली हो त्यों दूसरा सर्व कार्य साथ साथ ही करती थीं। एक बार कोई स्थविरा तापसी सुज्येष्ठा और चेल्लणा से अलंकृत ऐसे कन्याओं के अंतःपुर में आयी। वहाँ उसने अज्ञानी की सभा की तरह उनके समक्ष भी 'शौचमूल धर्म ही पाप का नाश करनेवाला है' ऐसा बढ़ा-चढ़ाकर कहा। वह सुनकर सुज्येष्ठा बोली, "अरे ! शौच या जो अशुभ आश्रवरुप है और अशुभ आश्रव पाप का हेतु है तो वह पाप को किस प्रकार छेद सकेगा ?" इस प्रकार कहकर कुए में रहे मैंढक वगैरह के युक्तिवाले उदाहरण देकर गुण द्वारा ज्येष्ठ सुज्येष्ठा ने उस शौचमूल धर्म का खंडन कर डाला। फिर मानो मुख को मुद्रित किया हो त्यों वह तापसी निरुत्तर हो गयी तो अंतःपुर की दासियाँ मुख मरोड मरोड कर उस पर हँसने लगी और अपनी स्वामीनी की जय से उन्मत्त बनी उन दासियों ने बड़ा कलशोर करके उस तापसी को गला पकड़कर निकाल दिया। वह तापसी कुछ पाने के बदले खोकर आयी हो त्यों पूजा के लिये जाते हुए उलटे ही अनर्थ को पायी। तापसी ने वहां से निकलते हुए सोचा कि 'यह सुज्येष्ठा गर्व पायी है इसलिये उसे कई सपत्नियों में गिराकर दुःख का पात्र बना दूं।' ऐसा सोचकर सर्व कलाओं में चतुर ऐसी उस तापसी ने पिंडस्थ ध्यान से लीलापूर्वक सुज्येष्ठा का रुप मन में सोचकर एक कपड़े पर अंकित कर लिया।

सुज्येष्ठा का रुप आलेखित करके क्रूर तापसी शीघ्रता से राजगृह नगर आयी और राजा श्रेणिक को वह चित्र दिखाया। नेत्ररुपी मृग की मृगजाल समान चित्रांकित रमणी को देखकर राजगृहपति श्रेणिक अनुराग से उसका वर्णन करने लगा, "वाह ! इस बाला का क्या मनोहर रुप है ! मयूर का कलाप तो उसके केशपाश के दासत्व को पाता है, उसका मनोहर नेत्रवाला मुख जिसमें भ्रमर लीन हो ऐसे कमल जैसा है। उसका कंठ शंख का अवलंबन करता है, स्तनभूषित उरस्थल क्रीडा करते हुए कोक पक्षीवाले सरोवर समान है। नितंब धनुर्धर कामदेव के खेलने योग्य भूमि जैसा विस्तृत है, जांघ क्रमशः गोल होने से गजबंध के विलास को हरनेवाली हैं। जंघा कमल के जैसी सरल और कोमल है, और सरल जंघावाले चरण ऊंचे दंडवाले कमल समान हैं। अहा ! इस मृगाक्षी का अद्वैत सौंदर्य उज्ज्वल लावण्य और अन्य सर्व भी बड़ा सुंदर है।" इस प्रकार वर्णन करने के बाद उस पर मोहित बने श्रेणिक ने तापसी को पूछा, "हे महाभाग ! स्त्रियों में श्रेष्ठ ऐसी इस स्त्री का चित्र आपने आपकी बुद्धि से अंकित किया है या किसी स्त्री के रुपदर्शन से चित्रांकित किया है ?" तापसी बोली, "जैसा रुप मैंने देखा है, वैसा ही यथाशक्ति अंकित किया है। हे राजा ! जैसा इस चित्र में हैं, ऐसा शायद दर्पण में भी दिखता होगा।" प्रेम से मोहित बना राजा उस चित्रस्थ रुप को मानो आलिंगन देने के लिये या चुंबन करना चाहता हो त्यों देखने लगा। फिर बोला, "हे भद्रे ! मुक्तावली की तरह यह बाला किस वंश में उत्पन्न हुई है ? चंद्रलेखा की भाँति इस समय वह किस नगरी को अलंकृत कर रही हैं ? क्षीरसागर को लक्ष्मी की तरह किस धन्य पुरुष की यह पुत्री है ? कौन से पवित्र अक्षर उसके नाम में आये हैं ? सरस्वती ने कौन कौन सी कला से उस पर अनुग्रह किया है ? और किसी पुरुष के कर ने उसके कर को चुंबित किया है या नहीं ?" तापसी बोली, "हे राजन् ! वैशाली नगरी के अधिपति और हैह्य वंश में उत्पन्न हुए चेटक राजा की यह पुत्री है। सर्व कला की भंडार है और सुज्येष्ठा उसका नाम है। गुण और रुप की योग्यता से आप ही उसको वरने योग्य हैं, फिर भी यदि इसका कोई दूसरा पति बना तो आप तीसरे पुरुषार्थ (काम) से छले जाओगे।" फिर राजा श्रेणिक ने उस तापसी को बिदा किया और मानो पंख पाकर वैशाली नगरी को जाना चाहता हो त्यों उसे याद करते हुए रहने लगा।

दूसरे दिन राजगृहपति श्रेणिक ने सुज्येष्ठा की प्रार्थना करने के लिये एक दूत को सिखाकर चेटक राजा के पास भेजा। संदेशा देने में चतुर ऐसा वह दूत तुरंत विशाला में पहुँचकर चेटक राजा को नमन करके बोला, "हे राजन् ! मेरे स्वामी मगधपति श्रेणिक आपकी कन्या सुज्येष्ठा की माँग करते हैं। महान् पुरुषों को कन्या की मांग करना कदापि लज्जादायी नहीं है।" चेटक राजा बोला, "अरे दूत ! तेरा स्वामी स्वयं से अनजान लगता है, जो वाहीकुल में उत्पन्न होकर हैह्य वंश की कन्या चाहता है। समान कुल के वर-कन्या का विवाह होना योग्य है, अन्य का नहीं। इसलिये श्रेणिक को मैं कन्या नहीं दूंगा, तू वापस लौट जा।" दूत ने आकर वह वृत्तांत श्रेणिक राजा को कहा, जिससे शत्रुओं से पराभव पाया हो त्यों उसने बड़ा खेद पाया। उस समय अभयकुमार पिता के चरणकमल में भ्रमररुप होकर खड़ा था, वह बोला, "पिताजी ! शोक मत करें। मैं आपकी इच्छा पूर्ण करूंगा।"

फिर कला-कलाप के सागर अभयकुमार ने घर जाकर एक पट पर मगधपति श्रेणिक का रुप आलेखित किया और गुटिका से रुप तथा स्वर परिवर्तन करके, वणिक का वेश धरकर वह वैशाली नगरी में गया। वहां चेटक राजा के अंतःपुर के पास एक दुकान किराये पर ली और अंतःपुर की दासियाँ जो चीज लेने आती उसे वह किफायत से देने लगा। तथा वे दासियाँ देखे उस प्रकार पट पर आलेखित किये हुए श्रेणिक राजा की वह नित्य पूजा करने लगा। वह देखकर एक दासी ने पूछा, 'यह चित्र किसका है ?' तो उसने कहा, 'यह रुप श्रेणिक राजा जो मेरे देव समान हैं, उनका है।' श्रेणिक का दैवी रुप दासियों को नजर में आया था वैसा ही उन्होंने वर्णन करके सुज्येष्ठा को कहा। सुज्येष्ठा ने अपनी सखी समान एक सबसे बड़ी दासी थी, उसे आज्ञा दी कि 'उस श्रेणिक का चित्र मुझे तुरंत लाकर दिखाओ। मेरे मन में उसे देखने का बड़ा कूतुहल है।' उस दासी ने अभयकुमार की दुकान पर आकर बड़े आग्रह से वह चित्र लेजाकर सुज्येष्ठा को दिखाया। अति सुंदर चित्र देखकर सुज्येष्ठा योगिनी की भाँति नेत्रकमल को स्थिर रखकर उसमें लीन हो गई। पलभर वैसे ही रहने के बाद तुरंत एकांत में जाकर सर्वस्व को गुप्त अभिप्राय रुप रखने की निधानभूमि समान उस सखी को उसने कहा कि ''सखी ! जिसका यह सुंदर चित्र है, उसे मैं पति करना चाहती हूं। उसके साथ जोड़ देने से मेरा विधि[1] कौन होगा ? यदि यह मनोहर युवक मेरा पति नहीं बनेगा, तो मेरा हृदय पके हुए खीरे की तरह द्वीधा हो जायेगा, उसमें कुछ भी संशय नहीं है। इसलिये हे भद्र ! यहां क्या उपाय करना चाहिए ? मुजे वह बता। मुजे तो सच्चा उपाय उसके रुप का पूजन करनेवाले वणिक की शरण लेना ही लगता है। इसलिये हे यशस्विनी ! हे मेरे कार्य की धूरा को वहन करनेवाली ! तू शीघ्र जाकर उस वणिक को प्रसन्न कर और वापस जलदी से आकर उसका संदेशा मुजे कह, तेरा कल्याण हो।'' दासी ने दुकान पर आकर वणिकरुपी अभयकुमार को प्रार्थना की। अभयकुमार ने कहा, ''मैं कुछ ही समय में तुम्हारी सखी का मनोरथ पूरा करुंगा। मैं एक सुरंग खुदवाकर उसके द्वारा राजा श्रेणिक को यहां लाऊंगा। उस समय जो रथ आये उसमें तेरी सखी को तत्काल बैठ जाना होगा, तुम्हारी स्वामिनी श्रेणिक को आया हुआ देखकर इस चित्र में अंकित रुप के साथ उनको मिलकर बड़ा हर्ष पायेगी।'' इस प्रकार कहने के बाद 'फलाने स्थान पर, फलाने दिन को और फलाने समय पर श्रेणिक राजा सुरंग द्वारा आयेंगे।' ऐसा उसके मुख से पक्का संकेत तय किया। दासी उस प्रकार सुज्येष्ठा को कहकर वापस आकर अभयकुमार प्रति बोली, 'आपका वचन प्रमाण है।' फिर वह वापस अंतःपुर में लौट गई। अभयकुमार ने दुकान समेटकर राजगृह नगर जाकर पिता को उस संकेत की सब बात कह सुनायी और सुरंग बनवाने की विधि में तत्पर बना।

यहां सुज्येष्ठा ने जब से श्रेणिक राजा का चित्र देखा, तब से श्रेणिक राजा का ही स्मरण करते हुए काम को वश होकर बहुत पीडा पाने लगी। ऐसा करते हुए संकेत के निर्णय का दिन आया। श्रेणिक राजा सुलसा के बत्तीस पुत्रों के साथ सुरंग द्वार समीप आया। फिर सुलसा के पुत्रों को

१. विधाता-ब्रह्मातुल्य

रथ सहित साथ लेकर वैताढ्य की गुफा में चक्रवर्ती की तरह श्रेणिक राजा सुरंग में घुसा। सुरंग के दूसरे द्वार पर निकले तब मगधपति ने सुज्येष्ठा को देखा। उसे चित्र अनुसार ही देखकर वह बड़ा हर्ष पाया। सुज्येष्ठा ने यह पूरा वृत्तांत सखीभाव से चेल्लणा को बताकर उससे आज्ञा मागी तो चेल्लणा प्रतिज्ञापूर्वक बोली, 'मैं तेरे बिना अकेली नहीं रहूंगी।' फिर सुज्येष्ठा चेल्लणा को रथ में बिठाकर स्वयं तुरंत रत्न की टोकरी लेने के लिये गई। उस समय सुलसा के पुत्रों ने श्रेणिक राजा को कहा, 'हे स्वामी ! शत्रु के घर में चिरकाल रहना योग्य नहीं है।' सुलसा के पुत्रों की प्रेरणा से राजा चेल्लणा को लेकर उस सुरंग के मार्ग से जैसे आया था, वैसे ही वापस चल निकला। सुज्येष्ठा रत्न का टोकरा लेकर आयी तो वहां बादल में छिपे चंद्र की भाँति श्रेणिक को वहां नहीं देखा, जिससे अपनी बहन का हरण हुआ और अपना मनोरथ सिद्ध नहीं हुआ ऐसा मानकर वह उच्च स्वर में पुकारने लगी, 'अरे ! दौडो दौडो ! मैं लूंट गई, मेरी बहन चेल्लणा का हरण हुआ !' यह सुनते ही चेटक राजा तैयार हो गया। उसे तैयार होते देखकर **विरंगक** नाम के रथी ने कहा, 'स्वामी ! मेरे होने पर आपको ऐसा आक्षेप करना योग्य नहीं है।' ऐसा कहकर विरंगक युद्ध करने के लिये सज्ज होकर कन्या को वापस लौटाने के लिये सुरंग द्वार पर गया। वहां सुलसा के पुत्रों को जाते हुए देखकर महाबाहु विरंगक ने उनको एक बाण से मार डाला। सुरंग संकरी होने से उनके रथों को विरंगक एक तरफ हटाने लगा, इतने में तो मगधपति श्रेणिक दूर निकल गये। फिर विरंगक ने वापस लौटकर वह पूरा वृत्तांत चेटक राजा को कहा। अपनी पुत्री के हरण से और उन बत्तीस रथिकों के मरण पाने से चेटक राजा का मन एक साथ रोष और तोष (आनंद) से भरा गया। यह हकीकत सुनकर सुज्येष्ठा ने सोचा कि 'अहो ! विषय की लोलुपता को धिक्कार हैं। विषयसुख की इच्छा करनेवाले मनुष्य ऐसी विटंबना पाते हैं।' ऐसे विचार से संसार से विरक्त बनी सुज्येष्ठा ने चेटक राजा की आज्ञा लेकर चंदना आर्या से दीक्षा ली।

यहां राजा श्रेणिक अपने रथ में बैठी हुई चेल्लणा को सुज्येष्ठा समजकर 'हे सुज्येष्ठा ! हे सुज्येष्ठा !' इस प्रकार कहने लगा। तब चेल्लणा ने कहा, 'सुज्येष्ठा नहीं आयी है, मैं तो सुज्येष्ठा की छोटी बहन चेल्लणा हूँ।' श्रेणिक बोला, 'हे सुंदर भ्रुकुटिवाली स्त्री ! मेरा प्रयास व्यर्थ नहीं गया। तू भी सुज्येष्ठा से कुछ कम नहीं है।' चेल्लणा पति लाभ से और बहन को छलने से एक साथ हर्ष और शोक में लिप्त हुई। राजा श्रेणिक पवन समान वेगवान रथ द्वारा शीघ्र अपने नगर में आया। यह खबर सुनकर अभयकुमार भी तुरंत उसके पास आया। फिर श्रेणिक राजा ने गांधर्व विवाह से चेल्लणा का पाणिग्रहण किया।

फिर राजा ने नाग और सुलसा के पास जाकर उसके पुत्रों की मृत्यु के समाचार दिये। वह दंपती राजा से पुत्रों का अमंगल सुनकर मुक्त कंठ से रुदन करते हुए विलाप करने लगा। ''अरे कृतांत ! तू सचमुच कृतांत ही है। तूने हमारे पुत्रों का एक साथ नाश क्यों किया ? क्या वे सब एक साथ तेरी जंजीर में आ गये ? पक्षियों को कइं बच्चे होते हैं, लेकिन वे क्रमशः मृत्यु पाते हैं, कदापि एक साथ नहीं मरते। अथवा क्या परस्पर के स्नेह के कारण वे एक साथ मर गये ? या

क्या हम दोनों को स्नेहविहिन माना कि जिससे मृत्यु ने उनको हमसे छल करके ले लिये ?'' इस प्रकार उच्च स्वर में रुदन करते हुए उनको श्रेणिक राजा के साथ आया हुआ अभयकुमार तत्त्ववेत्ता आचार्य की भाँति बोध करने लगा कि ''अरे ! महाशयों ! जन्मधारी प्राणियों को भी मृत्यु तो स्वाभाविक है और जिवीत विकृति है, तो स्वभावसिद्ध ऐसी घटना में आप जैसे विवेकी को खेद करना योग्य नहीं है।'' इस प्रकार अभयकुमार ने उस दंपती को समजाया। फिर योग्य वचन कहकर श्रेणिक राजा अभयकुमार सहित राजमहल में आया।

मगधपति श्रेणिक इन्द्राणी के साथ इन्द्र की भाँति चेल्लणादेवी के साथ निर्विघ्नतापूर्वक भोग भोगने लगा। वह औष्ट्रिकाव्रत करनेवाला सेनक तापस जो व्यंतर बना था वह व्यतंरपने का आयुष्य पूर्ण करके चेल्लणा की कुक्षि में पुत्र रुप में अवतरित हुआ। उस गर्भ के दोष से चेल्लणा को पति का मांस खाने का अभिलाष उत्पन्न हुआ कि जो राक्षसी को भी नहीं होता। पतिभक्ति के कारण चेल्लणा वह अभिलाष किसीको भी न कह सकी, जिससे अभिलाष पूर्ण न होने के कारण वह दिन के चंद्र की तरह ग्लानि पाने लगी। ऐसे बूरे अभिलाष से गर्भ से विरक्त बनी चेल्लणा ने पाप को भी स्वीकृति देकर उस गर्भ को गिराने लगी, लेकिन वह गिरा नहीं। जल बिना की लता की तरह चेल्लणा को शरीर से सुखती देखकर राजा ने प्रेमपूर्ण वाणी से उसका कारण पूछा, ''हे प्रिये ! मैंने क्या तुम्हारा पराभव किया है ? या किसिने तुम्हारी आज्ञा खंडित की है ? क्या कोई दुःस्वप्न दिखाई दिया है ? या क्या आपका कोई मनोरथ भग्न हुआ है ?'' इस प्रकार राजा ने बड़े आग्रह से पूछा तो मानो विषपान करती हो त्यों गद्‌गद् अक्षर से उसने उसका सच्चा कारण कह दिया। फिर 'मैं तुम्हारा अभिलाष पूर्ण करुंगा' ऐसा प्रिया को आश्वासन देकर श्रेणिक राजा ने अभयकुमार के पास आकर वह बात बताकर पूछा कि 'यह अभिलाष किस प्रकार पूरा करना चाहिए ?' अभय ने श्रेणिक राजा के उदर पर खरगोश का माँस बांधकर उसे चर्म से आच्छादित किया और फिर उसे सीधा सुलाया। श्रेणिक की आज्ञा से चेल्लणा राक्षसी की भाँति एकांत में वह माँस अव्यग्रतापूर्वक भक्षण करने लगी। जब वह माँस तोड़ तोड़कर खा रही थी तब मानो नटविद्या का जानकार हो त्यों राजा बारबार कृत्रिम मूर्च्छा खाता था। वह देखकर पति के दुःख का चिंतवन करते हुए चेल्लणा का हृदय कंपायमान होता और गर्भ संबंधी विचार करते हुए वह पलभर के लिये उल्लास पाती थी। इस प्रकार बुद्धि के प्रयोग से चेल्लणा का अभिलाष पूरा हुआ, परंतु बाद में 'अरे ! मैं पति को मारनेवाली पापिन हूँ' ऐसा बोलते बोलते वह मूर्च्छा खा गई। राजा ने चेल्लणा को सावधान करके अपना अक्षत शरीर दिखाया। वह देखते ही सूर्यदर्शन से कमलिनी की भाँति वह बड़ा हर्ष पायी।

नौ मास पूरे हुए तो चंदन को मलयाचल की भूमि जन्म दे त्यों उस चेटककुमारी ने एक पुत्र को जन्म दिया। चेल्लणा ने तत्काल दासी को आज्ञा दी कि 'यह बालक उसके पिता का वेरी है, इसलिये उस पापी को सर्प के बच्चे की तरह बहुत दूर ले जाकर छोड़ दे।' दासी ने उसे जाकर अशोकवन की भूमि में रख दिया। वहाँ उपपाद शय्या में उत्पन्न हुए देव की तरह वह प्रकाश करते हुए शोभा देने लगा। उस बालक को छोड़कर आती हुई दासी को देखकर राजा ने पूछा कि 'तू कहां

गई थी ?' तो उसने जैसा था वैसा संपूर्ण कह दिया। तुरंत ही राजा अशोकवन में गये और उस पुत्र को देखकर स्वामी के प्रसाद की तरह प्रीति से दो हाथ से ग्रहण कर लिया। फिर उसे लेकर घर आकर चेल्लणा को कहा, "अरे ! कुलीन और विवेकी बनकर तूने ऐसा अकार्य क्यों किया, कि जो चांडाल भी नहीं करते, जो दुष्चारिणी, अधर्मी या साक्षात् कर्कशा हो वह भी अपने गोलक[1] या कुंड जाति के पुत्रों को भी छोड़ती नहीं है।" चेल्लणा बोली, "हे नाथ ! यह पुत्र रुप में आपका बैरी है, क्योंकि जो गर्भ में आते ही मुझे महा पापकारी अभिलाष उत्पन्न हुआ था, इसलिये मैंने उसे जन्म होते ही छोड़ दिया, क्योंकि पति का कुशल चाहनेवाली स्त्रियों को पुत्र हो या अन्य कुछ भी हो लेकिन यदि वह पति का अहितकारी हो तो इससे क्या ?" फिर श्रेणिक राजा ने कहा, 'यदि इस ज्येष्ठ पुत्र को तू छोड़ देगी तो तेरे अन्य पुत्र भी जल के बुलबुले की तरह फिर नहीं रहेंगे।' ऐसी पति की आज्ञा से यद्यपि वह चाहती नहीं थी, फिर भी सर्प की तरह उस बालक को स्तनपान करवाकर पालने लगी।

चेल्लणा का वह पुत्र कांति में चंद्र समान था और अशोकवन में ही पहले देखने में आया था इसलिये राजा ने उसका **अशोकचंद्र** ऐसा नाम रखा। जब उसे वन में छोड़ दिया था तब उसकी कनिष्ठिका उंगली जो अशोक वृक्ष के दल समान कोमल थी वह मुरगी ने काट खायी थी, जिसकी पीड़ा से रुदन करते हुए उस बालक की उंगली कि जो रुधिर व मवाद से व्याप्त थी उसे राजा ने स्नेह से मुख में डाली तो वह बालक रोते हुए रुक गया। क्रमशः कुछ दिनों में उस उंगली का घाँव भरा गया, लेकिन वह उंगली भोथरी रही। जिससे उसके साथ धूलक्रीडा करनेवाले बालक उसे कूणक[2] कहने लगे।

इसके बाद चेल्लणादेवी को हृदयकमल में सूर्यरुप **हल्ल** और **विहल्ल** नाम के अन्य दो पुत्र हुए। चेल्लणादेवी के ये तीनों पुत्र बड़े हुए तो मानो मूर्तिमंत प्रभुत्व, मंत्र और उत्साह ये तीन शक्ति हो त्यों नित्य राजा का अनुसरण करनेवाले हुए। उनकी माता चेल्लणा पिता के द्वेषी कूणक को गुड़ के लड्डू और हल्ल-विहल्ल को हंमेशां शक्कर के लड्डू भेजती थी। पूर्वकर्म से दूषित ऐसा कूणक इस प्रकार का भेदभाव श्रेणिक ही करता है ऐसा सदैव मन में सोचता। क्रमशः कूणक मध्यमवय (युवावय) को प्राप्त हुआ तो स्नेहवाले श्रेणिक ने बड़े उत्सव से उसका **पद्मावती** नाम की राजपुत्री के साथ ब्याह करवाया। श्रेणिक राजा की धारिणी नाम की रानी को गजेन्द्र के स्वप्न से सूचित गर्भ रहा। एक बार उसे मेघवृष्टि में भ्रमण करने का अभिलाष हुआ। राजा की आज्ञा से अभयकुमार ने देवता की आराधना करके वह अभिलाष पूर्ण किया। पूर्ण समय पर उसने **मेघकुमार** नाम के पुत्र को जन्म दिया। पहले एक ब्राह्मण ने यज्ञ करना शुरु किया था, उसमें नोकर रहने के लिये एक दास को उसने पूछा। दास ने कहा कि 'यदि मुजे ब्राह्मणों के भोजन करने के बाद शेष बची हुई रसोई दे तो मैं रहूंगा, अन्यथा नहीं रहूंगा।' ब्राह्मण ने वह बात स्वीकृत की तो वह दास यज्ञ

१. पति मृत्यु पाने के बाद अन्य जार से हुए पुत्र को कुंड कहा जाता हैं और पति विद्यमान होते हुए भी अन्य जार से हुए पुत्र को गोलक कहते हैं। २. कटी अंगुलीवाला।

के बाडे में रहा, फिर शेष बची रसोई में जो मिलता वह सब वह दास हंमेशा साधु-मुनिराज को वहोराने लगा। उसके प्रभाव से देवता का आयुष्य बांधकर वह दास देवलोक में गया और स्वर्ग में से च्यूत होकर वह श्रेणिक राजा का **नंदिषेण** नाम का पुत्र हुआ। उस यज्ञ करनेवाले ब्राह्मण का जीव अनेक योनियों में परिभ्रमण करने लगा।

एक अरण्य के अंदर बड़े हस्तियूथ में बल में दिग्गज के कुमार समान एक यूथपति हाथी था, वह 'कोई भी अन्य युवा हाथी इन हथिनियों का स्वामी (इच्छुक) न बने' ऐसी बुद्धि से अपनी जो जो हथिनियों को जो जो बच्चे आते उन्हें जन्मते ही मार डालता था। उस यूथ की एक हथिनी के उदर में उस ब्राह्मण का जीव उत्पन्न हुआ। तब वह गर्भिणी हथिनी ने सोचा कि 'इस पापी यूथपति ने मेरे कइं पुत्रों को मार डाला है तो अब कोई भी उपाय करके मेरे इस पुत्र की रक्षा करुंगी।' ऐसा निश्चय करके मानो वायु से पांव रह गया हो त्यों वह हथिनी कपट से लंगडाते लंगडाते चलने लगी। फिर भी 'यह हथिनी अन्य यूथपति को भोग्य न हो' ऐसा सोचकर धीरे धीरे चलते हुए यूथपति उसकी राह देखने लगा। क्रमशः वह इतनी मंद गति से चलने लगी कि वह अर्धप्रहर, एक दिन और दो दिन के बाद आकर यूथपति को मिलने लगी। 'यह बैचारी अशक्त है, इसलिये मुझे दीर्घकाल में मिलती हैं।' ऐसा सोचकर हाथी के दिल में विश्वास बैठा। ''मायावी से कौन न ठगा जाय ?'' एक समय यूथपति के दूर जाने पर वह हथिनी सिर पर तृण का पूला लेकर तापस के आश्रम में आयी। सिर पर पूला रखे हुए और पाँव से स्खलित होती हुई उस हथिनी को देखकर 'यह बैचारी हथिनी शरण की इच्छा रखती है' ऐसा तापसों को मालूम पड़ा, तो ''हे वत्से ! तू विश्वास रखकर स्वस्थ बन।'' इस प्रकार उन्होंने कहा। फिर वह पिता के घर की तरह उनके आश्रम में रही। जब उस हथिनी को पुत्र का प्रसव हुआ तब वह पुत्र को तापसों के आश्रम में छोड़कर स्वयं दुबारा पहले की तरह ही यूथ में विचरने लगी। कोई कोई बार बीच में वह गुप्त तरह से आ-आकर अपने बाल कलभ को स्तनपान करा जाती थी। वह बाल गजकुमार आश्रम के वृक्षों की भाँति धीरे धीरे बड़ा हुआ। तापस पके हुए निवार के ग्रास से और शल्लकी के कवल से अपने बालक की तरह उसका प्रेम से पोषण करते थे। वह गजकुमार क्रीडा करते हुए अपनी सूंढ से तपस्वियों के उत्संग में पालथी और मस्तक पर जटा-मुगट रचता था। पानी के घड़े भर-भरकर आश्रम के वृक्षों का सिंचन करते हुए तापसों को देखकर वह कलभ भी अपनी सूंढ में जल भर भरकर वृक्षों का सिंचन करता था। इस प्रकार प्रतिदिन आश्रम के वृक्षों का सिंचन करने से उस कलभ का तापसों ने **सेचनक** नाम रखा। क्रमशः उसकी सूढ के साथ चिपके हुए दांत उत्पन्न हुए, नेत्र मधुपिंगल समान हुआ। सूंढ भूमि का स्पर्श करने लगी, पीठ उन्नत बनी, कुंभस्थल ऊंचे हुए, ग्रीवा छोटी बन गई, वेणुक (पृष्ठ भाग) क्रमशः झुक गया। सूंढ से पूंछ थोड़ी सी ही कम रही और बीस नाखून से वह शोभा पाने लगा तथा पीछले भाग में नीचा और गात्र के भाग में ऊंचा बना। इस प्रकार हाथी के सर्व लक्षणों से वह संयुक्त हुआ और क्रमशः उसके मुख पर मद भी झरने लगा।

एक बार वह सेचनक नदी के तट पर पानी पीने गया। वहां वह यूथपति उसे दिखाई दिया।

सेचनक ने उसके साथ युद्ध करके उसे मार डाला और स्वयं पूरे यूथ का पति बना। फिर उसने मन में सोचा कि 'ज्यों मेरी माता ने मुझे कपट से तापसों के आश्रम में गुप्त रखा और वहां वृद्धि पाने से मैंने मेरे पिता को ज्यों मार डाला त्यों उस आश्रम में कोई अन्य हस्ति भी वृद्धि पाकर ऐसा कर सकता है, इसलिये ये आश्रम ही नहीं रहना चाहिए।' ऐसा सोचकर ज्यों किनारे को नदी तोड़ ड़ाले त्यों उन सब आश्रमों को उनका पता भी न मालूम पड़े इस तरह तोड़ डाला। फिर 'यह दुरात्मा हस्ती हमको किसी भी आश्रम में चैन से नहीं रहने देगा' ऐसा मानकर उन तापसों ने जाकर श्रेणिक राजा को कहा कि 'एक हाथी सर्व लक्षणों से संयुक्त होने से राजा के योग्य है। आप आदमी भेजे तो हम बता दे।' तत्काल श्रेणिक राजा ने आदमियों के साथ जाकर उस हाथी को पकड़कर बांध लिया और अपने दरबार में लाया। ''राजा सेना के अंगों की वृद्धि के लिये कुतूहली होते हैं।'' ऐसे असह्य बलवाले हाथी को भी राजा ने जबरन बांध लिया। 'जल से अभेद्य न होने की भाँति मनुष्यों से क्या असाध्य हैं ?' उस सेचनक के पाँव में जंजीर डाली नहीं थी परंतु वह क्रोध से मानो चित्रस्थ हो त्यों सूंढ, पूंछ और कान स्थिर करके खडा रहा था। इतने में 'सद्भाग्य से हमारे आश्रमों का कुशल मंगल हुआ' ऐसा सोचकर प्रसन्न होते हुए वे तापस वहां आकर उस बांधे हुए हाथी का तिरस्कार करने लगे कि ''अरे दुष्ट ! हमने तुजे लालित-पालित करके पोषण देकर बड़ा किया तब तू उलटे ही अग्नि की तरह अपने ही स्थान का घात करनेवाला बना। अरे दुर्मति ! अरे ! बल से उन्मत बने तूने जो हमारे आश्रम तोडे उस कर्म का ही तूजे ये बंधनरुप फल मिला है।'' तापसों के ऐसे वचन सुनकर हाथी ने सोचा कि 'जरुर इन तपस्वियों ने ही कोई उपाय रचकर मुजे इस दशा में पहुँचाया है।' फिर तत्काल उसने क्रोध से कदली के स्तंभ की तरह आलानस्तंभ को तोड़ डाला और कमल के बीसतंतु की तरह कसे हुए बंधन तोड डाले। फिर मुक्त होकर क्रोध से नेत्र और मुख लाल करके भ्रमर की तरह उन तापसों को दूर फैंक दिया और स्वयं अरण्य की और दौडा।

श्रेणिक राजा अश्वारुढ बने पुत्रों को लेकर उस हाथी के पीछे दौडा और मृगया में प्राप्त हुए मृग की तरह उसे चारोओर से घेर लिया। वह मत्त गजेन्द्र मानो व्यंतरग्रस्त हुआ हो त्यों महावतों के प्रलोभनों या तिरस्कार को भी गिनता न था लेकिन नंदीषेण का वचन सुनकर और उसे देखकर वह शांत हो गया। उसी समय उसने अवधिज्ञान[1] से अपना पूर्वजन्म जान लिया। फिर नंदिषेण तुरंत ही उसके पास आया और उसकी कक्षा का आधार लेकर दांत पर पांव रखकर उसके उपर आरुढ हुआ और उसके कुंभस्थल पर तीन मुष्टि मारी। नंदिषेण के वचन से दंतघात वगैरह क्रिया करते हुए हाथी मानो शिक्षित हो त्यों बंधनस्थानक पर आया। फिर श्रेणिक ने उसे हाथी का पट्टा दिया। अर्थात् अपना पट्टहस्ती बनाया और युवराज की तरह उसे अपना प्रीतिपात्र बनाया। श्रेणिक राजा को कुलीन पत्नियों से अन्य भी **काल** वगैरह कइं पराक्रमी पुत्र हुए।

१. यहां जातिस्मरणज्ञान का संभव हैं।

श्री वीरप्रभु भव्य प्राणियों को बोध करने के लिये विहार करते हुए सुर-असुरों के परिवारों के साथ राजगृह नगर आये। वहां गुणशील चैत्य में देवताओं ने बनाये हुए चैत्यवृक्ष से सुशोभित समवसरण में प्रभु ने प्रवेश किया। वीरप्रभु को समवसरा सुनकर श्रेणिक राजा पुत्र सहित बड़ी समृद्धि से वंदना के लिये आये। प्रभु को प्रदक्षिणा करके, नमन करके योग्य स्थान पर बैठकर भक्तिवान श्रेणिक राजा इस प्रकार स्तुति करने लगे, "हे त्राता ! जगत को जीतनेवाले आपके अन्य गुण तो एक ओर रहे, लेकिन मात्र उद्दात्तशांत ऐसी आपकी मुद्रा ने ही इन तीनों जगत को जीत लिया है, जिससे मेरु तृण समान और समुद्र डबरे समान हो गया है। सर्व बड़ों से भी बड़े ऐसे आपको जिन पापियों ने छोड़ दिया हैं उनके हाथ में से चिंतामणि रत्न गिर गया है और जिन अज्ञानियों ने आपके शासन को सर्वस्व स्वाधीन नहीं किया हैं उन्होंने अमृत को प्राप्त करके वृथा गँवाया है। जो आपके उपर भी गुच्छाकार (टेढी) दृष्टि धारण करता है उसे साक्षात् अग्नि की शरण ही प्राप्त होती है, इसके बारे में अधिक क्या कहना ? जो अन्य शासनों के साथ आपके शासन की तुलना करता है, वह हतात्मा अमृत और विष को समान गिनता है। जो आपके उपर मत्सरभाव धरता है, वह बहरा और गूंगा होता है, क्योंकि पापकर्म से शुभ परिणाम की विफलता ही होती है। जो आपके शासनरुप अमृतरस से सदैव अपनी आत्मा को सिंचन करता है उनको मेरी प्रणामांजलि हैं और हम उनकी उपासना करते हैं। जिनके मस्तक पर आपके चरणनख की किरणें चिरकाल तक चूडामणि बनकर रहती हैं, उस भूमि को भी नमस्कार हैं। जिसे दूसरा क्या कहे ? मैं धन्य हूँ, सफल जन्मवाला हूँ और कृतार्थ बना हूं कि जो आपके गुणगान की मनोहरता में लंपट बना हूँ।"

इस प्रकार स्तुति करके श्रेणिक राजा रुके। फिर श्री वीरप्रभु ने अमृतवृष्टि जैसी धर्मदेशना दी। प्रभु की देशना सुनकर श्रेणिक राजा ने सम्यक्तव (समकीत) का आश्रय किया और अभयकुमार वगैरह ने श्रावकधर्म ग्रहण किया। देशना के अंत में प्रभु को प्रणाम करके उनकी वाणी से प्रसन्न बने पुत्रों के साथ श्रेणिक राजा स्वस्थान पर गया।

श्रेणिक राजा राजभवन में जाने के बाद फिर उनके मेघकुमार नाम के पुत्र ने उनको और धारणी देवी को भक्तिपूर्वक अंजलि जोड़कर उदार वचन से विज्ञप्ति दी कि "आपने चिरकाल तक मेरा लालन-पालन किया हैं, मैं केवल आपको श्रम देनेवाला हुआ हूं। फिर भी इतनी विशेष प्रार्थना करता हूँ कि मैं इस अनंत दुःखदायी संसार से चकित हो गया हूँ और उस संसार के तारक श्री वीरप्रभु स्वयं यहां पधारे हैं तो आप मुझे आज्ञा दीजिये की जिससे मैं संसारभीरु की शरणरुप श्री वीरप्रभु के चरण में जाकर दीक्षा लूं।" श्रेणिक और धारणी पुत्र के ऐसे वचन सुनकर बोले कि "पुत्र ! यह व्रत कुछ सरल नहीं है, तो तू कोमल अंगोंवाला होकर उसे किस प्रकार पाल सकेगा ?" मेघकुमार बोला, "हे पूज्य ! मैं सुकुमार हूं, फिर भी संसार से भय पाया होने से उस दुष्कर व्रत को पालूंगा, इसलिये मुज पर प्रसन्न बनें। हे मात-पिता ! जो मृत्यु माता-पिता के उत्संग में से भी पुत्रादिक को खींच लेती हैं, उस मृत्यु को प्रभु के चरण का अनुसरण करने से मैं छल करके

ठगूंगा।'' श्रेणिक बोला, ''हे वत्स ! यद्यपि तू संसार से उद्विग्न हुआ है, फिर भी मेरे राज्य को एक बार ग्रहण कर और मेरी दृष्टि को शांति दे।'' मेघकुमार ने ऐसा करना स्वीकृत किया, तो राजा ने बड़े महोत्सव से उसे राज्य पर बैठाया। फिर राजा ने हर्ष के आवेश से पूछा, 'अब मैं तूजे अन्य क्या कर दूं ?' मेघकुमार बोला, 'पिताजी ! यदि मुज पर प्रसन्न हुए हो तो दीक्षाग्रहण की इच्छावाले मुजको कुत्रिक[1] की दुकान से रजोहरण और पात्रादिक मंगवा दीजिए।' राजा अपने वचन से बंधा हुआ था, इसलिये उसे दुःखी मन से भी वैसा करना पड़ा। फिर मेघकुमार ने प्रभु के पास जाकर दीक्षा ली।

पहली ही रात्रि में मेघकुमार मुनि छोटे बड़े के क्रम से आखिरी संथारे पर सो रहे थे, जिससे बाहर जाते-आते मुनियों के चरण बार बार उसके शरीर के साथ टकराते थे, जिससे उसे विचार आया कि ''मैं वैभव बिना का होने से ही ये मुनि मुजे पैर से संघट्ट करते हुए जाते हैं, क्योंकि 'सर्वत्र वैभव ही पूजा जाता है।' इसलिये प्रातःकाल में प्रभु की आज्ञा लेकर व्रत को छोड़ दूंगा।'' ऐसा सोचते हुए उसने मुश्किल से रात्रि व्यतीत की। प्रातःकाल में व्रत को छोड़ने की इच्छा से वह प्रभु के पास गया। सर्वज्ञ प्रभु केवलज्ञान से उसका भाव जानकर बोले कि ''अरे मेघकुमार ! संयम के भार से भग्नचित्तवाला होकर तू तेरे पूर्वभव को क्यों याद नहीं करता ? सुन, इस जन्म से तीसरे जन्म में तू वैताढ्यगिरि पर **मेरुप्रभ** नाम का हाथी था। उस समय वन में दावानल लगने से तृषातुर होकर तू सरोवर में पानी पीने गया। वहां किचड में धंस गया, जिससे निर्बल हुए तुजको तेरे शत्रु हाथी ने आकर दंत-आदि के बहुत प्रहार तुज पर किये, जिससे सातवें दिन मृत्यु पाकर उसी नाम का तू विद्यांचल में हाथी बना। एक बार वन में दावानल लगा हुआ देखकर जातिस्मरण होने से तृण, वृक्ष वगैरह का उन्मूलन करके यूथ की रक्षा के लिये तूने नदी-तट पर तीन स्थंडिल (मैदान) बनाये। एक बार दुबारा दावानल प्रगट हुआ देखकर तू उस स्थंडिल की ओर दौडा, वहां मृग वगैरह जानवरों ने आकर पहले से ही दो स्थंडिल तो भर दिये थे, जिससे तू तीसरे स्थंडिल में गया। वहां रहते हुए शरीर को खुजली करने के लिये तूने एक पैर ऊंचा किया, उतने में परस्पर प्राणियों के संमर्द से संकुचित बना एक खरगोश उस पैरवाली जगह पर आकर खडा रह गया। वापस पैर रखते हुए तुजे देखकर दयापूर्ण हृदयवाला तू ज्यों मद से खडा रहे त्यों एक पैर ऊंचा रखकर ही तीन पांव से खड़ा रहा। ढाई दिन पर दावानल शांत हुआ, जिससे वे खरगोश वगैरह प्राणी अपने अपने स्थान पर लौट गये। तो क्षुधा और तृषा से पीडित ऐसा तू पानी के लिये दौडने गया लेकिन चिरकाल तक तीन पैर से खडे रहने के कारण चौथा पांव जकड जाने के कारण तू चल नहीं पाया और पृथ्वी पर गिर गया। क्षुधा और तृषा के दुःख से तू तीसरे दिन मृत्यु पाया, परंतु खरगोश पर की हुई दया के पुण्य से तू राजपुत्र बना है। तूजे मुश्किल से मनुष्य अवतार प्राप्त हुआ है, तो उसे वृथा क्यों गँवाता है ? एक खरगोश की रक्षा करने के लिये तूने इतना सारा कष्ट किया था तो इस समय साधुओं के चरणसंघट्ट के कष्ट से क्यों खेद पाता हैं ? एक जीव को अभयदान देने से तूजे

१. यह देवाधिष्ठित दुकान थी और वहां से जो चीज मांगो वह मिलती थी।

इतना फल प्राप्त हुआ है तो सर्व जीवों को अभयदान देनेवाले मुनिपन को प्राप्त करने के फल की तो बात ही क्या करनी ? इसलिये तूने जो व्रत ग्रहण किया है, उसका योग्य प्रकार से पालन कर और इस भवसागर को पार कर जा, क्योंकि उसे उतारने में समर्थ ऐसा मनुष्यपन इस लोक में दुबारा पाना दुर्लभ हैं।'' प्रभु की ऐसी वाणी से मेघकुमार मुनि व्रत में स्थिर बने। उसने रात्रि में आए बूरे विचार का मिथ्यादुष्कृत किया और विविध तप करने लगा। इस प्रकार ठीक तरह से व्रत पालकर मृत्यु पाकर वह विजयविमान में देवता बने। वहां से च्यूत होकर महाविदेह में उत्पन्न होकर मोक्ष को पायेंगे।

एक दिन प्रभु की देशना से प्रतिबोध पाये नंदिषेण ने व्रत लेने की इच्छा से श्रेणिक राजा से आज्ञा मांगी। पिता की संमति पाकर वह व्रत लेने के लिये घर से बाहर निकला। वहां किसी देवता ने अंतरिक्ष में रहकर कहा कि ''वत्स ! तू व्रत लेने के लिये उत्सुक क्यों हुआ हैं ? अभी भी तूजे चारित्र को आवरण करनेवाला भोगफल कर्म बाकी है। उस कर्म का क्षय हो तब तक कुछ काल गृह में रह और उस कर्म का क्षय हो तब दीक्षा लेना। अर्थात् बेसमय की हुई क्रिया फल नहीं देती।'' वह सुनकर नंदिषेण ने कहा, ''साधूपन में निमग्न बने मुजको चारित्र में आवरण करनेवाला कर्म क्या कर सकेगा ?'' इस प्रकार कहकर वह प्रभु के पास आया। प्रभु ने भी उसे रोका, फिर भी उसने जलदी करके प्रभु के चरणकमल के पास दीक्षा ग्रहण की। फिर छट्ठ, अट्ठम वगैरह तप का आचरण करते हुए नंदिषेण मुनि प्रभु के साथ गाँव, आकर और पुर वगैरह में विहार करने लगे। वे गुरु के पास बैठकर सूत्र और सूत्र के अर्थ को नित्य विचारते थे और परिसह सहन करते थे। भोग्य कर्म के उदय से जबरन होती भोग की इच्छा का निरोध करने के लिये वे तपस्या से अपने शरीर को अधिक कृश करते थे। इन्द्रियों के विकारों का पराभव करने के लिये प्रतिदिन स्मशान वगैरह भूमि में जाकर घोर आतापना लेते थे। जब विकार जबरन उठते तब व्रतभंग से कायर होकर इन्द्रियों का शोषण करने के लिये स्वयंमेव उसे बंद करने में प्रवर्तित होते थे। व्रत लेते हुए रुकावट डालनेवाले देवता उसके बंद को छेद डालते तब शस्त्र से मृत्यु पाने की कोशिश करते थे, लेकिन देवता उसके शस्त्र को कुंठित कर डालते थे और मरने की इच्छा से जहर खाते तो विष के बल को देवता हर लेते थे और यदि अग्नि में घूसते तो अग्नि को शीतल कर डालते थे। कोई बार पर्वत पर से आत्मघात करते तो देवता उन्हें उठा लेकर कहते कि 'हे नंदिषेण ! मेरे वचन क्यों याद नहीं करते ? अरे दुराग्रही ! तीर्थंकर भी भोग्यफल कर्म को भोगे बिना उन्हें टालने में समर्थ नहीं हैं, तो तुम प्रतिदिन वृथा प्रयत्न क्यों करते हो ?' इस प्रकार देवता ने उन्हें बार बार कहा तो भी उन्होंने माना नहीं।

एक बार एकाकी विहार करनेवाले नंदिषेण मुनि छट्ठ का पारणा करने हेतु भिक्षा के लिये निकले। अनाभोग (अनजान) के दोष से प्रेरित होकर वे एक वेश्या के घर में घुसे। वहां जाकर उन्होंने धर्मलाभ दिया तो 'मुजे तो केवल अर्थ का लाभ हो, धर्म के लाभ की मुजे जरुरत नहीं' ऐसा हास्य करते हुए विकारयुक्त चित्तवाली वेश्या बोली। उस समय 'यह वराकी क्या मुज पर हंसती

है ?' ऐसा सोचकर मुनि ने एक तृण खींचकर लब्धि से रत्नों का ढेर कर दिया। फिर 'यह ले अर्थलाभ।' ऐसा कहकर मुनि उसके घर में से बाहर निकले। वेश्या संभ्रमरहित होकर उनके पीछे दौडकर कहने लगी, ''हे प्राणनाथ ! ऐसा दुष्कर व्रत छोड़ दीजिये और मेरे साथ भोग भोगिये, नहीं तो में मैंरे प्राण छोड़ दूंगी।'' इस प्रकार बार बार की हुई प्रार्थना से नंदिषेण मुनि व्रत छोड़ने के दोष को जानते हुए भी भोग्यकर्म के वश होकर उसका कथन स्वीकृत किया। फिर ऐसी प्रतिज्ञा की कि 'यदि मैं प्रतिदिन दस या उससे ज्यादा मनुष्यों को बोध न करुं तो मुजे दुबारा दीक्षा लेनी।'

फिर मुनि लिंग को छोड़कर नंदिषेण वेश्या के घर रहे और उस देवता की तथा वीरप्रभु की दीक्षा रोकनेवाली वाणी बार बार याद करने लगे। वहां रहते हुए निरंतर वेश्या के साथ भोग भोगने लगे और प्रतिदिन दस भव्यजनों को प्रतिबोध करके दीक्षा के लिये प्रभु के पास भेजने लगे। एक बार भोगफल कर्म क्षीण होने पर नंदिषेण ने नौ मनुष्यों को बोध किया लेकिन दसवाँ एक सोनी था जो किसी भी तरह से प्रतिबोध नहीं पाया। उसे बोध करने में बहुत समय लग गया होने से वेश्या रसोई बनाकर बार बार बुलाने के लिये आदमी भेजने लगी। लेकिन अपना अभिग्रह पूर्ण न हुआ होने से वे भोजन करने नहीं उठे और आदर से विविध प्रकार की वाणी की युक्ति से उस सोनी को बोध देने लगे। आखिर में वेश्या ने स्वयं आकर कहा कि 'हे स्वामी ! मैंने पहले जो रसोई बनायी थी वह तो ठंडी होकर बेरस हो गयी। इसलिये दूसरी बार रसोई बनायी है। अब आप किसलिये विलंब कर रहे हैं ?' नंदिषेण बोला, ''मेरी प्रतिज्ञा अनुसार आज दसवाँ मनुष्य प्रतिबोध नहीं पाया हैं, इसलिये मैं स्वयं ही दसवाँ होकर दीक्षा ग्रहण करुंगा।'' इस प्रकार कहकर स्वयं भोग्यकर्म था उतना भोग लिया- यूं वेश्या को कहकर वहां से निकल गये और प्रभु के पास आकर पुनः दीक्षा ग्रहण की।

महात्मा नंदिषेण मुनि अपने दुष्कृत्य की आलोचना करके श्री वीरजिनेन्द्र के साथ विहार करते हुए और तीक्ष्ण व्रत को पालते हुए कालक्रमानुसार देवता बने।

इत्याचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि विरचिते त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरिते महाकाव्ये दशमपर्वणि श्रेणिकसम्यक्त्वलाभ मेघकुमार नंदिषेण प्रवज्यावर्णनो नाम षष्ठः सर्गः।।६।।

सातवाँ सर्ग

चेल्लणा के योग्य एकस्तंभ प्रासाद का निर्माण, आम्रफल का हरण, श्रेणिक द्वारा विद्याग्रहण, दुर्गंधा की तथा आर्द्रकुमार की कथा

चेल्लणा के साथ जलक्रीडा आदि से खेलता श्रेणिक मानो प्रेमसूत्र में उसका मन पिरोया हो त्यों दिखता था। वह अपने हाथ की कंघी बनाकर प्रतिदिन एकांत में चेल्लणादेवी के केशपाश को सँवारता था। अपने हाथ से गूंथी हुई सुंदर पुष्पमालाओं से केशबंधक सेवक की भाँति वह उसके केशपाश को बांधता था। स्वयं घिसे हुए कस्तूरीद्रव्य से उसके गाल पर चित्रकार की भाँति विचित्र पत्रवल्ली अंकित करता था और सदैव आसन पर बैठते, शयन करते, भोजन करते या अन्य कोई भी कार्य करते समय एक नाजिर (दास) की भाँति उसका पल्लू नहीं छोड़ता था।

एक बार (दीन-दुखियों को) भयंकर शिशिर ऋतु आयी। हिम के बोज को वहन करनेवाला वनदाहक उत्तर दिशा का पवन चलने लगा। श्रीमंत लोग अँगीठी समीप रखकर और केसर का विलेपन करके गर्भगृह में रहकर काल व्यतीत करने लगे। उस समय गरीब लोगों के बालक बिना वस्त्र के हाथीदांत समान खुल्ले हाथ करके कांपते कांपते गृहद्वार पर दंतवीणा बजा रहे थे। युवापुरुष रात्रि में प्रकृति से उष्ण ऐसे प्रिया के स्तन पर से अपने करकमल को दूर नहीं करते थे। उस समय वह कर तुंबिका पर रहे वीणादंड समान दिखता था। ऐसे समय में सर्व अतिशय से संपूर्ण और सुर-असुरों द्वारा सेवित ज्ञातनंदन[1] श्री वीरप्रभु वहाँ समवसरे। यह खबर सुनकर श्रेणिक राजा अपरान्ह काल[2] में चेल्लणादेवी के साथ श्री वीरप्रभु की वंदना के लिये आये। श्री वीर अर्हंत की वंदना करके राजदंपती वापस लौटा। मार्ग में किसी जलाशय के पास एक प्रतिमाधारी मुनि को देखा। उत्तरीय वस्त्र[3] रहित शीतपरिसह को सहन करते हुए उन मुनि को उन्होंने तुरंत वाहन पर से नीचे उतरकर वंदन किया। फिर धर्म संबंधित बाते करते हुए श्रेणिक राजा पत्नी सहित उन मुनि की भक्तिपूर्वक वंदना करके अपने महल में आये।

सायंकाल के योग्य सब क्रियायें करके राजा अगरुकर्पूर के धूप से अंधकारित ऐसे वासगृह में गया। चेल्लणादेवी ने जिसकी भुजलता (हाथ) का तकिया किया है ऐसा वह उसकी छाती पर हाथ रखकर सो गया। चेल्लणा द्वारा स्तन को नीचे करके गाढ आलिंगन करने से राजा को निंद्रा आ गयी। ठीक वैसे ही राजा के आलिंगन से रानी को भी निद्रा आ गयी। गाढ निंद्रा आने पर चेल्लणा का करपल्लव (हाथ) आच्छादन में से बाहर निकल गया। ''बहुत करके निंद्रा आलिंगन को भी छुडा देती है।'' बिच्छू के डंक की तरह दुःसह्य शीत का उसके कर (हाथ) को स्पर्श हुआ, जिसकी पीडा से चेल्लणा तुरंत जाग्रत हो गयी। ठंड की पीडा से सित्कारती हुई उसने राजा के हृदय

---

१. ज्ञात ऐसा सिद्धार्थ राजा का नाम है। उनके पुत्र वे ज्ञातनंदन। २. दुपहर । ३. ओढ़ने का वस्त्र।

में मन की तरह अपने हाथ को आच्छादन के अंदर स्थापित किया। उस समय उस उत्तरीय वस्त्र रहित प्रतिमाधारी मुनि का उसे स्मरण हो आया, जिससे वह बोली कि 'अहो ! ऐसी ठंड में उसका क्या हुआ होगा ?' ऐसा बोलने के बाद दुबारा उस सरल हृदयवाली चेल्लणा को निद्रा आ गयी। ''महान हृदयवाले मनुष्यों को प्रायः निंद्रा दासी की तरह वश होती हैं।'' चेल्लणा के सित्कार से अल्प निंद्रावाला राजा जग गया था। वह उसका पूर्वोक्त वचन सुनकर चित्त में विचार करने लगा कि 'जरुर इसके मन में कोई दूसरा पुरुष खेलने के लिये इच्छुक हुआ है कि जिसके लिये ऐसी शीत की पीडा की संभावना से इस समय वह पीडा पा रही हैं।' ऐसे विचार से इर्ष्या से व्याकुल बने श्रेणिक राजा ने शेष पूरी रात्रि जागृतावस्था में ही व्यतीत की। ''स्त्री पर प्रीति रखनेवाले कोई भी सचेतन पुरुष कदापि इर्ष्यारहित नहीं होता।''

प्रातःकाल में चेल्लणा को अंतःपुर में जाने की आज्ञा देकर प्रचंड शासनवाले श्रेणिक ने अभयकुमार को बुलाकर इस प्रकार कहा, ''हे वत्स ! मेरा पूरा अंतःपुर दुराचार से दूषित हुआ है, इसलिये तू उस अंतःपुर को जला डाल। उसमें तू माता पर थोड़ा सा भी मोह मत रखना।'' इस प्रकार अभय को आज्ञा देकर अद्‌भुत लक्ष्मी से बिराजित श्रेणिक राजा अर्हंतश्री वीर प्रभु को वंदना करने गया। अभयकुमार पिता की आज्ञा से भय पाया, लेकिन वह स्वाभाविक रुप से ही विचार करके काम करनेवाला था। इसलिये वह धैर्यवान अपने मन के साथ विचार करने लगा कि 'मेरी सभी माताएं प्रकृति से ही महासतियाँ हैं और मैं उनकी रक्षा करनेवाला हूँ, फिर भी पिता की ऐसी आज्ञा हुई तो पिता को जो संभवित लगा वह मैं असंभवित किस प्रकार करूँ और पिता का कोप नदी की बाढ की तरह असह्य है, फिर भी कुछ भी विचित्र बहाना निकालकर कालक्षेप करने से राजा की कोपनिवृत्ति संभव है।' ऐसा विचार करके चतुर अभयकुमार ने अंतःपुर के पास के हाथीखाने की जीर्णकुटियां जला डाली और 'अंतःपुर जला डाला' ऐसी आघोषणा सब जगह करवाई। यहां श्रेणिक राजा ने श्री वीरप्रभु को अवसर देखकर पूछा कि ''हे प्रभु ! चेल्लणा तो एक पतिवाली है या अनेक पतिवाली है ?'' प्रभु बोले, 'हे राजन् ! तेरी धर्मपत्नी चेल्लणा महासती हैं और शील अलंकार से शोभित हैं। इसलिये उस स्त्री पर कभी शंका मत लाना।' इस प्रकार के प्रभु के वचन सुनकर पश्चात्ताप करते हुए श्रेणिक राजा तत्काल प्रभु को नमस्कार करके अपने नगर की तरफ दौडते हुए चले। यहाँ आग लगाकर अभयकुमार उनके सामने आ रहा था तो राजा ने पूछा कि ''क्यों तूने मेरी आज्ञा अनुसार किया ?'' अभय निर्भय होकर प्रणाम करके हाथ जोडकर बोला, ''हे स्वामी ! आपकी आज्ञा अन्य को भी प्रमाण है, तो मुझे क्यों न होगी ?'' राजा बोला, ''अरे ! पापी ! अपनी माताओं को जलाकर तू अब भी क्यों जीवित हैं ? तू अग्नि में क्यों नहीं कूद पड़ा ?'' अभयकुमार बोला, ''तात ! अर्हंत के वचन को सुननेवाले ऐसे मुजे पतंगे की भाँति मरना योग्य नहीं हैं। मैं तो समय आने पर व्रत ग्रहण करुंगा और उस समय वीरप्रभु की जैसी आज्ञा होगी तो मैं पतंगे की भाँति मृत्यु भी पाऊंगा, इसमें आप सहज भी शंदेह न रखना।'' राजा ने कहा, ''अरे ! मेरे वचन से भी तूने ऐसा अकार्य क्यों किया ?'' ऐसा कहकर मानो विषपान किया

हो त्यों राजा मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा। फिर अभयकुमार शीतल जल से राजा पर सिंचन करने लगा। जब श्रेणिक स्वस्थ बने तब अभयकुमार ने कहा, "हे प्रभु ! अंतःपुर में तो कुशलता है। किसी दुर्भाग्य के योग से आपने मेरी माताओं पर अवकृपा करके उनका निग्रह करने की मुजे आज्ञा दी, लेकिन मैंने वैसा नहीं किया हैं, यह मेरा अपराध हुआ हैं। पिताजी ! इसके बजाय अंतःपुर के नजदिक की हाथियों की जिर्ण पर्णकुटियां मैंने जला डाली हैं। आपकी आज्ञा भी मैं सोचे-समजे बिना करुं ऐसा नहीं हूं।" ये वचन सुनकर राजा हर्षपूर्वक बोला, "हे वत्स ! तू सचमुच मेरा पुत्र है और पूर्ण बुद्धिमान है कि जिससे मुज पर आये हुए कलंक को तूने बुद्धि द्वारा दूर कर दिया है।" फिर श्रेणिक राजा पारितोषिक द्वारा अभयकुमार को संतोष देकर चेल्लणादेवी के दर्शन में उत्सुक होकर शीघ्रता से उसके गृह में गया और नये नये प्रेम से लक्ष्मी के साथ कृष्ण की भाँति चेल्लणा के साथ प्रतिदिन क्रीडा करने लगा।

एक बार श्रेणिक राजा ने सोचा कि 'चेल्लणा देवी मुजे सर्व स्त्रियों से अधिक प्रिय है तो अन्य रानियों से उसके उपर विशेष प्रासाद क्या करना चाहिए ? उसके लिये में एक स्तंभवाला प्रासाद (महल) बनवाऊं कि जिसमें रहकर विमान में रही हुई खेचरी की तरह वह स्वेच्छापूर्वक क्रीडा करे।' ऐसा निश्चय करके श्रेणिक ने अभयकुमार को आज्ञा दी कि 'हे वत्स ! चेल्लणादेवी के लिये एक स्तंभ का प्रासाद बनवाओ।' अभयकुमार ने तुरंत ही ऐसे स्तंभ के योग्य काष्ट लाने के लिये सूत्रधार को आज्ञा दी, तो बढ़ई ऐसे काष्ट को लेने के लिये अरण्य में गया। अटवी में प्रत्येक वृक्ष को देखते देखते सर्व लक्षणवाला एक वृक्ष उसे नजर आया। उसने सोचा कि गाढ छायावाला, आकाश तक ऊंचा, कइं पुष्पफलवाला, बड़ी शाखावाला और बड़े तनेवाला यह वृक्ष सामान्य नहीं लगता। जैसा तैसा भी स्थान देवताविहीन नहीं होता, तो यह वृक्षराज तो उसकी शोभा से ही प्रकट देवतावाला मालूम पड़ता है। इसलिये प्रथम इस वृक्ष के अधिष्ठायक देवता को तप से आराधूं कि जिससे उसका छेदन करने पर मुजे या मेरे स्वामी को विघ्न न हो। फिर बढ़ई ने भक्तिपूर्वक उपवास करके गंध, धूप, माल्य वगैरह वस्तुओं से उस वृक्ष को अधिवासित किया। उस समय उस वृक्ष के आश्रित बनकर रहे हुए व्यंतर ने अपने आश्रय की रक्षा के लिये और उनके अर्थ की सिद्धि के लिये अभयकुमार के पास आकर कहा कि 'तू मेरे आश्रयरुप वृक्ष को कटवाना मत, इस बढ़ई को वह काम करते हुए रोक, मैं एक स्तंभवाला प्रासाद बना दूंगा और उसके चारोंओर सर्व ऋतुओं से युक्त तथा सर्व वनस्पतियों से शोभित नंदनवन की तरह एक उद्यान भी बना दूंगा।' इस प्रकार उस व्यंतर के कहने पर अभयकुमार ने उस बढ़ई को वन में से तुरंत ही बुलवा लिया और 'अपना मनोरथ सिद्ध हुआ' ऐसा कहा। फिर व्यंतर ने अपने वचन अनुसार एक स्तंभवाला महल और उद्यान बना दिया। "वाणी से बंधे हुए देवता सेवकों से भी अधिक हैं।" सर्व ऋतुओं के वन से युक्त वह एकस्तंभी प्रासाद अभयकुमार ने श्रेणिक राजा को दिखाया। राजा ने प्रसन्न होकर कहा, 'वत्स ! मुजे मात्र एक स्तंभवाले महल की इच्छा थी। उसमें यह सर्व ऋतुवाला वन हुआ, यह तो दूध का पान करते हुए उसमें मिसरी डालने जैसा हुआ।' फिर मगधपति ने चेल्लणा को उस प्रासाद में रखी, जिससे

लक्ष्मीदेवी द्वारा पद्महृद की तरह वह प्रासाद उससे अलंकृत हो गया। वहां रहते हुए चेल्लणा सर्व ऋतु के पुष्पों की मालाएं अपने हाथ से बनाकर सर्वज्ञ प्रभु की पूजा करने लगी और उन सुगंधित पुष्पों से गूंथी हुई मालाओं द्वारा द्रौपदी की तरह अपने पति के केशपाश को भी गूंफने लगी। इस प्रकार सदैव श्री वितराग प्रभु के लिये और पति के लिये पुष्पों को चुनती वह नारी उस वन के पुष्पों को धर्म तथा काम में सफल बनाती थी। सदैव पुष्पवाले और सदैव फलवाले उस उपवन में मूर्तिमंत वनदेवी की तरह चेल्लणा सदैव पति के साथ क्रीडा करती थी।

उस नगर में एक विद्यासिद्ध मातंगपति रहता था। उसकी पत्नी को एक बार आम्रफल खाने का अभिलाष उत्पन्न हुआ, जिससे उसने पति को कहा, 'हे नाथ ! मुजे आम्रफल ला दो और मेरे अभिलाष को पूरा करो।' वह बोला, 'अरे मूढ स्त्री ! आज बेसमय आम्रफल कहां पर होगा ?' स्त्री ने कहा, 'नाथ ! आज चेल्लणा रानी के उद्यान में आम्रवृक्ष प्रफूल्लित है।' वह सुनकर मातंगपति चेल्लणा के उद्यान के समीप आया। वहां आम्रवृक्ष सदैव फलित होकर भी बहुत ऊंचे दिखाई दिये। फिर रात्रि में आकर नक्षत्रों को जोशी देखे त्यों वह भूमि पर रहकर पके हुए आम्रफल देखने लगा। क्षणमात्र में वह विद्यासिद्ध चांडाल अवनामिनी विद्या से आम्रशाखाओं को झुकाया और स्वेच्छा से आम्रफल तोडकर ग्रहण किया। प्रातःकाल में रानी चेल्लणा ने तोडे हुए आम्रफलवाली वह वाटिका भ्रष्टचित्रोंवाली चित्रशाला की तरह अप्रिती देती हुई देखी। रानी ने वह बात राजा को बतायी। राजा ने अभय को बुलवाकर आज्ञा दी कि 'जिसके पैर का संचार दिखाई नहीं देता ऐसे इस आम्रफल के चोर को ढूंढ ला। हे वत्स ! जिस चोर की ऐसी अतिशय अमानुषी शक्ति है वह किसी समय अंतःपुर में भी प्रवेश कर सकता है।' अभयकुमार बोला, 'हे देव ! मैं कुछ काल में ही ज्यों उसको दिखाने का प्रतिभू हूँ त्यों उस चोर को पकडकर आपको सौंपूगा।' ऐसी प्रतिज्ञा करके अभयकुमार उस दिन से चोर को ढूंढने की इच्छा से पूरे नगर में दिन-रात भटकने लगा।

एक बार बुद्धिमान अभयकुमार नगर में घूमते घूमते किसी स्थान पर नगरजन संगीत (नाटक) करवा रहे थे वहां पहुँचा। नगरजनों ने आसन दिया, उस पर बैठकर अभयकुमार बोला, 'हे नगरजनों ! जब तक संगीत करनेवाले नट नहीं आते तब तक एक कथा मैं कहता हूं वह सुनो - ''**वसंतपुर** नगर में **जीर्णश्रेष्ठी** नाम का एक अति निर्धन सेठ रहता था। उसको एक कन्या थी। वह वर के योग्य बड़ी उम्र की हो गई थी। उत्तम वर पाने के लिये कामदेव की पूजा करने के लिये वह बाला किसी उद्यान में से प्रतिदिन चोरी करके पुष्प चुन लाती थी। एक बार 'मैं इस पुष्प के चोर को पकडूं' ऐसा सोचकर वह उद्यानपालक शिकारी की भाँति स्थिरता से वहां छिप गया। वह बाला पूर्व की भाँति विश्वास से छिपकर पुष्प चुनने लगी। उसे अति रुपवान देखकर उद्यानपालक कामातुर हो गया, जिससे तत्काल प्रकट होकर उसको कांपते कांपते पकड़ लिया। पुष्प की चोरी के कोप को भूलकर वह बोला, 'हे उत्तम वर्णवाली ! मैं तेरे संग रतिक्रीडा करना चाहता हूँ, तो मेरे साथ क्रीडा कर। इसके सिवा मैं तूजे छोडूंगा नहीं। मैंने तुजे पुष्पों से ही खरीद ली हैं।' वह बोली, 'अरे माली ! मुजे तू कर से स्पर्श मत करना। मैं कँवारी हूँ, इसलिये पुरुष

के स्पर्श के योग्य नहीं हूँ।' आरामिक बोला, 'ऐसा है तो हे बाला ! तू यह कबूल कर कि तूजे शादी के बाद इस शरीर को पहले मेरे संभोग का पात्र बनाना।' उसने वैसा करना कबूल किया तो उद्यानपाल ने उसे छोड़ दिया। फिर वह अपना कौमार्य अक्षत रखकर अपने घर गई। वह किसी उत्तम पति के साथ ब्याही। फिर जब रात्रि में वासगृह में गई तब उसने पति को कहा, "हे आर्यपुत्र ! मैंने एक माली के समीप प्रतिज्ञा की है कि शादी के बाद मुजे पहले उसके साथ संभोग करना होगा। मैं उसके साथ वचन से बंधी हुई हूँ, इसलिये मुजे आज्ञा दो तो मैं उसके पास हो आऊँ। एक बार उसके पास जाने के बाद तो मैं सदैव आपके ही आधीन रहूंगी।" उसके ऐसे वचन सुनकर 'अहो ! यह बाला कैसी शुद्ध हृदयवाली और प्रतिज्ञा पालनेवाली है !' ऐसे विस्मय से उसे उसके पति ने जाने की आज्ञा दी तो वह सीधे ही वासगृह में से बाहर निकली। विचित्र रत्नाभरणों को धारण करते हुए वह सत्यवचनी बाला मार्ग में चली जा रही थी। इतने में कुछ धन की इच्छा रखनेवाले पापी चोरों ने उसको रोका। उनके समक्ष उसने उस माली की कथा कह सुनायी और बोली, 'हे भाइयों ! जब मैं वापस लौटूं तब तुम आनंद से मेरे आभूषण ले लेना।' उसके स्वभाव पर से ही उसे सत्यप्रतिज्ञावाली जानकर 'हम वापस लौटते हुए उसको लूंटेगे' ऐसा निश्चय करके उसको छोड़ दिया। आगे चलते हुए क्षुधा से कृश उदरवाले और मनुष्यरुपी मृग के बैरी ऐसे एक राक्षस ने उस मृगाक्षी को रोका। उसने वापस लौटते हुए भक्षण करने की मांग की। उसका सत्य स्वभाव देखकर वह राक्षस चकित हो गया और 'वापस लौटते हुए मैं उसका भक्षण करुंगा।' ऐसी आशा से उसे छोड़ दिया। फिर वह युवती उस उद्यान में आयी और उद्यानपालक को जगाकर कहा कि 'मैं वही पुष्प चोरनेवाली कन्या हूं की जो नववधू बनकर मेरे वचन अनुसार तुम्हारे पास आयी हूँ।' यह सुनकर 'अहो ! यह सचमुच सत्यप्रतिज्ञावाली महासती हैं।' ऐसा जानकर उसे माता की तरह नमन करके माली ने छोड़ दिया। वहां से वापस लौटते हुए जहां राक्षस था वहां वह आयी और माली के साथ जो घटा था वह यथार्थरुप से राक्षस को कह सुनाया। वह सुनकर 'क्या मैं माली से भी कम हूं ?' ऐसा सोचकर उसने स्वामीनि की भाँति प्रणाम करके उसे छोड़ दिया। फिर वह उन चोरों के पास आयी और बोली, 'हे भाइयों ! तुम मेरा सर्वस्व लूंट लो, मैं आ गई हूँ। फिर जैसे माली ने और राक्षस ने उसे छोड़ दिया वह पूरा वृत्तांत कहा तो वह बोले कि 'उस माली और राक्षस से हम भी कुछ कम नहीं हैं। इसलिये हे भद्रे ! तू लोट जा। तू तो हमारे वंदन करने योग्य बहन हैं।' इस प्रकार सबके द्वारा छोड़ देने से वह निर्विघ्नता से घर आयी। उस उत्तम बाला ने चोर, राक्षस और माली की कथा अपने पति समक्ष यथार्थ रुप से कह दी। वह सुनकर हर्ष पाये हुए पति ने उसके साथ पूरी रात्रि भोग-सुख में बितायी और प्रातःकाल में उसे अपने सर्वस्व की स्वामिनी बना दी।"

अभयकुमार इस प्रकार कथा कहकर बोला, 'हे लोगों ! विचार करके बताओ कि इन सब में दुष्कर कार्य करनेवाला कौन है ? उसका पति, चोर, राक्षस या माली ? यह बताओ।' फिर उन लोगों में जो स्त्री के इर्ष्यालु थे वे बोले थे कि 'सब में उसका पति दुष्कर कार्य करनेवाला है, कि

जिसने अपनी अनंगलग्न नववधू को दूसरे पुरुष के लिये भेज दिया।' क्षुधातुर लोग बोल उठे कि 'सबसे दुष्कर कार्य करनेवाला वह राक्षस है कि जिसने क्षुधातुर होने पर भी प्राप्त हुई उस बाला को छोड़ दिया।' जार पुरुष बोले कि 'सब में माली दुष्कर कार्य करनेवाला हैं, कि जिसने रात्रि को स्वयं अपने आप आयी हुई युवा रमणी को भोगा नहीं।' आखिर में वह चोर वहां खडा था। वह बोला, ''सब से ज्यादा दुष्कर कार्य करनेवाला वह चोर है कि जिसने सुवर्ण से भरी हुई उस बाला को लूंटे बिना छोड़ दिया।'' फिर अभयकुमार ने उसे चोर जानकर पकड लिया और पूछा कि 'तूने आम्रफल की चोरी किस प्रकार की।' चोर ने कहा कि 'विद्या के बल से।' अभयकुमार ने पूरा वृत्तांत राजा को कह सुनाया और चोर को लाकर सौंपा। श्रेणिक ने कहा कि 'कोई दूसरा चोर हो तो भी उसकी उपेक्षा नहीं होती, तो यह चोर तो शक्तिमान है तो निःसंदेह उसका निग्रह करना चाहिए।' अभयकुमार ने निष्कपटता पूर्वक विज्ञप्ति की कि 'हे देव ! इससे विद्या पाकर फिर योग्य लगे वह करना।' फिर मगधपति श्रेणिक राजा ने उस मातंगपति को अपने सामने बैठाकर उसके मुख से विद्या पढ़ना शुरु किया। लेकिन स्वयं सिंहासन पर बैठकर विद्या पढ़ता होने से गुरु के अबहुमान के कारण ऊंचे स्थल पर जल की तरह राजा के हृदय में विद्या स्थिर न हो सकी तो राजगृहपति श्रेणिक ने उस चोर को तिरस्कारपूर्वक कहा कि 'तुज में कुछ भी कपट है कि जिससे तेरी कही हुई विद्या मेरे हृदय में संक्रमित नहीं होती।' उस समय अभयकुमार ने कहा कि ''हे देव ! इस समय वह आपका विद्यागुरु है और जो गुरु का विनय करते हैं उन्हें ही विद्या मिलती है, अन्यथा नहीं मिलती। इसलिये इस मातंगपति को आपके सिंहासन पर बिठाईए और आप स्वयं हाथ जोड़कर उसके सामने पृथ्वी पर बैठिये तो विद्या हांसिल होगी।'' विद्या के इच्छुक राजा ने वैसा किया क्योंकि 'नीच से भी उत्तम विद्या ग्रहण करनी चाहिए।' ऐसी प्रसिद्ध नीति है। फिर राजा ने उसके मुख से उन्नामिनी और अवनामिनी दो विद्याएं सुनी तो दर्पण में प्रतिबिंब की तरह ये विद्याएं तुरंत ही राजा के हृदय में स्थित हो गयी। फिर अभय ने अंजलि जोड़ते हुए राजा को प्रार्थना करके विद्यागुरु बने उस चोर को छुडवा दिया।

एक बार ज्ञातनंदन श्री वीरप्रभु राजगृह में ठहरे। यह सुनकर राजा श्रेणिक भूमि पर स्थित इन्द्र हो त्यों बडे आडंबर से वंदना के लिये चला। उस समय गजेन्द्र की घंटटंकार से वह दिशाओं को भरता था। हेशा शब्द से परस्पर वार्तालाप करते हो त्यों और वाह्यालि रुप रंगभूमि में नट जैसे अश्वों से भूमितल को भरता था। आकाश में से उतरते मेघमंडल की शोभा का अनुसरण करते मयूररुपी छत्रों से उसकी सेना शोभित हो रही थी। वाहन नृत्य करते अश्व की स्पर्धा से उसका रत्नमय तांडक नाच रहा था, वह मानो उसके आसन के साथ ही उत्पन्न हुआ हो वैसा दिखता था। सिर पर पूर्णिमा के चंद्र समान श्वेत छत्र धरा था। गंगा और यमुना जैसे चँवरों को वारांगनाएं घूमा रही थी और सुवर्ण के अलंकारों को धारण करनेवाले भाट चारण उसकी पुष्टि कर रहे थे। उस समय मार्ग में जाते हुए, जन्मने के बाद तुरंत ही छोड़ दी हुई एक बालिका सैनिकों को नज़र आयी। परंतु मानो नरक का अंश आया हो त्यों उसके शरीर में से अत्यंत दुर्गंध छूट रही थी। उस

दुर्गंध को सहन नहीं कर सकने से सायंकाल में प्राणायाम करनेवाले गायत्रीमंत्र के जापकों की भाँति सर्व ने अपनी अपनी नासिका बंद कर दी। श्रेणिक ने ऐसा देखकर परिजनों को पूछा कि 'क्या हैं ?' तो परिजनों ने जन्मने के बाद तुरंत ही छोड़ दी हुई उस दुर्गंधा को बताया। राजा श्रेणिक सदैव अरिहंत के मुख से बारह प्रकार की भावनाएं सुननेवाला था, जिससे उसे किंचित भी जुगुप्सा नहीं हुई और तुरंत ही उस बाला को देखकर स्वयं आगे चला। फिर समवसरण में आकर प्रभु की वंदना करके योग्य अवसर पर उस दुर्गंधा की कथा पूछी।

प्रभु बोले, ''तुम्हारे आसपास के प्रदेश में **शाली** नाम के गाँव में **धनमित्र** नाम का एक श्रेष्ठी रहता था। उसे **धनश्री** नाम की एक पुत्री हुई थी। एक बार श्रेष्ठी ने उस धनश्री का विवाह महोत्सव किया था, उस समय ग्रीष्म ऋतु में विहार करते हुए कोई साधु वहां आ पहुँचे, जिससे श्रेष्ठी ने उन साधुओं को वहोराने के लिये धनश्री को आज्ञा दी। अच्छे आचरणवाली वह बाला पिता की आज्ञा से तत्काल मुनियों को भिक्षा देने के लिये चली। उस समय पसीने से जिनके अंग व वस्त्र मलिन हुए थे ऐसे उन मुनियों को भिक्षा देते हुए उनके मल का दुर्गंध धनश्री को आया। सुगंधित और निर्मल वस्त्रवाली, विविध अलंकारो को धारण करनेवाली, अंगराग से लिप्त बनी और शिंगार में मोहित ऐसी वह बाला सोचने लगी कि 'अर्हंत प्रभु ने जो धर्म कहा है वह संपूर्णतया निर्दोष है, लेकिन यदि उसमें प्रासुक जल से भी स्नान करने की मुनि को आज्ञा होती तो उसमें क्या दोष था ?' इस प्रकार मुनियों के मल की दुर्गंध से की हुई जुगुप्सा द्वारा बांधे हुए उस दुष्कर्म को आलोचे बिना या प्रतिक्रम किये बिना मृत्यु पाकर हे राजन ! उस कर्म से वह बाला राजगृह नगर में रहनेवाली एक वेश्या के गर्भ में आयी। गर्भ में रहते हुए भी वह माता को बडी अरति देने लगी, जिससे उस वेश्या ने गर्भपात के अनेक औषध पिये फिर भी वह गर्भ गिरा नहीं। 'कर्म के बल समक्ष औषध क्या मात्र है ?' क्रमशः उस वेश्या ने एक पुत्री को जन्म दिया। वह पूर्वकर्म से जन्म से ही अति दुर्गंधा थी, जिससे वेश्या ने अपने उदर से उत्पन्न होने पर भी उसे विष्टा की तरह त्याग दिया। हे राजन् ! वह दुर्गंधा आपकी नज़र में आयी हैं।

श्रेणिक ने फिर से पूछा कि 'हे प्रभु ! अब यह बाला कैसे सुख-दुःख का अनुभव करेगी ?' प्रभु बोले कि ''इस धनश्री ने सर्व दुःख तो भोग लिया है, अब वह सुखी किस प्रकार होगी वह सुन। वह आठ वर्ष की उम्र में ही तेरी पटरानी बनेगी। इसकी प्रतीति के लिये मैं एक निशान देता हूँ। हे राजन ! अंतःपुर में क्रीडा करते हुए तेरी पीठ पर चढ़कर जो हँस की लीला करेगी वह यह दुर्गंधा है ऐसा तू जान लेना।'' प्रभु की ऐसी वाणी सुनकर 'अहो ! यह बड़ा आश्चर्य है। यह बाला मेरी पत्नी किस प्रकार होगी ?' ऐसी चिंता करते हुए राजा प्रभु को नमन करके अपने स्थानक पर गया। यहां पूर्वकर्म की निर्जरा होने से दुर्गंधा की गंध चली गई। इतने में किसी एक बांझ आहिरनी ने उसको देखा तो पुत्री रुप में स्वीकार के उसको ले गई। क्रमशः उस आहिरनी ने अपनी उदरजात पुत्री की तरह उसका पोषण किया, जिससे वह रुपलावण्य में बड़ी सुंदर युवा युवती बनी।

एक बार मनोहर कौमुदी उत्सव आया जो शृंगार रस के सर्वस्व नाटक के मुख समान था।

वह उत्सव देखने के लिये युवा पुरुषों के लोचन रुपी मृग के लिये पाशरुपी वह युवती अपनी माता के साथ आयी। राजा श्रेणिक और अभयकुमार भी ब्याहने जाते हुए वर की तरह सर्व अंग पर श्वेत वस्त्र पहनकर उस उत्सव में आये। उस बड़े उत्सव के संमर्द में श्रेणिक राजा का हाथ उस आहिरकुमारी की ऊंचे स्तनवाली छाती पर गिर गया, जिससे तत्काल उस पर राग उत्पन्न होने से राजा ने उसके वस्त्र के सिरे के साथ संभोग की प्रत्याभू समान अपनी मुद्रिका बांध दी। फिर श्रेणिक ने अभयकुमार को कहा, 'मेरा चित्त व्यग्र होने पर मेरी मुद्रिका किसीने हर ली है, इसलिये उसके चोर को तू तत्काल खोज निकाल।' यह सुनकर बुद्धिमान अभयकुमार सभी रंगद्वार बंध करवाकर चौसरगोटी के द्यूतकार की तरह एक एक आदमी को बाहर निकालने लगा। बुद्धि के भंडार अभय सर्व के वस्त्र, केशपाश और मुख की भी जांच करने लगा। ऐसा करते करते वह आहिरकुमारी आयी तो उसके वस्त्रो को जांचते हुए उसके सिरे पर बंधी हुई राजा की नामांकित मुद्रिका नजर आयी। अभयकुमार ने उसे पूछा कि 'हे बाला ! यह मुद्रिका तूने किसलिये ली थी ?' वह कान पर हाथ रखकर बोली, 'मैं कुछ भी नहीं जानती।' उसे अति रुपमती देखकर धैर्यवान अभयकुमार ने सोचा कि 'जरुर इस आहिरकुमारी पर पिता अनुरक्त हुए होंगे और उसे ग्रहण करने के लिये रागवश बने राजा ने निशानी के रुप में अपनी मुद्रिका उसके वस्त्र के सिरे पर बांध दी होगी।' ऐसा चिंतन करते हुए अभयकुमार उसे राजा के पास ले गया। राजा ने पूछा कि 'क्यों, मुद्रिका का चोर मिला ?' अभय बोला कि 'देव ! वह चोरनेवाली यह बाला है। लेकिन हे प्रभु ! उसने मुद्रिका के साथ आपके चित्त को भी हर लिया हो ऐसा लगता है।' राजा हँसकर बोला, 'इस कुमारी से मैं ब्याह करूंगा। क्या ऐसा नहीं सुना है कि अकाल में भी स्त्रीरत्न ग्रहण करना चाहिए।' फिर राजा निर्दोष अंगवाली उस आहिरकन्या से ब्याहा और बड़े राग से उसे अपनी पटरानी बनाया।

एक बार राजा रानियों के साथ क्रीडा कर रहा था, उसमें ऐसा भी तय हुआ कि जो जीते वह हारे हुए की पीठ पर चढ़े। इस प्रकार खेलते हुए अन्य कुलवान रानियां जब राजा को जीतती तब वह अपनी जय दर्शाने के लिये सिर्फ राजा की पीठ पर अपना वस्त्र डालती थी, लेकिन जब इस वेश्यापुत्री ने राजा को जीता तब कठिन हृदय की होकर वह निःसंदेह उसकी पीठ पर चढ़ गई। राजा को उस समय प्रभु का वचन याद आने से अचानक हास्य उत्पन्न हुआ तो उस रानी ने नीचे उतरकर आदर से राजा को हँसने का कारण पूछा। राजा ने जिस प्रकार प्रभु ने कहा था उस प्रकार उसके पूर्वभव से लेकर पीठ पर चढ़ने तक का पूरा वृत्तांत कह दिया। यह सुनकर वह तत्काल वैराग्य पायी और आदर से पति की आज्ञा लेकर उसने श्री वीरप्रभु के पास जाकर दीक्षा ग्रहण की।

समुद्र के मध्य में पातालभुवन जैसा **आर्द्रक** नाम का देश है। उसमें **आर्द्रक** नाम का मुख्य नगर है। उस नगर में चंद्र की भाँति नजरों को आनंद देनेवाला और लक्ष्मी से युक्त **आर्द्रक** नाम का राजा था। उसे **आर्द्रका** नाम की रानी थी। उन दोनों को आर्द्र मनवाला **आर्द्रकुमार** नाम का पुत्र हुआ। वह युवावस्था प्राप्त करके यथारुचि सांसारिक भोग भोगने लगा।

आर्द्रक राजा को और श्रेणिक राजा को परंपरागत जंजीर की भाँति प्रीति बंधी हुई थी। एक

बार श्रेणिक ने स्नेहरुपी लता के अभिलाषरुपी कई उपहार लेकर अपने सचिव को आर्द्रक राजा के पास भेजा। सचिव वहां पहुंचा तो आर्द्रक राजा ने मानो श्रेणिक का मूर्तिमंत मित्रपना हो त्यों गौरवता से उसे देखा। फिर उस सचिव के साथ आये हुए सौवर्य, निंबत्र और कँबल वगैरह के उपहार आर्द्रक राजा ने हर्षपूर्वक ग्रहण किये। आर्द्रक राजा ने बड़े सत्कार से उसकी संभावना करके पूछा कि 'मेरे बंधु श्रेणिक कुशल हैं ?' उसके उत्तर में चंद्र के आतप की तरह अपने स्वामी का कुशल वृत्तांत कहकर उस सचिवरुपी चंद्र ने आर्द्रक राजा के मनरुपी कुमुद को पूर्ण आनंद दिया। फिर आर्द्रककुमार ने पूछा कि 'हे पिता ! यह मगधेश्वर कौन है कि जिसके साथ आपको वसंतऋतु के साथ कामदेव की तरह इतनी अधिक प्रीति हैं ?' आर्द्रक राजा बोला, 'हे वत्स ! श्रेणिक नाम का मगध देश का राजा है। उसके और हमारे कुल में परंपरागत प्रीति चली आ रही है।' यह सुनकर तुरंत ही आर्द्रककुमार अमृत की तरंगिणी जैसी दृष्टि से प्रेमांकुर को प्रकट करते हुए सचिव को कहा कि, 'आपके स्वामी को कोई पूर्ण गुणवान पुत्र है ? मैं उसको प्रीति का पात्र करके मित्र करना चाहता हूँ।' सचिव बोला, ''हे कुमार ! बुद्धि का धाम पांचसौं सचिवो का स्वामी, दाता, असामान्य, करुणारस का सागर, दक्ष, कृतज्ञ और सर्व कलारुप सागर का निपुण अभयकुमार नाम का श्रेणिक राजा का एक पुत्र है। अरे ! कुमार बुद्धि और पराक्रम से संपन्न, धर्मज्ञ, भयरहित और विश्वप्रसिद्ध उस अभयकुमार को क्या आप नहीं जानते ? स्वयंभूरमण नाम के समुद्र में अनेक आकारवाले मत्स्यसमूह की तरह उस कुमार में निवास करके रहे न हो ऐसे कोई भी गुण इस जगत में नहीं हैं।'' अपने पुत्र को अभयकुमार के साथ मैत्री करने का अर्थी बना हुआ देखकर राजा ने कहा, 'हे वत्स ! तू सचमुच कुलीन पुत्र है। क्योंकि मेरे चले हुए मार्ग पर चलना चाहता है। और समान गुणवाले एवं समान कुल तथा संपत्तिवाले तुम दोनों में विवाह संबंध की तरह परस्पर मित्रता योग्य हैं।' अपने मनोरथ से मिलती हुई पिता की आज्ञा पाने पर आर्द्रककुमार ने उस सचिव को कहा कि 'तूम्हें मुजे पूछे बिना जाना नहीं हैं। क्योंकि यहां से जाते समय अभयकुमार के साथ के स्नेहरुपी वृक्ष के बीज की तरह मेरा वचन तुम्हें सुनना हैं।' कुमार के वचन से सचिव ने वैसा करना स्वीकारा। फिर राजा की आज्ञा लेकर छड़ीदार ने बताये हुए मार्ग पर से सचिव अपने पड़ाव पर गया।

एक बार आर्द्रक राजा ने मोती वगैरह के उपहार देकर अपने एक आदमी के साथ उस सचिव को बिदा किया। उस समय आर्द्रकुमार ने अभयकुमार के लिये उस सचिव के हाथ में प्रवाल और मुक्ताफल वगैरह दिये। फिर सचिव आर्द्रक राजा के आदमी के साथ राजगृहपुर में आया। वहां उसने श्रेणिक राजा को और अभयकुमार को नज़राने दिये। सचिव ने अभयकुमार को संदेशा कहा कि 'आर्द्रकुमार आपके साथ मित्रता और सौभ्रात्र करना चाहता है।' जिनशासन में कुशल अभयकुमार ने सोचा कि 'जरुर श्रमणपने की विराधना करने से वह अनार्य देश में उत्पन्न हुआ होगा, लेकिन वह महात्मा आर्द्रकुमार मोक्षगामी होना चाहिए, क्योंकि अभव्य और दुर्भव्य को मेरे साथ प्रीति करने की इच्छा ही नहीं होगी।' 'प्रायः समान पुण्य-पापवाले प्राणियों की ही प्रीति होती हैं। उनका स्वभाव

एकसमान होता है और मैत्री एकसमान स्वभाव से ही उत्पन्न होती है।' अब कोई भी उपाय करके उसको वापस जैनधर्मी बनाकर मैं उसका आप्तजन बनूं, क्योंकि जो धर्म मार्ग में अग्रेसर होता है वही आप्त (मित्र) कहलाता हैं। उस आर्द्रकुमार को मैं तीर्थंकर का बिंब दर्शाऊ कि जिससे शायद उसे उत्तम जातिस्मरण हो जाये। यहां से उपहार के लिये महान आचार्य द्वारा प्रतिष्ठित एक रत्नमय उत्तम अर्हंत प्रतिमा मैं उसको भिजवाऊं। इस प्रकार सोचकर उसने एक संदूक में श्री आदिनाथ की अप्रतिम प्रतिमा रखी, जो कल्याण देने में कामधेनु समान थी। फिर उस प्रतिमा के आगे धूप, धाणु और घंटा वगैरह दैवपूजा के सभी उपकरण रखे। फिर उस पेटी के द्वार पर ताला लगाकर अभयकुमार ने उस पर अपनी मुद्रा अंकित की। मगधपति श्रेणिक ने उस आर्द्रक राजा के आदमी को कइ उपहार देकर प्रिय आलाप पूर्वक बिदा किया। उस समय अभयकुमार ने भी उसके हाथ में वह पेटी दी और अमृत समान वाणी से उसका सत्कार करके कहा कि "हे भद्र ! यह पेटी आर्द्रकुमार को देना और मेरे उस बंधु को मेरा यह संदेशा देना कि यह पेटी एकांत में जाकर तेरे अकेले को ही खोलनी है और उसमें जो वस्तु है वह तुजे ही देखनी है। वह चीज किसी दूसरे को नहीं दिखानी है।" इस प्रकार उसका कहना कबूल करके वह पुरुष अपने नगर में गया। साथ में लाये हुए नज़राने अपने स्वामी को और उसके कुमार को दिये तथा अभयकुमार का संदेशा आर्द्रकुमार को एकांत में जाकर कहा। आर्द्रकुमार ने एकांत में वह पेटी खोली तो उसमें अंधकार में भी प्रकाश करती मानो प्रकाश की ही घड़ी हो ऐसी श्री आदिनाथ की मनोहर प्रतिमा उसे नजर आयी। उसे देखकर आर्द्रकुमार सोच में पड़ा कि 'यह क्या होगा ? यह किसी अंग का उत्तम आभूषण दिखता है लेकिन क्या वह मस्तक, कंठ या हृदय पर पहनने का होगा ? मैंने पहले किसी जगह ऐसी चीज देखी है लेकिन मंद अभ्यासी को शास्त्र की तरह वह मेरे स्मरण में आता नहीं है। इस प्रकार बहुत चिंतन करते हुए आर्द्रकुमार को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न करनेवाली बड़ी मूर्च्छा आयी। तत्काल जातिस्मरण उत्पन्न होने पर चेतना को प्राप्त करके वह अपने पूर्वजन्म की कथा का चिंतन करने लगा, "अरे ! इस भव से तीसरे भव में मगध देश के **वसंतपुर** नगर में **सामायिक** नाम का मैं एक कुटुंबी (कणबी) था। मुजे **बंधुमती** नाम की स्त्री थी। उसके साथ एक बार सुस्थित नाम के आचार्य से आर्हंत धर्म हमने यथार्थ रुप में सुना, जिससे भार्या सहित प्रतिबोध पाकर गृहवास से विरक्त होकर उनसे दीक्षा ली। गुरु के साथ विहार करते हुए एक बार एक शहर में आया। वहां मेरी स्त्री बंधुमती भी अन्य साध्वियों के साथ विहार करते हुए आयी। एक दिन उसे देखने से मुजे पहले की विषयक्रीडा याद आयी, जिससे मैं उसमें अनुरक्त हुआ और दूसरे साधु को मैंने वह बात बतायी। उस साधु ने प्रवर्तिनी को कहा और उसने बंधुमती को कहा। वह सुनकर खेद पाते हुए बंधुमती इस प्रकार बोली, 'हे स्वामिनी ! वह गीतार्थ बना साधु भी यदि मयार्दा का उल्लंघन करेगा तो फिर मेरी क्या गति होगी ? क्योंकि मर्यादा पालने से ही समुद्र पृथ्वी को डूबाता नहीं हैं। अब कदापि मैं यहां से देशांतर जाऊं तो भी वह महानुभाव मुजे देशांतर गई हुई सुनेगा तब तक मेरे लिये राग नहीं छोड़ देगा। इसलिये हे भगवती ! मैं प्राण ही छोड़ दूंगी कि जिससे मेरा

और उनके शील का खंडन नहीं हो सके।' इस प्रकार सोचकर अनशन करके लीलामात्र में उसने थूंक की तरह अपने प्राण को छोड़ दिये और देवत्व को प्राप्त हुई। उसे मृत्यु पाया सुनकर मुजे विचार आया कि 'वह महानुभावा व्रतभंग के भय से मृत्यु पायी और मैं तो व्रत का भंग होने पर भी जीवित हूँ, तो मुजे अब जीने की क्या जरुरत है ?' ऐसा मानकर मैं भी अनशन करके मृत्यु पाकर देवलोक में देवता बना। वहां से च्यूत होकर यहां धर्मवर्जित ऐसे अनार्य देश में उत्पन्न हुआ हूँ। जिसने मुजे प्रतिबोध दिलवाया है वही मेरा सच्चा बंधु और गुरु है। मेरे भाग्य के उदय से ही अभयकुमार सचिव ने मुजे प्रतिबोधित किया है, लेकिन आज तक मैं उसके दर्शन कर सकूं ऐसा न होने से सचमुच मंदभागी हूँ। इसलिये अब पिता की आज्ञा पाकर मैं आर्य देश में जाऊंगा कि जहां मेरे गुरु अभयकुमार हैं।'' ऐसा मनोरथ करते हुए और आदिनाथ की प्रतिमा को पूजते हुए आर्द्रकुमार दिन व्यतीत करने लगा।

एक दिन आर्द्रकुमार ने अपने माता-पिता को बताया कि 'मैं अभयकुमार के दर्शन करना चाहता हूँ।' आर्द्रक राजा ने कहा, 'हे वत्स ! तूजे वहां जाना नहीं है, क्योंकि श्रेणिक राजा के साथ भी इसी स्थान पर रहने पर भी मित्रता है।' पिता की ऐसी आज्ञा से बंधा हुआ और अभयकुमार को मिलने के लिये उत्कंठित बना आर्द्रककुमार वहां नहीं जा सका; वैसे वह यहां भी न रह सका, जिससे भादो के मेघ की तरह नेत्रों में से अश्रांत अश्रु बरसाते हुए और जिसके नेत्र सूजे हुए हैं ऐसा वह आर्द्रककुमार अभयकुमार को मिलने जाने के लिये उत्कंठित बना रहा। बैठते, सोते, चलते, खाते और अन्य सभी क्रियाएं करते हुए वह अभयकुमार से अलंकृत ऐसी दिशा को ही अपनी दृष्टि समक्ष रखता था। अभयकुमार के पास पंडुक (पक्षी) की भाँति उड़कर पहुंचने की इच्छावाले उस आर्द्रकुमार को रोगपीड़ित दीन की भाँति थोड़ी सी भी शांति मिलती नहीं थी। वह सदैव 'मगध देश कैसा है ? राजगृह नगर कैसा है ? वहां जाने का मार्ग कौनसा है ?' इस प्रकार अपने परिजनों को पूछा करता था। आर्द्रकुमार की ऐसी स्थिति सुनकर आर्द्रक राजा को चिंता हुई कि 'जरुर आर्द्रकुमार किसी भी समय पर मुजे कहे बिना अभयकुमार के पास चला जायेगा, जिससे उसका बंदोबस्त रखना चाहिए।' ऐसा सोचकर उसने अपने पांचसौं सामंतो को आज्ञा दी कि 'तुम्हें आर्द्रककुमार को किसी भी देशांतर में जाने न देना है।' राजा की ऐसी आज्ञा से वे सामंत भी छाया की तरह उसे छोड़ते नहीं थे। वे निरंतर साथ रहते थे, जिससे कुमार अपनी आत्मा को बंदीवान समान मानने लगा। आखिर में अभयकुमार के पास जाने का मन में सोचकर उस बुद्धिमान कुमार ने प्रतिदिन अश्व घुमाने की क्रीडा करना शुरु किया। उस समय भी वे सामंत उसके अंगरक्षक बनकर उसके साथ रहने लगे। आर्द्रकुमार तेजी से अश्व दौडाकर उनसे थोड़े दूर जाकर वापस लौट आता था। इस तरह क्रमशः अश्वक्रीडा करते हुए अधिकाधिक दूर जाने लगा और वापस लौटकर आने लगा। जिससे सर्व सामंतों को उसके गमनागमन पर विश्वास उत्पन्न हुआ। यों करते करते एक बार आर्द्रकुमार ने अपने विश्वासु आदमियों से समुद्र में एक जहाज तैयार करवाया। उस जहाज को रत्नों से भर दिया और अभयकुमार ने भेजी हुई श्री आदिनाथ की प्रतिमा भी उस में रखवा

दी। फिर अश्वक्रीडा करते हुए अदृश्य होकर उस जहाज पर चढ़कर आर्द्रकुमार आर्य देश में आ गया। वहां पहुंचने पर जहाज में से उतरकर अभयकुमार ने भेजी हुई प्रतिमा उसके पास भेजी। सात क्षेत्र में धन खर्च कर के अपने आप साधूवेश ग्रहण किया। उस समय उसने सामायिक कहना शुरु किया तो आकाश में रहे देवताओं ने उच्च स्वर में कहा कि 'हे महासत्त्व ! तू दीक्षा ग्रहण करना मत, क्योंकि अब भी तूजे भोग्य कर्म बाकी हैं, वह तू भोग ले और भोग्यकर्म भोगने के बाद समय आने पर दीक्षा ग्रहण करना, क्योंकि भोग्यकर्म तीर्थंकरों को भी अवश्य भोगना पड़ता है। हे महात्मा ! तूजे इस समय व्रत लेने की जरुरत नहीं है। इस समय व्रत लेने से तेरा उपहास होगा। ऐसा भोजन किस काम का कि जिसका वमन हो जाय ?' देवता के ऐसे वचनों का अनादर करके आर्द्रकुमार ने पराक्रम से अपने आप दीक्षा ग्रहण की। इस प्रकार आर्द्रकुमार मुनि प्रत्येकबुद्ध होकर तीव्रतापूर्वक व्रत पालते हुए विहार करने लगे। क्रमशः वे **वसंतपुर** नगर में आये और नगर के बाहर किसी देवालय में प्रतिमा धारण करके रहे। अर्थात् सर्व आधि को दूर करके समाधिष्ट बने।

उस नगर में महाकुलवान **देवदत्त** नाम का एक बड़ा सेठ रहता था। उसे **धनवती** नाम की पत्नी थी। उस बंधुमती का जीव देवलोक में से च्यूत होकर उस सेठ के घर पुत्री रुप में अवतरित हुआ। उस बाला का **श्रीमती** नाम रखा गया। मालती के पुष्प की माला की भाँति धात्रियों द्वारा पालन की हुई वह कन्या क्रमशः धूलीक्रीडा योग्य अवस्था को प्राप्त हुई। एक बार श्रीमती नगर की अन्य बालाओं के साथ पतिरमण की क्रीडा करने के लिये पूर्वोक्त देवालय में ही आयी कि जहां आर्द्रकमुनि कायोत्सर्ग में रहे हुए थे। वहां क्रीडा करने के लिये आयी हुई सभी बालिकाएं बोली, 'सखियाँ ! सब अपने अपने पसंद के वर को चुन लो। तो सब कन्याएं परस्पर रुचि अनुसार किसी किसी को वर के रुप में वरण किया, तो श्रीमती ने कहा कि 'हे सखियों ! मैं तो इस भट्टारक मुनि को वरती हूँ।' उस समय देवता ने आकाश में रहकर कहा कि 'शाबाश है। तू योग्य रुप में वरी है।' इस प्रकार कहकर गर्जना करके उन देवों ने वहां रत्नों की वृष्टि की। उस गर्जना से त्रस्त होकर श्रीमती उस मुनि के चरणों में लिपट पड़ी। मुनि ने सोचा कि 'यहां पलभर रहने से भी व्रतरुपी वृक्ष को महान पवन समान यह मुजे अनुकूल उपसर्ग हुआ। इसलिये यहां ज्यादा रहना योग्य नहीं है।' ऐसे विचार से वे मुनि तुरंत ही अन्यत्र चले गये। ''महर्षियों को किसी स्थल पर निवास करके रहने की आस्था नहीं होती, तो जहां उसपर्ग हो वहां रहने की तो आस्था ही कैसे हो ?'' फिर उस नगर का राजा रत्नवृष्टि लेने के लिये वहां आया, क्योंकि 'स्वामी बिना के धन पर राजा का ही हक है' ऐसा उसका निश्चय था। राजपुरुष राजा की आज्ञा से जब वह द्रव्य लेने के लिये देवालय में घुसे तब नागलोग के द्वार की भाँति वह स्थान अनेक सर्पो से व्याप्त दिखाई दिया। उस समय तत्काल देवता ने आकाश में रहकर कहा कि 'मैंने यह द्रव्य इस कन्या के वर के निमित्त दिया है। इसलिये दूसरे किसी को लेना नहीं है।' यह सुनकर राजा नाराज होकर वापस गया। तो श्रीमती के पिता ने वह द्रव्य लेकर अलग रखा। फिर सायंकाल में पक्षियों की भाँति सब अपने अपने स्थान पर गये।

अब श्रीमती ब्याह योग्य हो जाने से उसको ब्याहने के लिये कइं वर तैयार होकर आये तो उसके पिता ने उसे कहा कि 'इसमें से योग्य लगे उसको स्वीकार ले।' यह सुनकर श्रीमती बोली, "पिताजी ! मैं तो उसी समय जिस मुनि को वरी हूँ वही मेरा वर है और देवता ने भी उसे वरने के लिये ही द्रव्य भी दिया है। उस महर्षि को मैं मेरी रुचि से वर चूकी हूँ और आप भी द्रव्य लेकर उसमें संमत हुए हो। इसलिये उस मुनिवर के लिये कल्पना करके अब मुजे अन्य वर को देना वह आपके योग्य नहीं है। तात ! क्या आपने नहीं सुना है कि जो बालक भी जानते हैं कि 'राजा एक बार ही बोलते हैं, मुनि एक बार ही कहते हैं और कन्या भी एक बार ही दी जाती है।' ये तीनों बात एक बार ही होती हैं।" सेठ ने कहा कि "हे पुत्री ! वे मुनि किस प्रकार मिलेगे ? क्योंकि वे एक स्थान पर तो रहते नहीं है। पुष्प के भँवरे की तरह वे नये नये स्थान पर घूमते हैं। वे मुनि वापस यहां आयेंगे या नहीं ? कदापि आयेंगे तो किस तरह पहचाने जायेंगे ? उनका नाम क्या ? उनका ज्ञान क्या ? ऐसे भिक्षुक तो कइ आते हैं।" श्रीमती बोली, "पिताजी ! उस देवालय में देवता की गर्जना से मैं भय पायी थी, जिससे मैं बंदरिया की तरह उनके चरण को पकडे रही थी। उस समय उनके चरण में एक चिह्न मुजे दिखाई दिया है, इसलिये हे पिता ! अब आप ऐसी व्यवस्था कीजिए कि जिससे मैं प्रतिदिन आते-जाते साधुओं को देख सकूं।" सेठ बोले, "हे पुत्री ! अब जो कोई मुनि इस शहर में आये उन सब मुनियों को तूजे स्वयं भिक्षा देनी है।" पिता की आज्ञा हुई तब से श्रीमती प्रत्येक मुनियों को भिक्षा देती और वंदना करते समय उनके चरण पर के चिह्न देखती थी। ऐसा करते हुए बारह वर्ष बाद दिग्मूढ बने आर्द्रक मुनि वहां आ पहुँचे। श्रीमती ने वंदना करते हुए चिह्न देखकर तुरंत ही उन्हें पहचान लिया, तो वह बोली, "हे नाथ ! उस देवालय में मैं आपको वरी थी। इसलिये आप ही मेरे पति हो। उस समय तो मैं मुग्धा थी, जिससे मुजे पसीने के बिंदु की तरह छोड़कर आप चले गये थे, लेकिन आज फँस गये हो। अब कर्जदार की तरह यहां से किस प्रकार जाओगे ? हे नाथ ! जबसे आप अदृश्य हुए थे, तब से प्राणरहित की भाँति मेरा पूरा काल व्यतीत हुआ है। इसलिये अब प्रसन्न होकर मेरा स्वीकार करो। फिर भी यदि क्रूरता से मेरी अवज्ञा करोगे तो मैं अग्नि में गिरकर आपको स्त्रीहत्या का पाप दूंगी।" फिर राजा ने और महाजन ने आकर विवाह के लिये उनको प्रार्थना की, तो मुनि ने व्रत लेते समय उसके निषेधरुप जो दिव्य वाणी हुई थी उसे याद किया और उस दैवी वाणी का स्मरण करके तथा सर्व का विशेष आग्रह देखकर महात्मा आर्द्रक मुनि उस श्रीमती से ब्याहे। "कदापि भी भावि वृथा नहीं होता।"

श्रीमती के साथ चिरकाल तक भोग भोगते हुए उन मुनि को गृहस्थपने की प्रसिद्धिरुप एक पुत्र उत्पन्न हुआ। क्रमशः वृद्धि पाते हुए वह पुत्र माँ का दूध छोड़कर राजशुक की तरह तुरंत ही खुली हुई जिह्वा से मीठा मीठा बोलने लगा। पुत्र बड़ा होने पर आर्द्रकुमार ने श्रीमती को कहा कि 'अब यह पुत्र तेरी सहायता करेगा, इसलिये मैं अब दीक्षा लूंगा।' बुद्धिमान श्रीमती यह बात पुत्र को बताने के लिये रुई लेकर तकुए पर चढ़ाकर चरखा कातने बैठी। जब वह रुई कातने लगी

तब पुत्र ने उसे देखकर पूछा, 'हे माता ! साधारण मनुष्य के योग्य कार्य आप क्यों करती हो ?' वह बोली, 'हे वत्स ! तेरे पिता दीक्षा लेने के लिये जानेवाले हैं, इसलिये उनके जाने के बाद पतिरहित मुजे इसी तकुए की ही शरण है।' पुत्र बचपन के कारण तोतली लेकिन मधुर वाणी में बोला कि 'माता ! मेरे पिता को मैं बांधकर पकड़ रखूगा, फिर वे किस प्रकार जा सकेंगे ?' इस प्रकार कहकर लार से मकड़ी की तरह वह मुग्ध मुख बालक तकुए के सूत से पिता के चरण को लपेटने लगा और बोला कि 'अम्मा ! अब भय मत रखना। स्वस्थ हो जाइए। देखिये मेरे पिता के पैर मैंने बांध लिये हैं। इसलिये बंधे हुए हाथी की तरह अब वे किस प्रकार जा सकेंगे ?' बालक की इस प्रकार की चेष्टा देखकर आर्द्रक ने सोचा कि 'अहो ! इस बालक का स्नेहानुबंध कैसा है कि जो मेरे मनरुपी पक्षी को पाशरुप बन पड़ा है। जिससे अब मैं तुरंत दीक्षा लेने के लिये जाने में अशक्त हूँ। इसलिये इस प्यारे बालक ने मेरे पैर के साथ सूत के जितने बट लगाये हैं उतने वर्ष तक इस पुत्र के प्रेम से मैं गृहस्थपन में रहूंगा।' फिर उसने पैर के तंतुबंध गिने तो बारह हुए, जिससे उसने गृहस्थपन में दूसरे बारह वर्ष व्यतीत किये। जब अपनी प्रतिज्ञा का समय पूर्ण हुआ तब वह बुद्धिमान पुरुष वैराग्य पाकर रात्रि के पीछले प्रहर में इस प्रकार चिंतन करने लगा कि 'अहो ! इस संसाररुपी कुएं में से निकलने के लिये मैंने रस्सी की तरह व्रत का आलंबन किया और वापस उसे छोड़ देकर मैं उसमें ही मग्न हुआ। पूर्व जन्म में मैंने मात्र मन से ही व्रत तोड़ा था, इसलिये मुजे अनार्यपना प्राप्त हुआ था, तो अब इस भव में तो त्रिकरण (मन, वचन, काया) से व्रत तोडा है, तो मेरी क्या गति होगी ? भवतु ! अब भी दीक्षा लेकर तपरुपी अग्नि से अग्निशौच वस्त्र की भाँति मैं मेरी आत्मा का प्रक्षालन करूंगा।'' इस प्रकार सोचकर प्रातःकाल में श्रीमती को समजाकर यतिलिंग धारण करके वे निर्मम मुनि बनकर घर से चल निकले।

वसंतपुर से राजगृह नगर की ओर जाते हुए मार्ग में अपने पांचसौं सामंतों को चोरी का धंधा करते हुए देखा। उन्होंने पहचानकर भक्ति से आर्द्रक मुनि की वंदना की। मुनि ने कहा, 'तुम ऐसी पापी आजीविका किसलिये करते हो ?' वे बोले, ''हे स्वामी ! जब आप हमें छलकर पलायन कर गये तब हम लज्जा से हमारा मुख आपके पिता को नहीं दिखा सके। इसलिये आपकी ही खोज में पृथ्वी पर भटकने लगे और चोरी द्वारा आजीविका करने लगे। निर्धन शस्त्रधारी दूसरा क्या करेंगे ?'' मुनि बोले, 'हे भद्रों ! कदापि सर पर कष्ट आ पड़े तो भी जो धर्मानुबंधी कार्य हो वही करना स्वीकारे कि जिससे दोनों लोक में सफल हो। कोई महापुण्य के योग से यह मनुष्य जन्म प्राप्त होता है और वह प्राप्त होने का फल स्वर्ग तथा मोक्ष को देनेवाला धर्म ही है। सब जीवों की अहिंसा, सत्य, अचोर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहता - ये धर्म तुम्हारे मानने योग्य हैं। हे भद्रों ! तुम स्वामीभक्त हो। मैं राजा की तरह तुम्हारा स्वामी हूँ, इसलिये मेरा कहना मानकर मेरे स्वीकारे हुए मार्ग को सद्बुद्धि द्वारा तुम भी ग्रहण करो।' वे बोले कि 'आप प्रथम स्वामी थे और इस समय गुरु हो। आपका कहा हुआ धर्म हमें जँचा है इसलिये दीक्षा देकर हम पर अनुग्रह कीजिए।' आर्द्रकुमार उनको दीक्षा देकर साथ लेकर श्री वीरप्रभु की वंदना करने के लिये राजगृह की ओर

चले। मार्ग में गोशाला सामने मिला। पुण्यरहित गोशाल ने आर्द्रक मुनि के साथ वाद करना शुरु किया। यह कूतुहल देखने के लिये हजारों मनुष्य और खेचर तटस्थतापूर्वक वहां एकत्र हुए। गोशाल बोला, 'अरे मुनि ! यह तपस्या करनी वृथा कष्टरुप है, क्योंकि शुभ-अशुभ फल का कारण तो नियती ही है।' आर्द्रक मुनि बोले कि 'अरे गोशाल ! यदि ऐसा ही हो तो इस जगत में सुख ही नहीं है ऐसा कह। और यदि सुख है ऐसा कहता है तो पुरुषार्थ को उसके कारणरुप मान ले। यदि सर्वत्र नियति को ही कारण मानता हो तो इष्ट सिद्धि के लिये तेरी भी सर्व क्रियाएं वृथा होगी, इसलिये यदि तू नियति पर निष्ठा रखकर रहता हो तो स्थान पर क्यों बैठा नहीं रहता ? भोजन के अवसर पर भोजन के लिये किसलिये प्रयत्न करता है ? इसलिये नियति की तरह स्वार्थ सिद्धि के लिये पुरुषार्थ करना भी योग्य है, क्योंकि अर्थसिद्धि में नियति से भी पुरुषार्थ चढ़ता है, जैसे कि आकाश में से भी जल गिरता है और भूमि खोदने पर भी मिल सकता है। इसलिये नियति बलवान है और उससे भी अधिक उद्यम बलवान है।' इस प्रकार उन महामुनि ने गोशाले को निरुत्तर कर दिया। यह सुनकर खेचर वगैरह ने जय जय शब्द करके उनकी स्तुति की।

फिर आर्द्रक मुनि हस्तीतापसों के आश्रम में गये। वहां पर्णकुटियों में हाथियों का मांस धूप में सुखाने के लिये डाला हुआ उन्हें नजर आया। वहां रहते तापस एक बड़े हाथी को मारकर उसका मांस खाकर कई दिन व्यतीत करते थे। उनका ऐसा मत था कि 'एक बड़े हाथी को मार डालना ही ठीक है, क्योंकि जिससे एक जीव के ही मांस से हमारा दीर्घ काल व्यतीत होता है। मृग, तितर, मत्स्य वगैरह कई शुद्र प्राणियों को और कइं धान्य के कणों का आहार किसलिये करना, कि जिसमें कइ जीवों की हिंसा होने से बड़ा पाप लगता है।' ऐसे उस दयाभास[1] धर्म को माननेवाले तापसों ने उस समय मारने के लिये एक बड़ी कायावाले हाथी को वहां बांधा था। बोजेवाली शृंखला से जहां हाथी को बांधा था उस मार्ग से होकर वे करुणावान महर्षि निकले। पाँचसौं मुनियों से युक्त उन महर्षि को अनेक लोग पृथ्वी पर मस्तक टेककर नमन करते थे। यह देखकर लघुकर्मी गजेन्द्र ने सोचा कि 'मैं भी यदि मुक्त हो जाऊं तो इन मुनिवर की वंदना करुं। लेकिन बंधन में हूं, इसलिये क्या करुं ?' हाथी इस प्रकार सोच ही रहा था कि गरुड के दर्शन से नागपाश की तरह उन महर्षि के दर्शन से उसके लोहमय बंधन टूट गये, जिससे वह हाथी मुक्त होकर उन महामुनि की वंदना के लिये उनके सामने चला। यह देखकर लोग कहने लगे कि 'इन मुनि को हाथी जरुर मार डालेगा।' ऐसा कहते हुए लोग हाथी के भय से दूर भाग गये। परंतु मुनि तो वहीं खड़े रहे। गजेन्द्र ने उनके पास आकर कुंभस्थल झुकाकर प्रणाम किये और दाह से पीडित ज्यों कदली का स्पर्श करे त्यों उस गजेन्द्र ने मुनि के चरण को सूंढ फैलाकर स्पर्श किया, जिससे वह परम शांति पाया। फिर वह हाथी खड़ा होकर भक्ति से भरपूर दृष्टि से मुनि को देखते हुए अनाकुलपन से अरण्य में चला गया। मुनि के ऐसे अद्‌भुत प्रभाव से और हाथी के भाग जाने से उन दयाभासधर्मी हस्तीतापसों को उन पर बड़ा गुस्सा आया, लेकिन आर्द्रकुमार ने उनको भी प्रतिबोध प्राप्त करवाया

१. आभासमात्र जिस में दया है, वास्तविक दया नहीं है ऐसे।

और समता संवेग से शोभित उनको श्री वीरप्रभु के समवसरण में भेजा। वहां जाकर उन्होंने हर्ष से दीक्षा ली।

श्रेणिक राजा गजेन्द्र के मोक्ष की और तापसों के प्रतिबोध की हकीकत सुनकर अभयकुमार सहित आर्द्रकमुनि के पास आया। भक्ति से वंदना करते हुए राजा को मुनि ने सर्व कल्याणकारिणी धर्मलाभ रुप आशिष से आनंदित किया। फिर मुनि को शुद्ध भूमितल पर निराबाधपूर्वक बैठा हुआ देखकर राजा ने पूछा कि 'हे भगवंत ! आपने किये हुए गजेन्द्र मोक्ष से मुजे आश्चर्य होता है।' तो महर्षि बोले कि 'हे राजेन्द्र ! गजेन्द्र का मोक्ष करना तो मुजे दुष्कर नहीं लगता लेकिन मुजे तो धागे के पाश में से मोक्ष होना बडा दुष्कर दिखता है।' राजा ने पूछा कि 'वह किस प्रकार ?' तो मुनि ने तकुए (धागे) संबंधित पूरी कथा कह सुनायी, जिसको सुनकर राजा और सर्व लोग चकित हो गये।

फिर आर्द्रकुमार मुनि ने अभयकुमार को कहा कि "हे भद्र ! आप मेरे बेकारण उपकारी धर्मबंधु हो। हे राजपुत्र ! आपने भेजी हुई अर्हंत की प्रतिमा के दर्शन से मुजे जातिस्मरण ज्ञान हुआ और उससे ही मैं अर्हत बना। हे भद्र ! आपने मुजे क्या क्या नहीं दिया, या क्या क्या उपकार नहीं किया कि जिससे मुजे उत्तम उपाय की योजना करके अर्हंत धर्म में प्रवर्तित किया ? हे महाउपकारी ! आपने अनार्यपन रुपी महाकीचड में निमग्न बने ऐसे मेरा उद्धार किया और आपकी बुद्धि से बोध पाकर मैं आर्य देश में आया तथा आपसे ही प्रतिबोध पाकर मैं दीक्षा को प्राप्त हुआ हूँ। इसलिये हे कुमार ! आप बड़े कल्याण द्वारा वृद्धि पाते हो।" राजा श्रेणिक अभयकुमार और अन्य लोग भी उन मुनि की वंदना करके अपने अपने स्थानक पर गये। आर्द्रक मुनि ने राजगृह नगर में संमवसरित श्री वीरप्रभु को वंदना करके और उनके चरणकमल की सेवा से कृतार्थ होकर अंत में मोक्ष को प्राप्त हुए।

इत्याचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि विरचिते त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरिते
महाकाव्ये दशमपर्वणि चेल्लणायोग्य एकस्तंभप्रासाद निर्मापण आम्रफलापहारेण
श्रेणिक विद्याग्रहण दुर्गंधाकथा आर्द्रकुमारकथा वर्णनो नाम सप्तमः सर्गः।।७।।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

आठवाँ सर्ग

श्री ऋषभदत्त और देवानंदा की दीक्षा, जमालि और गोशाले की विप्रतिपत्ति तथा विपति और श्री महावीरप्रभु का आरोग्य

भविजन के अनुग्रह के लिये गाँव, आकर और नगर वगैरह में विहार करते हुए श्री वीर प्रभु एक बार **ब्राह्मणकुंड** गाँव में आये। गाँव बाहर **बहुशाल** नाम के उद्यान में देवताओं ने तीन किल्लेवाला समवसरण रचा। उसमें प्रभु पूर्व सिंहासन पर पूर्वाभिमुख से बिराजे और गौतम वगैरह गणधर एवं देवता अपने अपने योग्य स्थान पर बैठे। सर्वज्ञ को आया सुनकर कइं नगरजन वहां आये। उनके साथ **देवानंदा** और **ऋषभदत्त** भी आये। श्रद्धालु ऋषभदत्त प्रभु को तीन प्रदक्षिणा करके, वंदना करके योग्य स्थान पर बैठा। देवानंदा भी प्रभु को नमन करके ऋषभदत्त के पीछे आनंदप्रफुल्लित मुख से देशना सुनने बैठी। उस समय प्रभु को देखते ही देवानंदा के स्तन में से दूध बहने लगा और शरीर में रोमांच प्रकट हुआ। उसकी ऐसी स्थिति देखकर गौतम स्वामी संशय और विस्मय पाये। जिससे उन्होंने हाथ जोड़कर प्रभु को पूछा, 'हे प्रभु ! पुत्र की तरह आपको देखकर इस देवानंदा की दृष्टि देववधू के समान निर्निमेष क्यों हो गई ?' भगवान श्री वीरप्रभु मेघ समान गंभीर वाणी में बोले, 'हे देवानुप्रिय गौतम ! मैं उस देवानंदा की कुक्षि में उत्पन्न हुआ हूँ। देवलोक में से च्यूत होकर मैं उसकी कुक्षि में ब्यासी दिन रहा था, जिससे परमार्थ को नहीं जानने पर भी वह मेरे लिये वत्सलभाव धरती हैं।' प्रभु के ऐसे वचन कि जो पहले सुनने में नहीं आये थे, वह सुनकर देवानंदा, ऋषभदत्त और पूरी पर्षदा चकित हो गई। 'इस तीन जगत के स्वामी पुत्र कहाँ ! और एक सामान्य गृहस्थाश्रमी हम कहां !' ऐसा सोचकर उस दंपती ने उठकर दुबारा प्रभु को वंदना की। 'इस माता-पिता को प्रतिबोध प्राप्त कराना दुष्कर है' ऐसी बुद्धि से भगवंत ने उनको और अन्य लोगों को उद्देशित करके इस प्रकार देशना दी-

''अहो भव्य जीवों ! इस संसार में सभी चीजें इन्द्रजाल समान हैं, जिससे विवेकी पुरुष उसके स्थिरपने के लिये पलभर भी श्रद्धा नहीं रखते। जब तक वृद्धावस्था आकर इस शरीर को जर्जरित नहीं करती और जब तक मृत्यु प्राण लेने नहीं आती तब तक अद्वेत सुख के निधानरुप निर्वाण के एक साधन जैसी दीक्षा का आश्रय कर लेना योग्य है, उसमें थोड़ा सा भी प्रमाद करना योग्य नहीं है।'' इस प्रकार प्रभु की देशना सुनकर देवानंदा और ऋषभदत्त प्रभु को नमन करके बोले, ''हे स्वामी ! हम दोनों इस असार संसारवास से विरक्त हुए हैं, इसलिये हे जंगम कल्पवृक्ष ! हमको संसारतारणी दीक्षा दीजिए। आपके सिवा तैरने या तारने में अन्य कौन समर्थ हैं ?'' प्रभु ने 'तथास्थु !' कहा तो आत्मा को धन्य मानते हुए उस दंपती ने इशान दिशा में जाकर आभूषण वगैरह त्याग दिये और संवेग से पाँच मुष्टिओं द्वारा केश का लोच करके, प्रभु को प्रदक्षिणापूर्वक वंदना करके बोले कि ''हे स्वामी ! हम जन्म, जरा और मृत्यु से भय पाकर आपकी शरण में आये हैं,

इसलिये आप स्वयंमेव हमें दीक्षा देने के लिये प्रसन्न होकर कृपा कीजिए।'' फिर प्रभु ने निर्दोष मनवाले उस दंपती को दीक्षा दी तथा समाचारी और आवश्यक विधि कह सुनायी। ''सर्व सत्पुरुष उपकारी होते हैं तो फिर सर्व कृतज्ञ पुरुषों में शिरोमणि प्रभु की तो बात ही क्या करनी !'' फिर प्रभु ने चंदना साध्वी को देवानंदा और स्थविर साधुओं को ऋषभदत्त सौंप दिये। दोनों परम आनंद से व्रत पालने लगे। क्रमशः एकादशांगि का अध्ययन करके, विविध तप में तत्पर होकर केवलज्ञान पाकर वे मोक्ष को प्राप्त हुए।

भगवंत श्री वर्धमान स्वामी जगत जीवों के आनंद में वृद्धि करते हुए गाँव, आकर और नगर से व्याप्त ऐसी पृथ्वी पर विहार करने लगे। क्रमशः प्रभु **क्षत्रियकुंड** गाँव पधारे। वहां समवसरण में बैठकर देशना दी। प्रभु को समवसरित हुआ जानकर राजा नंदीवर्धन बड़ी समृद्धि और भक्ति से प्रभु की वंदना के लिये आया। तीन प्रदक्षिणा करके जगतगुरु की वंदना करके भक्ति से अंजलि जोड़कर वह योग्य स्थान पर बैठा। उस समय जमालि नाम का प्रभु का भानजा और जामाता प्रभु की पुत्री प्रियदर्शना सहित प्रभु की वंदना के लिये आया। भगवंत की देशना सुनकर प्रतिबोध पाये हुए जमालि ने माता-पिता से संमति लेकर पाँचसौं क्षत्रियों के साथ प्रभु से दीक्षा ग्रहण की। जमालि की स्त्री और भगवंत की पुत्री प्रियदर्शना ने भी एक हजार स्त्रियों के साथ प्रभु से दीक्षा ली। फिर प्रभु ने वहां से अन्यत्र विहार किया। जमालि मुनि भी क्षत्रिय मुनियों सहित प्रभु के साथ विहार करने लगे। क्रमशः जमालि ने ग्यारह अंग का अध्ययन किया तो प्रभु ने उसे सहस्र क्षत्रिय मुनियों का आचार्य बनाया। वह चतुर्थ, छट्ठ और अट्ठम वगैरह तप करने लगा तथा चंदना का अनुसरण करती हुई प्रियदर्शना भी तप करने लगी।

एक बार जमालि ने अपने परिवार सहित प्रभु को नमन करके कहा, 'स्वामी ! आपकी आज्ञा हो तो अब हम अनियत विहार करें।' प्रभु ने ज्ञानचक्षु द्वारा उसमें भावि अनर्थ देखा था इसलिये जमालि मुनि ने बार बार पूछा फिर भी कुछ भी उत्तर नहीं दिया, तो 'जिसमें निषेध न हो उसमें आज्ञा समजनी' ऐसा सोचकर जमालि मुनि परिवार सहित अन्यत्र विहार करने के लिये प्रभु के पास से निकले। क्रमशः विहार करते हुए **श्रावस्ती** नगरी में गये। वहां **कोष्टक** नाम के नगर के बाहर के उद्यान में विरस, शितल, रुखे, तुच्छ, बेसमय के और ठंडे अन्नपान के उपयोग से एक बार जमालि मुनि को पित्तज्वर उत्पन्न हुआ। उस ज्वर की पीड़ा से कीचड में पड़े हुए कीले की तरह वे खडे नहीं रह पाते थे, इसलिये एक बार साथ के मुनियों को उन्होंने कहा कि 'संथारा कीजिए।' मुनियों ने शीघ्र ही संथारा करना शुरु किया। ''राजा की आज्ञा सेवक उठायें त्यों शिष्य गुरु की आज्ञा उठाते हैं।'' पित्त की अत्यंत पीडा से जमालि मुनि ने बार बार पूछना शुरु किया कि 'अरे साधुओं ! संथारा बिछाया कि नहीं ?' साधु बोले कि 'संथारा किया है।' तो ज्वर से आप्त जमालि मुनि तुरंत ही उठकर उनके समीप आये। वहां संथारा बिछता हुआ देखकर शरीर की अशक्ति से वे बेठ गये और तत्काल मिथ्यात्व का उदय होने से क्रोध करके उन साधुओं के प्रति कहने लगे कि 'अरे साधुओं ! हम दीर्घकाल से भ्रांत हो गये, अब चिरकाल के बाद तत्त्व जानने

में आया है कि जो कार्य किया जा रहा हो उसे 'किया' ऐसा नहीं कहा जाता। जो कार्य पूर्ण हो गया हो उसे ही 'किया' कहा जाता है। संथारा बिछाया जा रहा था फिर भी तुमने 'बिछाया' ऐसा जो कहा वह असत्य है और ऐसा असत्य बोलना अयुक्त है। उत्पन्न होता हो उसे उत्पन्न हुआ कहना और किया जा रहा हो उसे किया हुआ कहना ऐसा अरिहंत प्रभु कहते है वह योग्य नहीं है; क्योंकि उसमें प्रत्यक्ष विरोध दिखता है। वर्तमान और भविष्य क्षणों के व्यूह के योग से निष्पन्न होते कार्य के बारे में 'किया' यू आरंभ में ही किस प्रकार कहा जाय ? जो अर्थ और क्रिया का विधान करता है उसके लिये ही वस्तुता रही हुई है, तो उस प्रथम काल में उत्पन्न हुए पदार्थ में कदापि भी संभव नहीं। जो कार्य आरंभ में ही किया कहा जाय तो फिर शेष क्षण में किये हुए को करने में जरुर अनवस्था दोष आता है। इसलिये युक्ति द्वारा ऐसा सिद्ध होता है कि जो कार्य पूर्ण किया वहीं प्रगट प्रकार से किया हुआ कहा जाय। 'नहीं जन्मे हुए पुत्र का नाम कोई रखेगा ही नहीं' इसलिये हे मुनियों ! मैं कहता हूँ वह प्रत्यक्ष निर्दोष है, उसे स्वीकार करें। प्रभु जो कुछ कहे वह ग्रहण नहीं किया जाता। जो युक्ति युक्त हो वही ग्रहण होता है। सर्वज्ञपने से प्रसिद्ध ऐसे अर्हंत प्रभु मिथ्या बोलेंगे ही नहीं ऐसा मत मानना। वे भी कइं बार मिथ्या बोलेंगे, क्योंकि महान पुरुषों को भी स्खलना होती है।'

इस प्रकार विपरित भाषण कर रहे और क्रोध से मयार्दा को छोड़ देते हुए जमालि को स्थविर मुनियों ने कहा कि "अरे जमालि ! आप ऐसा विपरित क्यों बोलते हो ? राग-द्वेष से वर्जित ऐसे अर्हंत प्रभु कदापि अन्यथा बोलते ही नहीं हैं। उनकी वाणी में कदापि प्रत्यक्ष प्रमुख दोष का एक अंश भी नहीं होता। यदि आद्य (प्रारंभ) समय में वस्तु निष्पन्न न हुई कही जाय तो समय के अविशेषपन से अन्य समयों में भी उसकी उत्पत्ति हुई क्यों कही जाय ? अर्थ और क्रिया का साधकपन व वस्तु का जो लक्षण है उस नाम के अन्य उपयोग से कुछ व्यभिचार (विपरित भाव) पाता नहीं है। ज्यों लोग में कोई कार्य करते हुए पहले से ही कोई पूछे कि 'क्या करते हो ?' तब कार्य पूर्ण न हुआ हो तो भी यूं कहा जाता है कि 'अमुक घट वगैरह करते हैं।' पूर्व काल में की हुई वस्तु करने में अनवस्था दोष लागु करना भी युक्त नहीं है क्योंकि उस में उप भाग (पेटा) में कार्यान्तर का साधन रहा है। फिर आपके जैसे छद्मस्थ को युक्त-अयुक्त का पूर्ण विवेक कहां से होगा और जिससे आपका वचन युक्तिवान कैसे माना जाय कि जो ग्रहण किया जाय ? केवलज्ञान के आलोक से त्रैलोक्य की वस्तुओं को जाननेवाले ऐसे सर्वज्ञ श्री वीर प्रभु का कथन ही हमारे लिये प्रमाण है। उसके पास आपकी युक्ति सब मिथ्या है। हे जमालि ! आपने जो कहा कि 'महान पुरुषों को भी स्खलना होती है' वह आपका वचन मत्त-प्रमत्त और उन्मत के जैसा है। 'जो किया जाता हो उसे किया हुआ कहना[1] ऐसा सर्वज्ञ का भाषित योग्य ही है, नहीं तो उनके वचन से आपने राज्य छोड़कर दीक्षा किसलिए ली ? उन महात्मा के निर्दोष वचनों को दूषित करते

१. इस विषय में गहरा तत्त्वज्ञान समाया हुआ है। बहुत सोचे बिना विषय ग्राह्य नहीं हो सकेगा। किसी गीतार्थ (अभ्यासी) से यह विषय सोचना-समजना उचित है।

हुए तुम क्यों लजाते नहीं हो ? और ऐसे स्वकृत कर्म से तुम किसलिये भवसागर में निमग्न होते हो ? इसलिये आप श्री वीरप्रभु के पास जाकर इस बात का प्रायश्चित्त ग्रहण करें। आपका तप और जन्म निरर्थक मत करें। जो प्राणी अरिहंत के एक अक्षर पर भी श्रद्धा रखता नहीं है वह प्राणी मिथ्यात्व को पाकर भवपरंपरा में भटकता है।' इस प्रकार स्थविर मुनियों ने जमालि को कइं प्रकार से समजाया फिर भी उसने अपना कुमत नहीं छोड़ा, सिर्फ मौन धरकर रहा तो उस कुमतधारी जमालि को छोड़कर कुछ स्थविर मुनि तो तुरंत ही प्रभु के पास चले गये और कुछ उसके पास रहे।

प्रियदर्शना ने परिवार सहित स्त्री जाति को सुलभ ऐसे मोह (अज्ञान) से और पूर्व के स्नेह से जमालि के पक्ष को स्वीकारा। क्रमशः जमालि उन्मत्त होकर अन्य मनुष्यों को भी अपना मत ग्रहण कराने लगा और बाद में वे उस कुमत को फैलाने लगे। जिनेन्द्र के वचनों को वह हँस कर उडा देता और 'मैं सर्वज्ञ हूँ' यूं कहते हुए जमालि परिवार सहित विहार करने लगा।

एक बार वह मदोन्मत्त जमालि मुनि श्री वीरप्रभु को चंपानगरी के पूर्णभद्र नाम के वन में समवसरा हुआ जानकर वहां गया और बोला "हे भगवन् ! आपके कइं शिष्य छद्मस्थपने में ही केवलज्ञान उत्पन्न हुए बिना मृत्यु पा गये। लेकिन मैं ऐसा नहीं हूँ। मुजे तो केवलज्ञान और केवलदर्शन अक्षयपन में उत्पन्न हुए हैं, इसलिये इस पृथ्वी पर मैं भी सर्वज्ञ और सर्वदर्शी अर्हंत हूँ।" उसके ऐसे मिथ्यावचन सुनकर गौतम स्वामी बोल उठे कि "अरे जमालि ! यदि तू ज्ञानवान है तो कह, यह जीव और लोक शाश्वत है या अशाश्वत है ?" इस प्रश्न का प्रत्युत्तर देने में असमर्थ ऐसा जमालि कौए के बच्चे की तरह मुख फैलाकर सुन्न हो गया। फिर भगवंत श्री वीरप्रभु बोले कि, 'जमालि ! यह लोक तत्त्व से शाश्वत और अशाश्वत है। उसकी तरह जीव भी शाश्वत और अशाश्वत है। यह लोक द्रव्य रुप में शाश्वत है और प्रतिक्षण नाश पाते हुए पर्याय की अपेक्षा अशाश्वत है। उसी प्रकार जीव भी द्रव्य रुप में शाश्वत है और देव, मनुष्य, तीर्यंच वगैरह पर्यायों के संभव से अशाश्वत है।' इस प्रकार प्रभु ने कहा, वह सुना फिर भी मिथ्यात्व से जिसका हृदय ग्रथित हुआ है ऐसा वह जमालि कुछ भी बोले बिना अपने परिवार सहित समवसरण से बाहर निकला। ऐसे निह्नवपने से उस जमालि को संघ ने संघ से बाहर किया, उस समय प्रभु को केवलज्ञान उत्पन्न हुए चौदह वर्ष बीते थे। सर्व जगह अपने दर्शन के अभिप्राय को कहता और स्वच्छंद से घूमता जमालि अपनी आत्मा को सर्वज्ञ मानते हुए पृथ्वी पर विहार करने लगा, लेकिन "जमालि अज्ञान से श्री वीरप्रभु से विपरित होकर मिथ्यात्व को पाया है।" ऐसी लोक में सर्वत्र प्रसिद्धि हो गयी।

एक बार विहार करते हुए जमालि श्रावस्ती नगरी में गया और नगर के बाहर उद्यान में परिवार सहित ठहरा। प्रियदर्शना भी उसी नगरी में एक हजार आर्याओं सहित **ढंक** नाम के समृद्धिवान कुम्हार की शाला में ठहरी थी। वह ढंक कुम्हार परम श्रावक था। उसने प्रियदर्शना को ऐसे कुमत में रही हुई देखकर सोचा कि 'मैं किसी भी उपाय से इसे प्रतिबोध प्राप्त कराऊँ।' ऐसे विचार से एक बार उसने आवाँ (भट्टे) में से पात्र एकत्रित करते हुए बुद्धिपूर्वक अग्नि की एक

चिनगारी प्रियदर्शना न जाने त्यों उसके वस्त्र पर डाली। वस्त्र को जलता हुआ देखकर प्रियदर्शना बोली, 'अरे ढंक ! देख तेरे प्रमाद से यह मेरा वस्त्र जल गया।' ढंक बोला, ''हे साध्वी ! आप मृषा (जूठ) मत बोले। आपके मत अनुसार तो जब पूरा वस्त्र जल जाय तभी उसे जला कहना योग्य है। जलता हो उसे जल गया कहना तो श्री अर्हंत का वचन है और अनुभव से उनका वह वचन स्वीकृति के योग्य ही लगता है।'' यह सुनकर प्रियदर्शना को शुद्ध बुद्धि उत्पन्न हुई, जिससे वह बोली, ''मैं चिरकाल से विमुढ बन गयी थी। उसे तूने अच्छा बोध दिया। अरे ! मैंने इतने समय तक श्री वीरप्रभु के वचन को दूषित किया जिससे उस संबंधित मुजे मिथ्या दुष्कृत हो। अब से श्री वीर भगवंत की वाणी मुजे प्रमाण है।'' फिर ढंक कुम्हार ने कहा कि 'हे साध्वी ! आप अच्छे हृदयवाली हो, फिर भी इसी समय सर्वज्ञ प्रभु के पास जाओ और प्रायश्चित्त लो।' ढंक के ऐसे वचन से प्रियदर्शना 'मैं प्रायश्चित्त करना चाहती हूँ' यूं कहकर जमालि को छोड़कर अपने परिवार सहित श्री वीरप्रभु के पास आयी। फिर एक जमालि के सिवा ढंक द्वारा प्रतिबोधित हुए अन्य सब मुनि श्री वीरप्रभु के पास चले गये। अकेला जमालि कुमत से छले जाकर कइं वर्ष तक पृथ्वी पर व्रतधारी रुप में घूमा। अंत में आधे माह का अनशन करके अपने उस दुष्कर्म की आलोचना किये बिना मृत्यु पाकर छट्ठे देवलोक में किल्विष देवता बना।

जमालि को मृत्यु पाया जानकर गौतम ने श्री वीरप्रभु को वंदना करके पूछा कि 'हे स्वामी ! वह महातपस्वी जमालि किस गति को पाया है ?' प्रभु ने कहा कि 'वह तपोधन जमालि लांतक देवलोक में तेरह सागरोपम के आयुष्यवाला किल्विषिक देवता बना है।' गौतम ने दुबारा पूछा कि 'उसने महाउग्र तप किया था फिर भी वह किल्विषिक देव क्यूं हुआ और वहां से च्यूत होकर कहां जायेगा ?' प्रभु बोले कि ''जो प्राणी उत्तम आचारवाले धर्मगुरु (आचार्य), उपाध्याय, कुल, गण तथा संघ का विरोधी हो वह चाहे जितनी तपस्या करे तो भी किल्विषिक आदि निम्न जाति का देवता बनता है। जमालि भी उसी दोष से किल्विषिक देव बना है। वहां से च्यूत होकर पांच-पांच जन्म तिर्यंच, मनुष्य और नारकी के करके भटककर बोधिबीज प्राप्त करके अंत में निर्वाण को पायेगा, इसलिये किसी भी प्राणी को धर्माचार्य वगैरह के विरोधी नहीं बनना चाहिए।'' इस प्रकार उपदेश देकर भगवंत ने वहां से अन्यत्र विहार किया।

साकेतपुर नाम के नगर में **सुरप्रिय** नाम के एक यक्ष का देवालय था। वहां प्रतिवर्ष उसकी प्रतिमा चित्रित करवाकर लोग महोत्सव करते थे, परंतु उसे जो चित्रित करता, उस चित्रकार को वह यक्ष मार डालता था और यदि कोई उसे चित्रित नहीं करता, तो वह पूरे नगर में महामारी फैलाता था, जिससे भय पाकर सभी चित्रकार उस नगर में से पलायन करने लगे। अपनी प्रजा में महामारी उत्पन्न होने के भय से राजा ने उन्हें जाते हुए रोका और उनके प्रतिभू (जमानत) लेकर चिट्ठियों में उन सबका नाम लिखकर यमराज की चौसर जैसे एक घड़े में सभी चिट्ठियां डाली। फिर प्रतिवर्ष उसमें से एक चिट्ठी निकालने पर जिसके नाम की चिट्ठी आये उस चित्रकार को बुलवाकर उसके पास वह यक्ष की मूर्ति चित्रित करवाने लगा। इस प्रकार कुछ समय बीतने पर

एक बार किसी चित्रकार का पुत्र **कोशांबी** नगरी से चित्रकला सीखने के लिये वहां आया और किसी चित्रकार की वृद्ध स्त्री के घर ठहरा। उसे उस वृद्धा के पुत्र के साथ मैत्री हुई। दैवयोग से उस वर्ष उसी वृद्धा के पुत्र के नाम की ही चिट्ठी निकली, जो चिट्ठी यमराज की बही के पन्ने की तरह थी। यह खबर सुनकर उस वृद्धा ने रुदन करना शुरु किया, वह देखकर कोशांबी के युवा चित्रकार ने रुदन करने का कारण पूछा। तब वृद्धा ने यक्ष का वृत्तांत और अपने पुत्र पर आयी हुई विपत्ति की बात बतायी। वह बोला, 'माता ! रुदन न करें। आपका पुत्र घर रहेगा। मैं जाकर चित्रकार के भक्षक उस यक्ष को चित्रित करुंगा।' वृद्धा बोली, 'वत्स ! तू भी मेरा पुत्र ही है।' वह बोला, 'माता ! मेरे होने पर मेरा भाई स्वस्थ रहे।' फिर वह युवा चित्रकार छट्ठ का तप करके नहाकर चंदन से शरीर पर विलेपन करके मुख पर पवित्र वस्त्र को आठ स्तर का बांधकर नई तुलिका व सुंदर रंगों से उस यक्ष की मूर्ति चित्रित की। फिर वह बालचित्रकार यक्ष को नमन करके बोला कि "हे सुरप्रिय देवश्रेष्ठ ! अति चतुर चित्रकार भी आपके चित्र को चित्रित करने में समर्थ नहीं है, तो मैं गरीब मुग्ध बालक क्या मात्र हूं। फिर भी हे यक्षराज ! मैंने मेरी शक्ति से जो कुछ भी किया है वह युक्त या अयुक्त हो उसे स्वीकार लेना और कुछ भूलचुक हुई हो तो उसके लिये क्षमा करना, क्योंकि आप निग्रह और अनुग्रह (कृपा-क्रोध) करने में समर्थ हो।" ऐसी उस बालक की विनयभरपूर वाणी से यक्ष प्रसन्न होकर बोला कि "हे चित्रकार ! वर मांग।" बालचित्रकार बोला कि 'हे देव ! आप यदि मुज गरीब पर प्रसन्न हुए हो तो मैं ऐसा वरदान माँगता हूं कि अब से किसी चित्रकार को मारना मत।' यक्ष बोला, 'मैंने तूजे मारा नहीं, तबसे ही अब ऐसा करना तो सिद्ध हो गया है, लेकिन हे भद्र ! तेरे स्वार्थ की सिद्धि के लिये कुछ दूसरा वरदान मांग ले।' युवा चित्रकार बोला, 'हे देव ! आपने इस नगर में से महामारी का निवारण किया। मैं इतने से ही कृतार्थ हो गया हूँ।' यक्ष चकित होकर बोला, 'कुमार ! परमार्थ के लिये तूने वरदान मांगा, इसलिये मैं तुज पर पुनः संतुष्ट हुआ हूँ, इसलिये स्वार्थ के लिये कुछ वरदान मांग ले।' चित्रकार बोला, 'हे देव ! यदि विशेष संतुष्ट हुए हो तो मुजे ऐसा वरदान दीजिए कि जिस किसी मनुष्य, पशु या अन्य का मैं एक अंश देखूं तो भी उस अंश के अनुसार उसके पूरे स्वरुप को वास्तविक अंकित करने की मुजे शक्ति प्राप्त हो जाय।' यक्ष ने 'तथास्तु !' ऐसा कहा। फिर नगरजनों द्वारा पूजा पाता हुआ वह वहां से उस वृद्धा तथा अपने मित्र चित्रकार की अनुमति लेकर शतानिक राजा द्वारा आश्रित कोशांबी नगरी में आया।

कोशांबी में एक बार शतानिक राजा लक्ष्मी से गर्वित होते हुए सभा में बैठा था। उस समय उसने परदेश जाते आते दूत को पूछा कि 'हे दूत ! जो अन्य राजाओं के पास है और मेरे पास नहीं है ऐसा क्या है ? वह मुजे बता।' दूत बोला, 'हे राजन् ! आपके पास एक चित्रसभा नहीं है।' यह सुनकर राजा ने तत्काल चित्रकारों को आज्ञा दी कि 'मेरे लिये एक चित्रसभा तैयार करें।' फिर कइं चित्रकारों ने इकठ्ठे होकर चित्रित करने के लिये सभा की भूमि बांट ली। उसमें उस युवा चित्रकार को अंतःपुर के नज़दीक का प्रदेश हिस्से में आया। वहां चित्रकार्य करते हुए जाली के अंदर से मृगावती देवी के पाँव का अंगूठा अंगुठी सहित उसे नजर आया। उसके उपर से 'यह मृगावती

देवी होगी' ऐसा अनुमान करके उस चित्रकार ने यक्षराज की कृपा से उसका स्वरुप यथार्थ रुप में अंकित करना शुरु किया। अंत में उसके नेत्र को अंकित करते हुए तुलिका में से मशी का बिंदु उसकी जांघ पर गिरा तो चित्रकार ने तत्काल वह पोंछ दिया। फिर दुबारा पड़ा, उसे भी पोंछ दिया। फिर तीसरी बार पड़ा, वह देखकर चित्रकार ने सोचा कि अवश्य इस स्त्री के उरु प्रदेश में ऐसा लांछन होगा। तो यह लांछन भले ही रहे, अब मैं उसे पोछूंगा नहीं। फिर वह मृगावती का चित्र संपूर्णतया अंकित कर रहा था कि चित्रकार्य देखने के लिये राजा वहां आया। क्रमशः देखते देखते मृगावती का स्वरुप उसे नजर आया। उस समय जांघ पर वह लांछन किया हुआ देखकर राजा ने क्रोध से सोचा कि 'जरुर इस पापी चित्रकार ने मेरी पत्नी को भ्रष्ट किया लगता है, नहीं तो वस्त्र के अंदर रहे इस लांछन को वह दुराशयी किस प्रकार जान सकता है ?' ऐसे कोप से उसका वह दोष प्रकट करके राजा ने निग्रह करने के लिये उसे रक्षकों के स्वाधीन किया। उस समय दूसरे चित्रकारों ने मिलकर राजा को कहा कि 'हे स्वामी ! यह चित्रकार किसी यक्षदेव के प्रभाव से एक अंश देखकर पूरा स्वरुप यथार्थ अंकित कर सकता है, इसलिये उसमें उसका अपराध नहीं है।' उनके ऐसे वचन से क्षुद्र चित्तवाले राजा ने उस उत्तम चित्रकार की परीक्षा करने के लिये एक कुबड़ी दासी का मुख मात्र उसे दिखाया। उस पर से उस चतुर चित्रकार ने उसका यथार्थ स्वरुप अंकित कर दिखाया। वह देखकर राजा को भरोसा बैठा फिर भी ईर्ष्या आने से उसने क्रोध से उस चित्रकार के दाये हाथ का अंगूठा उससे कटवा डाला।

उस चित्रकार ने उस यक्ष के पास जाकर उपवास किया। यक्ष ने उसे कहा कि 'तू बाये हाथ से भी ऐसे चित्र बना सकेगा।' यक्ष ने ऐसा वरदान दिया, जिससे उस चित्रकार ने क्रोध से सोचा कि 'उस दुष्ट राजा ने मुज निरपराधी की ऐसी दशा की है, इसलिये मैं किसी उपाय से उसका बदला लूं।' ''बुद्धिमान पुरुष जो पराक्रम से असाध्य हो उसे भी बुद्धि से साध्य करते हैं।'' ऐसा विचार करके उसने एक पट पर विश्वभूषण मृगावती देवी को अनेक आभूषणों सहित अंकित की और फिर स्त्रीलंपट और प्रचंड ऐसे **चंडप्रद्योत** राजा के पास जाकर वह मनोहर चित्र दिखाया। उसे देखकर चंडप्रद्योत ने कहा कि ''हे उत्तम चित्रकार ! तेरा चित्रकौशल्य सचमुच विधाता समान ही है ऐसा मैं मानता हूँ। ऐसा स्वरुप इस मनुष्य लोक में पहले कदापि नजर नहीं आया तथा स्वर्ग में ऐसा रुप है ऐसा सुनने में भी नहीं आया। फिर भी अन्य चित्र के सिवा यह किस प्रकार अंकित किया ? हे चित्रकार ! ऐसी स्त्री कहां हैं वह सच सच बता तो मैं उसे तुरंत ही पकड़ लाऊं। क्योंकि ऐसी स्त्री किसी भी स्थान पर हो तो वह मेरे ही लायक हैं।'' राजा के ऐसे वचन सुनकर 'अब मेरा मनोरथ पूरा होगा' ऐसा मानकर चित्रकार ने हर्षित होकर कहा, 'हे राजा ! कोशांबी नगरी में शतानिक नाम का राजा है। पूर्ण मृगांक जैसे मुखवाली मृगावती नाम की यह मृगाक्षी उस शेर समान पराक्रमी राजा की पटरानी है। उसका यथार्थ रुप अंकित करने के लिये तो विश्वकर्मा भी समर्थ नहीं है। मैंने तो इसमें उसका थोड़ा सा ही रुप आलेखित किया है, क्योंकि उसका वास्तविक रुप तो वचन से भी दूर है।' चंडप्रद्योत ने कहा, 'मृग के देखते ही शेर ज्यों मृगी को ग्रहण करें

त्यों मैं शतानिक राजा के सामने ही उस मृगावती को ग्रहण कर लूंगा। फिर भी राजनीति अनुसार प्रथम उसकी मांग करने के लिये दूत भेजना योग्य है, कि जिससे मेरी आज्ञा मान्य करे तो उसे कुछ भी अनर्थ न हो।' ऐसा विचार करके चंडप्रद्योत ने वज्रजंघ नाम के दूत को समजाकर शतानिक राजा के पास भेजा। उस दूत ने शतानिक राजा के पास आकर इस प्रकार कहा - "हे शतानिक राजा ! चंडप्रद्योत राजा आपको आज्ञा करता है कि - तूने दैव योग से मृगावतीदेवी को प्राप्त किया है, लेकिन वह स्त्री रत्न मेरे योग्य है। तू क्या मात्र है ? इसलिये यदि राज्य और प्राण प्यारे हो तो उसे सत्वर यहां भेज दे। दूत के ऐसे वचन सुनकर शतानिक राजा बोला कि "अरे अधम दूत ! तेरे मुख से तू ऐसे अनाचार की बात कहता है ? लेकिन जा, दूतपने के कारण आज तूजे मारता नहीं हूँ। जो स्त्री मेरे अधीन है उसके लिये भी तेरे पापी राजा का ऐसा आचार है तो अपनी स्वाधीन प्रजा पर तो उसका कैसा जुलम होगा ?" इस प्रकार कहकर शतानिक ने निर्भयतापूर्वक दूत का तिरस्कार करके निकाल दिया। दूत ने अवंती में आकर यह बात चंडप्रद्योत को बतायी। वह सुनकर चंडप्रद्योत को बड़ा क्रोध आया, जिससे सैन्य द्वारा दिशाओं को आच्छादन करते हुए मर्यादा रहित समुद्र की तरह वह कोशांबी तरफ चला। गरुड के आने से सर्प की तरह चंडप्रद्योत को आता देखकर शतानिक राजा को क्षोभ द्वारा अतिसार हो जाने से वह तत्काल मृत्यु पा गया।

देवी मृगावती ने सोचा कि "मेरे पति तो मृत्यु पा गये, और यह **उदयनकुमार** अभी अल्प बलवाला बालक है। बलवान का अनुसरण करना ऐसी नीति है, लेकिन इस स्त्रीलंपट राजा के संबंध में तो ऐसा करने में मुजे कलंक लगता है, इसलिये उसके साथ तो कपट करना ही योग्य है। इसलिये अब तो यहीं रहकर अनुकूल संदेशे से उसको लुभाकर योग्य समय आये तब तक काल व्यतीत कर लूं।" ऐसा विचार करके मृगावती ने एक दूत को समजाकर चंडप्रद्योत के पास भेजा। वह दूत छावनी में प्रद्योत राजा के पास आकर बोला, "देवी मृगावती ने कहलवाया है कि मेरे पति शतानिक राजा स्वर्ग सिधार गये, इसलिये अब मुजे आपकी ही शरण है। लेकिन मेरा पुत्र अभी बलरहित बालक है। इसलिये यदि मैं इस समय उसे छोड़ दूंगी तो पिता की विपत्ति से हुए उग्र शोक-आवेग की तरह शत्रु राजा भी उसका पराभव करेंगे।" मृगावती की ऐसी विनंती सुनकर प्रद्योत राजा बड़ा हर्ष पाकर बोला कि "मैं रक्षक होने पर भी मृगावती के पुत्र का पराभव करने के लिये कौन समर्थ हैं ?" दूत बोला कि "देवी ने भी ऐसा ही कहा है कि प्रद्योत राजा स्वामी होने पर मेरे पुत्र का पराभव करने में कौन समर्थ है। लेकिन आप पूज्य राजा तो दूर रहते हो और शत्रु राजा तो नज़दीक रहनेवाले हैं। इसलिये सर्प सिरहाने और औषधियां हिमालय पर इस प्रकार है। इसलिये यदि आप मेरे साथ निर्विघ्न योग करना चाहते हो तो उज्जैनि नगरी से इंटे मँगवाकर कोशांबी के चारोंओर मज़बूत किल्ला बनवा दीजिए।" प्रद्योत ने ऐसा करना स्वीकारा। फिर उज्जैनि और कौशांबी के मार्ग में अपने साथ के चौदह राजाओं को परिवार सहित श्रेणिबद्ध स्थापित किया और पुरुषों की परंपरा द्वारा हाथोहाथ उज्जैनि से इंटे मंगवाकर कुछ समय में ही कोशांबी के चारोंओर मज़बूत किल्ला बनवा दिया। फिर मृगावती ने फिरसे दूत भेजकर कहलवाया कि 'हे प्रद्योत

राजा ! आप धन-धान्य और इंधन आदि से कोशांबी नगर को भरपूर कर दो।' प्रद्योत राजा ने वह सब भी तुरंत करवा दिया। ''आशा-पाश से वश बना पुरुष क्या क्या नहीं करता।'' बुद्धिमान मृगावती ने जाना कि ''अब नगरी विरोध करने के लिये योग्य है,'' तो उसने दरवाजे बंद किये और किल्ले पर सुभटों को चढ़ाया। चंडप्रद्योत राजा छलांग से भ्रष्ट बने बंदर की तरह अत्यंत खिसयाना होकर नगरी को घेरकर पड़ा रहा। एक बार मृगावती को वैराग्य आया कि जब तक श्री वीरप्रभु विचर रहे हैं तब तक मैं उनसे दीक्षा ले लूं। उसका ऐसा संकल्प ज्ञान द्वारा जानकर श्री वीरप्रभु सुर-असुर के परिवार सहित तत्काल वहां पधारे। प्रभु को बाहर समवसरे सुनकर मृगावती पुरद्वार (दरवाजा) खोलकर निर्भयता पूर्वक बड़ी समृद्धि के साथ प्रभु समीप आयी और प्रभु की वंदना करके योग्य स्थान पर बैठी। प्रद्योत राजा भी प्रभु का भक्त होने से वहां आकर बैर छोड़कर बैठा। फिर एक योजन तक प्रसरती और सभी भाषाओं का अनुसरण करती वाणी द्वारा श्री वीरप्रभु ने धर्मदेशना दी।

'यहां सर्वज्ञ पधारे हैं' ऐसा लोगों से सुनकर कोई एक धनुष्यधारी पुरुष प्रभु के पास आया और नजदीक खड़े रहकर ही प्रभु को मन द्वारा ही अपना संशय पूछा। प्रभु बोले, 'अरे भद्र ! तेरा संशय वचन द्वारा भी कह सुना कि जिससे यह अन्य प्राणी भी प्रतिबोध पाये।' प्रभु ने इस प्रकार कहा तो भी वह लज्जावश होकर स्पष्ट बोलने के लिये असमर्थ बना, जिससे वह थोड़े ही अक्षर में बोला कि 'हे स्वामी ! याशा साशा।' प्रभु ने भी छोटे ही अक्षर में उसका 'एवमेव।' ऐसा उत्तर दिया। वह सुनकर गौतम स्वामी ने पूछा कि 'हे भगवंत ! याशा साशा-इस वचन का क्या अर्थ है ?'

प्रभु बोले कि ''इस भरत क्षेत्र में चंपानगरी में पहले एक स्त्रीलंपट सुवर्णकार था। वह पृथ्वी पर घूमता था और जो जो रुपवान कन्याओं को देखता उन्हें पांचसौं पांचसौं सोने के सिक्के देकर ब्याहता था। इस प्रकार क्रमशः वह पांचसौं स्त्रियों से ब्याहा था और प्रत्येक स्त्री को उसने सर्व अंग के आभूषण बनवा दिये थे। फिर जब उस स्त्री की बारी आती तब वह स्त्री स्नान-अंगराग वगैरह करके सर्व आभूषण पहनकर उसके साथ क्रीडा करने सज्ज बनती थी। इसके सिवा अन्य कोई भी स्त्री यदि अपने वेश में कुछ भी परिवर्तन करती तो वह उसका तिरस्कार और ताड़न (मार) वगैरह करता था। अपनी स्त्रियों पर की अति इर्ष्यालुता से उनके रक्षण में तत्पर ऐसा वह सोनी नाजीर (नोकर) की तरह कदापि भी गृहद्वार को छोड़ता नहीं था। वह अपने स्वजनों को अपने घर किसी दिन भोजन नहीं कराता था तथा स्त्रियों के अविश्वास के कारण स्वयं भी अन्य के घर भोजन करने जा नहीं सकता था।

एक बार उसका कोई प्रिय मित्र यद्यपि वह चाहता नहीं था फिर भी उसे अति आग्रह से अपने घर भोजन कराने ले गया, क्योंकि यहीं मैत्री का आद्य (पहला) लक्षण है। सोनी के जाने से उसकी सभी स्त्रियों ने सोचा कि ''हमारे घर को, हमारी जवानी को और हमारे जीवन को भी धिक्कार है कि जिसमें हम यहां कारागृह की भाँति बंदीवान होकर रहती हैं। हमारा पापी पति यमदूत की

भाँति कदापि द्वार को छोड़ता नहीं है, लेकिन आज वह कहीं गया है इतना अच्छा हुआ है। इसलिये चलो, आज तो हम क्षणभर के लिये स्वेच्छापूर्वक रहे।'' ऐसा विचार करके सभी स्त्रियों ने स्नान करके अंगराग लगाकर उत्तम पुष्पमाला आदि धारण की, सुशोभित वेश धारण किया। फिर वे सब हाथ में दर्पण लेकर अपना अपना रुप उसमें देख रही थी कि वह सोनी वहां आया और उन्हें देखकर उसने अत्यंत क्रोध पाया। जिससे उनमें से एक स्त्री को पकड़कर उसे ऐसा मारा कि जैसे हाथी के पाँव नीचे दबी हुई कमलिनी की भाँति वह मृत्यु पा गयी। वह देखकर अन्य स्त्रियों ने भी विचार किया कि 'इस प्रकार हमें भी यह दूष्ट मार डालेगा। इसलिये हम मिलकर ही उसे मार डाले। ऐसे पापी पति को जीवित रखने में क्या फायदा है ?' ऐसा विचार करके उन सबने निशंक होकर चारसों निन्यान्वे दर्पण चक्र की तरह उस पर फैंके, जिससे तत्काल वह सोनी मृत्यु पा गया। फिर सभी स्त्रियाँ पश्चाताप करते हुए चिता समान गृह को जलाकर उसके अंदर रहकर स्वयं भी जलकर मृत्यु पायी। पश्चात्ताप के योग से अकाम निर्जरा होने से वे चारसौं निन्यानवे स्त्रियां मृत्यु पाकर पुरुष रुप में उत्पन्न हुई। दुर्देव योग से वे सब एकत्र मिलकर किसी अरण्य में किल्ला करके रहते हुए चोरी करने का धंधा करने लगे। वह सोनी मृत्यु पाकर तिर्यंच गति में उत्पन्न हुआ। उसकी जो एक पत्नी पहले मर गई थी वह भी तिर्यंच (पशु) में उत्पन्न हुई ओर फिर ब्राह्मण के कुल में पुत्ररुप बनी। उसकी पांच वर्ष की उम्र होते ही वह सोनी उसी ब्राह्मण के घर उसकी बहन के रुप में उत्पन्न हुआ। माता-पिता ने उस पुत्री का पालक अपने पुत्र को ठहराया। वह अपनी बहन का अच्छी तरह से पालन करता था, फिर भी अति दुष्टता से वह रोया करती थी। एक बार वह द्विजपुत्र उसके उदर पर हाथ फिराते हुए अचानक उसके गुह्यस्थान पर स्पर्श किया तो वह रोते हुए बंध हो गयी। उसके उपर से उसने रुदन को बंद करने का उपाय जाना। फिर जब वह रुदन करती तो वह उसके गुह्य स्थान का स्पर्श करता तो वह रोते हुए रुक जाती थी। एक बार उसके माता-पिता ने उसे ऐसा करते हुए देखा तो क्रोध से उसे मारकर घर के बाहर निकाल दिया। वह किसी पर्वत की गुफा में चला गया। क्रमशः वह जिस जगह चारसौं निन्यानवे चोर रहते थे वहां जा पहुंचा और उन चोरों के साथ उसका समागम होने से उनके साथ मिल गया। यहां उसकी बहन युवावस्था पाते ही कुलटा बनी। वह स्वेच्छा से घूमते घूमते किसी एक गाँव में आयी। उन चोरों ने उसी गाँव को लूंट लिया और उस कुलटा को पकड़ लेजाकर उन सब ने उसे स्त्री रुप में ग्रहण किया। एक बार सब चोरों ने सोचा कि यह बेचारी अकेली है, इसलिये हम सबके साथ भोग-विलास करने में अवश्य कुछ समय में ही वह मृत्यु पा जायेगी। इसलिये किसी दूसरी स्त्री को ले आये तो ठीक।' ऐसे विचार से वे दूसरी स्त्री को लाये। वहां वह कुलटा स्त्री ईर्ष्या से उसके छिद्र ढूंढने लगी और अपने विषय में हिस्सा बटानेवाली मानने लगी। एक बार सब चोर किसी जगह चोरी करने गये। उस समय छल करके पूर्व स्त्री को कोई बहाना निकालकर उसे कुएं के समीप ले गयी और बोली कि 'भद्रे ! देख इस कुएं में कुछ है ?' वह सरल स्त्री देखने गई तो उसने धक्का मारकर उसे अंदर धकेल दिया। चोरों ने आकर पूछा कि 'वह स्त्री कहां है ?' तो वह बोली, 'मुजे क्या मालूम ? तुम तुम्हारी

पत्नी को क्यों नहीं संभालते ?' चोरो ने जान लिया कि 'अवश्य उस बेचारी को उसने मार दिया है।' उस ब्राह्मण ने सोचा कि 'क्या यह मेरी दुःशिला भगिनी होगी ?' इतने में उसने लोगों से सुना कि 'यहां सर्वज्ञ भगवान पधारे हैं।' इसलिये वह यहां आया और अपनी बहन के दुःशील को पूछने की लज्जा आने से उसने पहले मन द्वारा पूछा। फिर मैंने कहा कि 'वाणी से पूछ' तो उसने वाणी से 'याशा-साशा' ऐसे अक्षरों से 'वह स्त्री क्या मेरी बहन है ?' जिसका मैंने 'एवं' इतना ही उत्तर देकर 'वह उसकी बहन है' ऐसा बता दिया। इस प्रकार रागद्वेषादि से मूढ़ बने प्राणी इस संसार में जनम जनम भटकते हैं और विविध दुःख के पात्र बना करते है। इस प्रकार सर्व हकीकत सुनकर उस पुरुष ने परम संवेग को पाकर प्रभु से दीक्षा ली और वापस पल्ली में आया। वहां जाकर उसने चारसौं निन्यानवे चोरों को प्रतिबोध दिया, जिससे उन सबने भी व्रत ग्रहण किया।

योग्य समय पर मृगावती ने उठकर प्रभु को नमन करके कहा कि 'चंडप्रद्योत राजा की आज्ञा लेकर मैं दीक्षा लूंगी।' फिर चंडप्रद्योत के पास आकर कहा कि ''यदि आपकी संमति हो तो मैं दीक्षा ले लूं, क्योंकि मैं इस संसार से उद्वेग पायी हूँ और मेरा पुत्र तो आपको सौंप ही दिया है।'' यह सुनकर प्रभु के प्रभाव से प्रद्योत राजा का बैर शांत हो गया तो उसने मृगावती के पुत्र उदयन को कोशांबी नगरी का राजा बनाया और मृगावती को दीक्षा लेने की आज्ञा दी। फिर मृगावती ने प्रभु के समीप दीक्षा ली। उसके साथ अंगारवती वगैरह प्रद्योत राजा की आठ स्त्रियों ने भी दीक्षा ली। प्रभु ने कुछ शिक्षा देकर उन्हें चंदना साध्वी को सौंप दिया। उन्होंने उस साध्वी की सेवा करके सर्व समाचारी जान ली।

अब परम समृद्धि से निरुपम ऐसा **वणिजकग्राम** नाम का एक प्रसिद्ध नगर था, उसमें पिता की तरह प्रजा को पालनेवाला **जितशत्रु** नाम का प्रसिद्ध राजा राज्य करता था। उस नगर में पृथ्वी पर चंद्र आया हो त्यों जिसके दर्शन से नेत्रों को आनंद हो ऐसा **आनंद** नाम का एक गृहपति (सेठ) रहता था। चंद्र को रोहिणी की तरह उसे **शिवानंदा** नाम की रुपमती एक पत्नी थी। उसके चार करोड सोने के सिक्के भंडार में, चार करोड ब्याज पर और चार करोड व्यापार में थे तथा गायों के चार गोकुल थे। उस नगर की इशान दिशा में स्थित **कोल्लाक** नाम के उपनगर में उस आनंद के कइं बंधु और संबंधी रहते थे। एक बार पृथ्वी पर विहार करते करते सिद्धार्थनंदन श्री वीरप्रभु उस नगर के पुतिपलाश नाम के उद्यान में समवसरे। राजा जितशत्रु प्रभु को आया सुनकर संभ्रम से परिवार सहित उनकी वंदना के लिये गया। आनंद भी पैदल चलकर प्रभु के चरण समीप आया और कर्ण को अमृत के गंडूष (मीठे गन्ने) जैसी प्रभु की देशना सुनने के बाद महामन वाले आनंद ने प्रभु के चरण में नमन करके बारह प्रकार के गृहस्थधर्म को ग्रहण किया।

उसके अंदर शिवानंदा सिवा अन्य स्त्रियों का और निधि में, ब्याज में और व्यापार में रहे बारह करोड सुवर्ण मुद्रा उपरांत अन्य द्रव्य का त्याग किया। गायों के चार गोकुल सिवा दूसरे गोकुल व पांचसौं हल उपरांत अन्य हल तथा सो क्षेत्र उपरांत क्षेत्रों का भी त्याग किया। पांचसौं गाडे के उपरांत अन्य गाडों का भी व्यापार निमित्त से त्याग किया और दिशाओं में प्रवास करने के लिये

चार जहाज के उपरांत अन्य जहाजों का त्याग किया। गंधकाषयी (रक्त) वस्त्र बिना अंग पोछने के वस्त्रों का त्याग किया और आर्द्र (हरे) मधुयष्ठि (जेठीमध) सिवा के अन्य दंतधावन (दातून) का त्याग किया। क्षीरामलक[१] सिवा अन्य फलों का त्याग दिया। और सहस्रपाक तथा शतपाक तेल के सिवा अन्य अभ्यंग का त्याग किया। एक प्रकार के सुगंधी गंधाढ्य उद्धर्त्तन के सिवा अन्य उद्वर्तन त्याग दिये और आठ औष्ट्रिक[२] पानी के कुंभ से ज्यादा पानी से नहाना छोड़ दिया। क्षोमयुगल[३] सिवा अन्य वस्त्रों को त्याग दिया और श्रीखंड, चंदन अगर तथा केसर के सिवा अन्य विलेपनों को छोड़ दिया। मालती की माला के सिवा अन्य मालाएं और कमल के सिवा अन्य पुष्पों का त्याग किया। कर्णिका[४] तथा नामांकित मुद्रिका के सिवा अन्य आभूषणों का त्याग किया और तुरुष्क[५] तथा अगरु के सिवा अन्य धूप का त्याग किया। घेबर तथा शक्कर के खाजे के सिवा अन्य सुखडी त्याग दी और काष्टपेया[६] के सिवा अन्य पेय भोजन का त्याग किया। कमलशाली के सिवा अन्य चावल छोड़ दिये और उड़द, मुंग तथा कलाएं[७] के सिवा अन्य दलहन की दालों को छोड़ दी। शरद ऋतु के गाय के घी सिवा अन्य घी छोड़ दिया और स्वस्तिक, मंडुकी तथा वालुकी[८] के सिवा अन्य सब्जियां छोड़ दी। इमली के सिवा अन्य अम्ल पदार्थ को और आकाश के पानी के सिवा अन्य पानी को त्याग दिया तथा पंचसुगंधी तांबुल के सिवा अन्य मुखवास को छोड़ दिया।

इस प्रकार नियम लेकर हर्ष पाते हुए आनंद घर पर आया और स्वयं ग्रहण किये हुए गृहस्थ धर्म की सविस्तृत हकीकत शिवानंदा को कही। वह सुनकर गृहस्थधर्मी शिवानंदा अपने कल्याण के लिये तत्काल वाहन में बैठकर प्रभु के चरण समीप आयी। प्रभु को नमन करके शिवानंदा ने भी समाहित (अच्छे) मन से उनके समक्ष गृहिधर्म ग्रहण किया। फिर भगवंत की वाणीरुप सुधा के पान से हर्षित होते हुए शिवानंदा प्रकाशित विमान जैसे वाहन पर बैठकर अपने घर आयी। फिर गौतम स्वामी ने प्रणाम करके सर्वज्ञ को पूछा कि 'हे स्वामी ! ये महात्मा आनंद यतिधर्म ग्रहण करेंगे ?' त्रिकालदर्शी प्रभु बोले, 'आनंद श्रावक चिरकाल तक श्रावकधर्म को पालेगा और मृत्यु पाकर सौधर्म देवलोक के अरुणप्रभ विमान में चार पल्योपम के आयुष्यवाला देवता बनेगा।'

गंगा के किनारे पर स्थित हंसों की श्रेणी जैसा सुंदर चैत्य ध्वजों से बिराजमान **चंपा** नाम का एक बड़ा नगर है। उसमें सर्प के शरीर जैसी भुजावाला और लक्ष्मी के कुलगृह रुप **जितशत्रु** नाम का राजा है। उस नगर में **कामदेव** नाम का एक बुद्धिमान कुलपति रहता है। वह मार्ग में आये हुए महान वृक्ष की भाँति अनेक लोगों को आश्रयभुत है। स्थिर रही हुई लक्ष्मी की तरह और भद्र आकृतिवाली **भद्रा** नाम की उसे सधर्मिणी (पत्नी) है। उसे छः करोड सुवर्ण मुद्रा भंडार में, छः करोड व्याज पर और छः करोड व्यापार में हैं। दस-दस हजार गायोंवाले छः गोकुल है। एक बार

१. एक तरह के क्षीर जैसे मधुर आँवले। २. बहु छोटे या बहुत बड़े नहीं - उचित प्रमाणवाले घड़े को औष्ट्रिक कुंभ कहते है। ३. पिटीकार दो सूती वस्त्र कहते हैं। ४. कान में पहनने के कुंडल। ५. शेलहारस। ६. मुंग वगैरह युक्त घी में तले हुए तंदुल की पेया। ७. एक तरह के चने जैसा धान्य - मटर या मसूर। ८. इन तीनों प्रकार की सब्जियों के चोक्कस नाम समज नहीं आते, टबा में पथवा, अगथ्या और डोडी कहते है।

पृथ्वी पर विहार करते करते श्री वीरप्रभु पृथ्वी के मुखमंडन जैसे उस नगर के बाहर स्थित पुण्यभद्र नाम के उद्यान में आकर समवसरे। यह खबर सुनकर कामदेव पैदल चलते हुए भगवंत के पास आया और श्रवण को अमृतरुपी धर्मदेशना सुनी। फिर शुद्ध बुद्धिवाले कामदेव ने देव, मनुष्य और असुरों के समक्ष गुरुश्री वीरप्रभु के पास बारह प्रकार का गृहीधर्म ग्रहण किया। उसने भद्रा के सिवा अन्य स्त्री का, गायों के छः गोकुल के उपरांत अन्य गायों का और भंडार, व्याज और व्यापार में रहे छः छः करोड द्रव्य उपरांत के द्रव्य का त्याग किया। बाकी की अन्य वस्तुओं का भी आनंद श्रावक की भाँति नियम ग्रहण किया। फिर प्रभु को नमन करके वह अपने घर गया और स्वयं ने लिये हुए श्रावकव्रत संबंधित समाचार भद्रा को कहे तो भद्रा ने भी प्रभु के पास जाकर श्रावक के व्रत ग्रहण किये।

गंगा नदी के तट पर काशी नाम की एक उत्तम नगरी है, जो विचित्र और रमणीय रचना से पृथ्वी के तिलक की शोभा हो ऐसी दिखती है। अमरावती में इन्द्र की भाँति उस नगरी में अखंडित पराक्रमवाला **जितशत्रु** नाम का उत्तम राजा है और मानो मानवधर्म मनुष्यपन को प्राप्त हुआ हो वैसा **चुलनीपिता** नाम का एक धनाढ्य गृहस्थ वहां रहता है। जगत को आनंददायी उस गृहस्थ को चंद्र को श्यामा की तरह **श्यामा** नाम की एक अनुकूल रुपमती रमणी (पत्नी) है। उस श्रेष्ठी के पास आठ करोड भंडार में, आठ करोड ब्याज पर और आठ करोड व्यापार में - कुल मिलाकर चौबीस करोड सुवर्णमुद्रा की संपत्ति है। एक एक गोकुल में दस-दस हजार गायोंवाले उसे आठ गोकुल हैं कि जो लक्ष्मी के कुलग्रह जैसे शोभित हैं। एक बार उस नगरी के कोष्टक नाम के उद्यान में विहार करते हुए श्री वीरप्रभु समवसरे। तो इन्द्र सहित देवता, असुर और जितशत्रु राजा प्रभु की वंदना के लिये आये। तथा यह खबर सुनकर चुलनीपिता भी जगतपति वीर को वंदना करने की इच्छा से योग्य आभूषण पहनकर पैदल चलते हुए वहां आया। भगवंत को नमन करके योग्य स्थान पर बैठकर चुलनीपिता ने परम भक्ति से हाथ जोडकर धर्मदेशना सुनी। जब पर्षदा उठी तब चुलनीपिता ने प्रभु के चरण में नमन करके विनीत होकर कहा, "हे स्वामी ! हमारे जैसो को बोध देने के लिये ही आप पृथ्वी पर विचर रहे हो, क्योंकि सूर्य का संक्रमण (भ्रमण) जगत को प्रकाश देने के सिवा अन्य किसी भी कारण के लिये नहीं होता। सर्व लोगों के पास जाकर याचना करें तो भी वे कदापि दे और न दे, लेकिन आप तो याचना बिना धर्म देते हो। उसका उद्देश्य मात्र आपकी कृपा ही है। मैं जानता हूँ कि आपके पास यतिधर्म ग्रहण करुं तो अच्छा होगा, लेकिन मेरे जैसे मंदभागी मनुष्य में उतनी योग्यता नहीं है, इसलिये हे नाथ ! मैं श्रावकधर्म की याचना करता हूँ। वह मुजे प्रसन्न होकर दीजिए क्योंकि मेघ अपने आप जल वहन करके ठीक लगे वहां बरसता है।" प्रभु ने कहा कि "ज्यों सुख उपजे त्यों करों।" तो प्रभु की संमति मिलते ही उसने बारह प्रकार का श्रावक धर्म ग्रहण किया। चौबीस कोटि धन से विशेष धन का और गायों के आठ गोकुल से अधिक गोकुल का उसने त्याग किया। इसके सिवा अन्य वस्तुओं का भी कामदेव श्रावक की भाँति उसने नियम लिया। उसकी पत्नी श्यामा ने भी प्रभु से श्रावक के व्रत ग्रहण किये। उस समय गौतम गणधर

ने प्रभु को नमन करके पूछा, "हे स्वामी ! यह चुलनीपिता श्रावक महाव्रतधारी होगा या नहीं ?" प्रभु बोले, "वह इस भव में यतिधर्म को नहीं पायेगा लेकिन गृहस्थधर्म प्रीतिपूर्वक पालकर मृत्यु पाकर सौधर्म देवलोक में देव बनेगा। वहां अरुणाभ नाम के विमान में चार पल्योपम का आयुष्य भोगकर वहां से च्यूत होकर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर निर्वाण पायेगा।" उसी नगर में **सुरादेव** नाम का एक गृहस्थ रहता था। उसे **धन्या** नाम की प्रिया थी। उसके पास भी कामदेव समान बहुत धन था। उसने भी कामदेव की भाँति प्रभु के पास जाकर श्रावक के व्रत ग्रहण किये और धर्म द्वारा धन्य ऐसी उसकी **धन्या** नाम की पत्नी ने भी श्रावकपना ग्रहण किया। श्री वीर प्रभु वहां से विहार करके **आलंभिका** नगरी में पधारे। वहां शंखवन नाम के उद्यान में प्रभु समवसरे। उस नगरी में **चुल्लशतक** नाम का गृहस्थ रहता था। वह भी कामदेव जैसा समृद्धिवान था। उसे **बहुला** नाम की स्त्री थी। वह भी कामदेव की भाँति श्री वीरप्रभु के चरण में गया और अपनी बहुला स्त्री के साथ उसने गृहीधर्म और अन्य नियम भी ग्रहण किये।

विहार करते करते प्रभु एक बार **कांपिल्यपुर** आये। और सहस्राम्रवन नाम के उद्यान में समवसरे। वहां कामदेव के समान धनवान **कुंडकोलिक** नाम का गृहस्थ रहता था। उसे शील द्वारा अलंकृत **पुष्पा** नाम की स्त्री थी। उसने भी पुष्पा के साथ कामदेव की भाँति प्रभु के पास जाकर श्रावक व्रत और अन्य नियम ग्रहण किये।

पोलाशपुर नाम के नगर में **शब्दालपुत्र** नाम का एक कुम्हार रहता था। वह गोशाल का उपासक था। उसे **अग्निमित्रा** नाम की स्त्री थी। उसके एक कोटि सुवर्णमुद्रा भंडार में, एक कोटि ब्याज पर, और एक कोटि व्यापार में तथा एक गायों का गोकुल था। पोलाशपुर के बाहर उस कुम्हार की पांचसौं दुकाने उसके मिट्टी के बर्तन बेचने की थी। एक बार अशोकवन में किसी देवता ने आकर उसे कहा कि 'कल प्रातःकाल में महाब्रह्म और त्रिलोक पूजित सर्वज्ञ प्रभु यहां आयेंगे। उनको पीठ, फलक (पाट) और संस्तारक वगैरह देकर तू उनकी सेवा करना।' इस प्रकार दो-तीन बार कहकर वह देव अंतर्धान हो गया। शब्दालपुत्र कुम्हार ने भक्ति से सोचा कि 'जरुर मेरे धर्मगुरु सर्वज्ञ ऐसा गोशाल ही प्रातःकाल में यहां आयेंगे।' ऐसा विचार करके वह उनकी राह देख रहा था कि प्रातःकाल में श्री वीरप्रभु सहस्राम्रवन नाम के उद्यान में आकर समवसरे। यह हकीकत सुनकर कुम्हार ने वहां जाकर भगवंत की वंदना की। प्रभु देशना देकर उस कुम्हार के प्रति बोले, "हे शब्दालपुत्र ! कल किसी देवता ने अशोकवन में आकर तुजे कहा था कि कल प्रातःकाल में ब्रह्मा और सर्वज्ञ ऐसे अर्हंत प्रभु यहां आयेंगे। उनको तुजे पीठ, फलक वगैरह देकर उपासना करनी। उस समय तूने भी सोचा था कि प्रातःकाल में गोशाला यहां आयेगा।" प्रभु के ऐसे वचन सुनकर उसने सोचा कि 'अहो ! ये सर्वज्ञ महाब्राह्मण अर्हंत श्री महावीर प्रभु ही यहां पधारे हैं। तो वे मेरे नमस्कार करने योग्य और सर्वथा उपासना करने योग्य हैं।' इस प्रकार सोचकर खड़े होकर प्रभु को नमन करके हाथ जोड़कर वह बोला, "हे स्वामी ! इस नगर के बाहर जो मेरी पांचसौं कुंभकारपन की दुकान हैं उसमें रहिये और पीठ, फलक वगैरह जो चाहिए वे ग्रहण करके मुज पर अनुग्रह कीजिए।"

प्रभु ने उसका वचन स्वीकारा और गोशाल की शिक्षा से उसने ग्रहण किये हुए नियतिवाद से युक्तिपूर्वक निवृत्त कर दिया। फिर उसने नियतिवाद छोड़कर पुरुषार्थ को प्रमाण करके आनंद श्रावक की भाँति प्रभु से श्रावक के व्रत ग्रहण किये। उसके नियम में उतना विशेष था कि उसने भंडार, व्याज और व्यापार में मिलकर तीन कोटि सुवर्ण रखा और गायों का एक गोकुल रखा। उसे **अग्निमित्रा** नाम की पत्नी थी उसको उसने ही प्रतिबोध प्राप्त कराया, तो उसने भी प्रभु के पास जाकर श्रावक के व्रत ग्रहण किये। फिर प्रभु ने वहां से अन्यत्र विहार किया।

गोशाल ने लोकवाणी से सुना था कि 'शब्दाल पुत्र ने आजीविका मत को छोड़कर निर्ग्रंथ साधुओं के शासन को स्वीकारा है।' इसलिये 'चल मैं वहा जाकर उस शब्दालपुत्र को वापस आजीविका मत में पहले की भाँति स्थापित करुं।' ऐसा सोचकर गोशाल अपने मतवालों को साथ लेकर उसके घर आया। शब्दालपुत्र ने गोशाल को दृष्टि से भी मान नहीं दिया, जिससे शब्दालपुत्र को अपने मत में स्थापित करने और श्रावकव्रत में से चलित करने में अशक्त बना हुआ गोशाल वहां से वापस लौट गया।

एक बार वीरप्रभु राजगृह नगर के बाहर स्थित गुणशील नाम के चैत्य में समवसरे। उस नगर में चुलनीपिता के समान समृद्धिवान **महाशतक** नाम का एक गृहस्थ था। उसे **रेवती** वगैरह तेरह पत्नियाँ थी। रेवती आठ कोटि सुवर्ण और आठ गायों का गोकुल अपने पिता के यहां से लायी थी और अन्य प्रत्येक स्त्रियाँ एक एक कोटि सुवर्ण और एक एक गायों का गोकुल लायी थी। उसमें भी चुलनीपिता की तरह प्रभु से श्रावक के व्रत और नियम ग्रहण किये तथा तेरह स्त्रियों के अलावा अन्य स्त्रियों का त्याग किया।

एक बार प्रभु विहार करते करते **श्रावस्तीपुरी** में आये। वहां कोष्टक नाम के उपवन में समवसरे। उस नगरी में आनंद के समान ऋद्धिमान **नंदिनीपिता** नाम का गृहस्थ रहता था। चंद्र को अश्विनी की भाँति उसे **अश्विनी** नाम की प्रिया थी। श्री वीरप्रभु के मुख से धर्मदेशना सुनकर उसने भी आनंद की भाँति श्रावकपन और नियम ग्रहण किये। उसी नगर में आनंद के समान समृद्धिवान **लांतकपिता** नाम का एक अन्य गृहस्थ रहता था। उसे मधुर भाषण करनेवाली **फाल्गुनी** नाम की पत्नी थी। उसने भी वीरप्रभु के पास आकर देशना सुनकर, आनंद की भाँति श्रावकपना और नियम ग्रहण किया।

इस प्रकार देवताओं से भी अक्षोभ्य और पर्वत की तरह श्रावकपने में स्थिर रहनेवाले श्री वीरप्रभु के मुख्य दस श्रावक हुए। इस प्रकार कमलों को सूर्य की भाँति भव्यजनों को प्रतिबोध करते हुए श्री वीर भगवंत फिर से कोशांवी नगरी में पधारे। दिन के अंतिम प्रहर में चंद्र-सूर्य स्वाभाविक (शाश्वत) विमान में बैठकर प्रभु की वंदना के लिये आये। उनके विमान के तेज से आकाश में प्रकाश हुआ देखकर लोक कूतुहलता से वहीं बैठे रहे। रात्रि हो जाने से अपना उठने का समय देखकर चंदना साध्वी अपने परिवार सहित वीरप्रभु को नमन करके अपने उपाश्रय में गयी। परंतु मृगावती

ने सूर्य के उद्योत (प्रकाश) के तेज द्वारा दिन के भ्रम से रात्रि हुई जानी नहीं, इसलिये वह वहीं बैठी रही। फिर जब सूर्य-चंद्र चले गये तब मृगावती रात्रि हो गयी मानकर कालातिक्रम के भय से चकित होकर उपाश्रय में आयी। चंदना ने उसे कहा कि 'अरे मृगावती ! तेरे समान कुलीन स्त्री को रात्रि में अकेला बाहर रहना क्या योग्य है ?' यह वचन सुनकर वह चंदना से बार बार क्षमा मांगने लगी। ऐसा करते करते शुभ भाव द्वारा घातीकर्म का क्षय होने से मृगावती को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। उस समय निंद्रावश बनी चंदना के समीप से सर्प जा रहा था उसे केवलज्ञान की शक्ति से देखकर मृगावती ने उसका हाथ संथारे से ऊंचे लिया, जिससे चंदना ने जागकर पूछा कि 'मेरा हाथ क्यों ऊंचा किया ?' मृगावती बोली, 'यहां से बडा सर्प जा रहा था।' चंदना ने दुबारा पूछा कि 'अरे मृगावती ! सुई से भेदे जाय ऐसे गाढ अंधकार में तूने किस प्रकार सर्प को देखा ? इसका मुजे आश्चर्य होता है।' मृगावती बोली, 'हे भगवती ! मैंने मुजे उत्पन्न केवलज्ञान चक्षु से उसे देखा।' यह सुनते ही 'अरे ! केवली की आशातना करनेवाली ऐसी मुजे धिक्कार है।' इस प्रकार अपनी आत्मा की निंदा करते हुए चंदना को भी केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

इस अरसे में गौतम स्वामी ने प्रभु को पूछा कि 'स्वामी ! जो स्थिर पदार्थ हैं वे क्या कदापि अपने स्वभाव से चलित होते होंगे ? कि जिससे सूर्य-चंद्र के विमान चलित होकर यहां आये।' प्रभु बोले कि "इस अवसर्पिणी में दस आश्चर्य हुए हैं। वह इस प्रकार हैं - अरिहंत को केवलज्ञान होने के बाद उपसर्ग, गर्भ में से हरण, सूर्य-चंद्र के विमान का अवतरण, चमरेन्द्र का उत्पात, अभावि परिषह (देशनानिष्फल), एक समय में उत्कृष्ट अवगाहनावाले एकसौं आठ सिद्ध, घातकीखंड की अपरकंका में कृष्ण का गमन, असंयमी की पूजा, स्त्री तीर्थंकर और हरिवंशकुल की उत्पत्ति। इन दस आश्चर्यों के अंतर्गत सूर्य-चंद्र के विमान का अवतरण भी आश्चर्यभूत ही हुआ है।" इस प्रकार कहकर वहां से विहार करके प्रभु श्रावस्ती नगरी में पधारे। वहां नगर के बाहर कोष्टक नाम के उद्यान में समवसरे।

वहां तेजोलेश्या के बल से विरोध का नाश करनेवाला अष्टांगनिमित्त के ज्ञान से लोगों के मन की बात कहनेवाला और जिन नहीं फिर भी जिन नाम को धारण करनेवाला गोशाल पहले से आया हुआ था। वह **हालाहला** नाम के किसी कुम्हार की दुकान में ठहरा था। उसकी 'अर्हंत' के रुप में ख्याति सुनकर मुग्ध लोग प्रतिदिन उसके पास आकर उपासना करते थे। ऐसे समय में गौतम स्वामी प्रभु की आज्ञा से छट्ठ का पारणा करने के लिये नगर में भिक्षा लेने के लिये गये। वहां उन्होंने सुना कि 'यहां गोशाल अर्हंत और सर्वज्ञ के नाम से सुख्यात होकर आया है।' यह सुनते ही गौतमस्वामी खेद पाकर भिक्षा लेकर प्रभु के पास आये। फिर विधिपूर्वक पारणा करके योग्य अवसर पर गौतमस्वामी ने सभी लोगों के सामने स्वच्छ बुद्धि से प्रभु को पूछा कि 'हे स्वामी ! इस नगरी में लोग गोशाल को सर्वज्ञ कहकर बुलाते हैं। यह योग्य है या नहीं ?' प्रभु बोले कि "वह मंख और मंखली का पुत्र गोशाल है। वह कपटी अजिन होने पर भी अपनी आत्मा को जिन मानता है। हे गौतम ! मैंने ही उसे दीक्षा दी है। शिक्षा भी मैंने ही दी है और इसके बाद वह मिथ्यात्व

को पा गया है। वह सर्वज्ञ नहीं है।'' प्रभु के ऐसे वचन सुनकर नगरजन नगरी में चारोंओर चोक में और गलियों में परस्पर कहने लगे कि 'अहो भाई ! श्री वीरप्रभु अर्हंत यहां आये हैं। वे कहते हैं कि यह गोशाल तो मंखलीपुत्र है और वह स्वयं मिथ्या सर्वज्ञ मानता है।' ऐसी लोगों से खबर सुनकर गोशाल को काले सर्प की तरह अत्यंत कोप उत्पन्न हुआ, जिससे अपने परिवार सहित कुछ विपरीत करने के लिये तैयार हो गया। उस समय प्रभु के शिष्य और स्थविरों के अग्रणी आनंदमुनि छठ का पारणा करने के लिये नगरी में भिक्षा लेने आये। जिस हालाहला कुम्हार के घर गोशाल रहता था, वहां होकर आनंदमुनि नीकले, तो उन्हें गोशाल ने बुलाया और तिरस्कारपूर्वक इस प्रकार कहा कि ''अरे आनंद ! तेरा धर्माचार्य लोगों में अपना सत्कार कराने की इच्छा से सभा के बीच में मेरा अत्यंत तिरस्कार करता है और कहता है कि गोशाल तो मंखपुत्र है, अर्हंत तथा सर्वज्ञ नहीं है। लेकिन वह अभी शत्रु को दहन करने में समर्थ ऐसी मेरी तेजोलेश्या को नहीं जानता, लेकिन मैं उसे परिवारसहित भस्म कर दूंगा। सिर्फ तुजे ही अकेला छोड़ दूंगा। इसके लिये एक दृष्टांत सुन-

''पूर्व **क्षेमिला** नगरी में **अवसर, प्रसर, संवाद, कार** और **भलन** नाम के पांच वणिक रहते थे। वे एक बार कुछ किराने के गाड़े भरकर व्यापार करने के लिये निकले। मार्ग में जाते हुए वे किसी निर्जन अरण्य में घुसे। वहां वे पांच व्यक्ति मरुस्थर में गये हो त्यों तृषा से आक्रांत हो गये, जिससे वे महाटवी में घूमते हुए जल खोजने लगे। इतने में घूमते घूमते अवसर को पांच शिखरवाली एक बाँबी नजर आयी। उसने उन चारों मित्रों को वह दिखाई। फिर सब ने मिलकर उसमें से पूर्व का शिखर तोड़ा, उसमें से बहुत सारा जल निकला। उसका पान करके वे स्वस्थ बने। फिर प्रसर ने कहा कि 'इसका दक्षिण शिखर तोड़े तो उसमें से जरुर हमें कोई अन्य वस्तु मिलेगी।' तब अवसर ने कहा कि 'हमें वह खोदना योग्य नहीं है, क्योंकि उसमें से शायद सर्प निकलेगा तो क्या करेंगे ? क्योकि बाँबी सर्प का ही स्थान होता है।' वह सुनकर संवाद बोला कि 'आपके बोलने में बड़ा फर्क पड़ गया है, क्योंकि पहले तोड़े हुए शिखर में से सर्प निकला ही नहीं है, लेकिन जल निकला है।' अवसर ने दुबारा कहा कि 'वह तो दैवयोग से जल निकल गया।' तो कारक बोला कि 'इसी प्रकार शायद दैवयोग से इसमें से अन्य वस्तु भी निकलेगी।' इस प्रकार कहकर कारक वह खोदने लगा, तो 'यह करने में मेरा मत नहीं है।' ऐसा कहकर अवसर अपने गाड़े में बैठकर आगे चला। तब भलन बोला कि 'अवसर चला गया तो भले ही गया, उसके बिना भी हम इन शिखरों को खोदेंगे।' इस प्रकार सोचकर वे खोदने लगे। वह खोदते ही उसमें से तांबे के सिक्के बहुत निकले तो अवसर के सिवा चारों जन ने वह बांट लिये। फिर उन्होंने लोभ से तीसरा शिखर खोदा तो उसमें से चांदी निकली, तो उन्हों ने पहले के तांबे के सिक्के छोड़कर चांदी बांट ली। फिर चौथा शिखर खोदा तो उसमें से सुवर्ण निकला, तो लोभ से चांदी को छोड़कर सुवर्ण बाँट लिया। फिर उन्होंने सोचा कि 'इस पाँचवे शिखर में तो जरुर रत्न ही होंगे।' ऐसे विचार से उन लोभांध वणिकों ने उसे भी खोदा, क्योंकि 'लाभ से लोभ बढ़ता है।' लेकिन अत्यंत मथन किये हुए समुद्र में से अंत में कालकूट

निकला था त्यों उस शिखर को खोदते ही एक दृष्टिविष सर्प निकला। उस सर्प ने बाँबी पर चढ़कर सूर्य सामने देखकर विषदृष्टि से देखा तो तत्काल वृषभ (बैल) सहित चार गाड़े और चारों वणिकों का दहन हो गया। उस अवसर को निर्लोभी जानकर उनकी अधिष्ठाता देवी ने बैल और गाड़े सहित उसे तय किये हुए स्थानक पर पहुँचा दिया।''

हे आनंदमुनि ! इस प्रकार उन चार वणिकों की तरह मैं तेरे गुरु को जला डालूंगा और उस अवसर की तरह तुजे छोड़ दूंगा।'' इस प्रकार सुनकर भिक्षा समाप्त करके, आनंद मुनि प्रभु के पास आये और गोशाल ने कहा था वह सब कह सुनाया। फिर उसने शंकित होकर पूछा कि ''हे स्वामी ! गोशाल ने कहा कि 'मैं भस्म कर दूंगा' यह उसका उन्मत्त भाषण है या ऐसा करने में वह समर्थ है ?'' प्रभु बोले, 'वह अर्हंत के सिवा अन्य पर ऐसा करने में समर्थ है। और वह अनार्य बुद्धि से अर्हंत को मात्र पीडित कर सकता है, इसलिये आनंद तू जाकर गौतम वगैरह सब मुनियों को यह खबर दे कि जिससे उसके साथ कोई बोले नहीं। ऐसी प्रेरणा करने से तेरा भी हित होगा, क्योंकि धर्म मे विघ्न भी हमें पीडा देते हैं।' आनंद ने तुरंत ही सभी मुनियों के पास जाकर उस प्रकार कहा। इतने में गोशाल प्रभु के पास आया और इस प्रकार बोला कि ''अरे काश्यप ! तू 'यह गोशाल मंखलीपुत्र है और मेरा शिष्य है' इत्यादि लोगों के पास जो बोलता है वह तेरा मिथ्या भाषण है। क्योंकि जो तेरा शिष्य गोशाल था वह शुकल कुल का था, वह तो धर्मध्यान से मृत्यु पाकर देवगति में उत्पन्न हुआ है। उसका शरीर उपसर्ग और परिसह सहन करने में समर्थ जानकर मेरा शरीर छोड़कर मैं उसमे घुसा हूँ। मेरा नाम तो उदायमुनि है। इसलिये मुजे जाने बिना 'यह मंखलीपुत्र गोशाल मेरा शिष्य है' ऐसा क्यों कहता है ? तू मेरा कोई गुरु नहीं है।'' प्रभु बोले कि ''गोशाल ज्यों कोई अल्पबुद्धिवाला चोर पुलिस द्वारा पकड़ा जाय तब कोई खड्डे का या दुर्गवन का ढक्कन नहीं मिलने से वह उन, सन, रुई या घास से अपने शरीर को ढककर अपनी जात को गुप्त हो गई माने त्यों तू भी 'मैं गोशाल नहीं हूँ' ऐसा बोलकर तेरी जात को, ढकना चाहता है। लेकिन तू किसलिये असत्य बोलता है, तू वहीं है, दूसरा नहीं है।'' प्रभु के ऐसे वचन सुनकर गोशाल क्रोध करके बोला, ''अरे काश्यप ! आज तू भ्रष्ट हो जायेगा, नष्ट हो जायेगा, नाश पा जायेगा।'' ऐसे उसके वचन सुनकर प्रभु के शिष्य सर्वानुभूति मुनि प्रभु पर के अत्यंत राग से वह सहन नहीं कर सके। जिससे वे गोशाल के प्रति बोल उठे, ''अरे गोशाल ! इस गुरु ने तुजे दीक्षा दी है और उन्होंने ही शिक्षा दी है। फिर भी तू उनका क्यों निह्नव (अपलाप) करता है ? तू ही गोशाल है।'' वह सुनते ही कोपायमान होकर गोशाल ने दृष्टिविष सर्प दृष्टिरुपी ज्वाला छोडे त्यों उन सर्वानुभूति मुनि पर तेजोलेश्या छोड़ी। महाशय सर्वानुभूति गोशाल की तेजलेश्या से दग्ध होकर, शुभध्यान से मृत्यु पाकर सहस्रार देवलोक में देवता बने। अपनी लेश्या की शक्ति से गर्व पाया गोशाल फिर बार बार भगवंत की निर्भर्त्सना करने लगा। तो दूसरे सुनक्षत्र नाम के भक्तिमान शिष्य ने प्रभु की निंदा करनेवाले उस गोशाल को सर्वानुभूति की भाँति कइं शिक्षा के वचन कहे, जिससे गोशाल ने उन पर भी तेजोलेश्या छोड़ी तो उनका शरीर भी जलने लगा। तत्काल उन्होंने प्रभु को

प्रदक्षिणा करके दुबारा व्रत लेकर आलोचना - प्रतिक्रमण करके सभी मुनियों से क्षमा मांगी, क्षमा दी और मृत्यु पाकर अच्युत (बारहवें) कल्प में देवता बने।

गोशाल अपने को विजयी मानता हुआ प्रभु को कठोर वचनों से आक्रोश करने लगा। फिर भी एकांत दयालु प्रभु बोले कि 'अरे गोशाल ! मैंने तूजे दीक्षा और शिक्षा देकर श्रुत का भाजन किया, फिर भी तू मेरा ही अवर्णवाद बोलता है, तो तेरी बुद्धि क्यों फिर गई है ?' प्रभु के ऐसे वचन से अति कोप पाये गोशाल ने कुछ नज़दीक आकर प्रभु पर भी तेजोलेश्या छोड़ी, लेकिन वह तेजोलेश्या पर्वत पर महावायु की तरह प्रभु पर असमर्थ हुई और भक्ति से प्रभु की प्रदक्षिणा की। उस तेजोलेश्या से तट पर के घास में उत्पन्न हुए दावानल से नदी का जल ज्यों गरम हो जाय त्यों मात्र प्रभु के अंग में संताप उत्पन्न हुआ। इसके बाद इस दुष्ट ने अकार्य के लिए प्रेरित की ऐसे क्रोध से उस तेजोलेश्या ने वापस लौटकर छल से गोशाल के ही शरीर में प्रवेश किया। उससे अंदर दहन होने पर भी गोशाल धीठ होकर उद्धतपन से प्रभु को इस प्रकार कहा, 'अरे काश्यप ! मेरी तेजोलेश्या से इस समय तू बच गया है। फिर भी उससे हुए पित्तज्वर से पीडित होकर आज से छः महिने के अंत में तू छद्मस्थपने में ही मृत्यु पायेगा।' प्रभु बोले, ''अरे ! गोशाल ! तेरा यह आग्रह वृथा है। क्योंकि मैं तो अब भी दूसरे सोलह वर्ष केवली रुप में ही विहार करुंगा। लेकिन तू आज से सातवें दिन तेरी ही तेजोलेश्या से हुए पित्तज्वर से पीडित होकर मृत्यु पायेगा, इसमें थोड़ा सा भी संदेह नहीं है। फिर तेजोलेश्या से जिसका शरीर ग्लानि पा गया है ऐसा गोशाल विलाप करते हुए वहीं वायु से शालवृक्ष की तरह पृथ्वी पर गिर गया। उस समय गुरु की अवज्ञा से कोप पाये गौतम वगैरह मुनि मर्मभेदी वचनों से गोशाल को उच्च स्वर में कहने लगे कि ''अरे मूर्ख ! जो कोई अपने धर्माचार्य से प्रतिकूल होता है, उसकी ऐसी दशा ही होती है। अरे ! तूने तेरे धर्माचार्य पर छोडी हुई तेजोलेश्या कहां गई ? बहुत समय तक ज्यों तूजे बोलनेवाले उन दो महामुनियों की हत्या करनेवाले ऐसे तूज पर तो प्रभु ने कृपा की ही है लेकिन अब तू स्वंयमेव मृत्यु पायेगा। पहले यदि प्रभु ने शीतलेश्या द्वारा तेरी रक्षा न की होती तो तू वेशकाय (वैशायन) द्वारा छोड़ी हुई तेजोलेश्या से मर गया होता, वह याद कर।'' उनके ऐसे वचन सुनकर खड्डे में गिरे शेर की तरह असमर्थ बना गोशाल उनको कुछ भी नहीं कर सकता था, लेकिन क्रोध से उछलने लगा। फिर दीर्घ और उष्ण निःश्वास छोड़ते हुए दाढ और केश को खिंचते हुए पैर से पृथ्वी पर ताड़न करता हुआ और 'अरे ! मैं मारा गया' यूं बार बार बोलते हुए वह प्रभु की पर्षदा में से निकल गया और लोगों से चोर की भाँति तिरस्कार करवाते हुए वह मुश्किल से हालाहला कुम्हार की दुकान पर पहुँचा। उसके जाने के बाद प्रभु ने मुनियों को कहा, ''गोशाल ने जो तेजोलेश्या मेरा वध करने के लिये मुज पर छोडी थी, वह अपनी उग्र शक्ति से वत्स, अच्छ, कुत्स, मगध, मंग (मालव), वालव, कोशल, पाड, लाट, वज्रि, माली, मलय, वाधक, अंग, काशी और सह्यगिरि के उत्तरप्रदेश - इस प्रकार के सोलह देश को जलाने के लिये शक्तिमान थी। गोशाल ने तेजोलेश्या को अत्यंत उग्र तप द्वारा साधी थी।'' वह सुनकर गौतम वगैरह मुनि परम आश्चर्य पा गये कि ''अहो ! सत्पुरुष शत्रु

पर भी मात्सर्यभाव नहीं रखते।''

यहां अपनी तेजोलेश्या से जलते हुए गोशाल हाथ में मद्यपात्र लेकर मद्य (शराब) पीने लगा। फिर उससे मदोन्मत्त बनकर गोशाल गाने और नाचने लगा तथा हालाहला कुम्हार को बार बार हाथ जोड़कर नमन करने लगा। पात्रों (बर्तन) के लिये मसली हुई मृतिका को लेकर वह शरीर पर मलने लगा और घर की मोरी में लौट लौटकर बार बार घर की मोरी का जल पीने लगा तथा असंबद्ध विरुद्ध वचन ज्यों-त्यों बोलने लगा। शोक सहित शिष्यों द्वारा सेवित गोशाल इस प्रकार दिन व्यतीत करने लगा।

उस समय पुत्राल नाम का गोशाले का एक उपासक था। वह पूर्वरात्रि और अपररात्रि (पिछली) में धर्मजागरण करते हुए सोचने लगा कि 'तृणगोपालिका' का स्थान कैसा होगा ? मैं यह जानता नहीं हूँ। इसलिये मेरे सर्वज्ञ गुरु गोशाल के पास जाकर पूछुं। ऐसा विचार करके वह अमूल्य आभूषण धारण करके गोशाल के पास आया। वहां हालाहला कुम्हार की दुकान में गोशाल को उस प्रकार पड़ा हुआ उसने देखा। जल लेने जाते हुए गोशाल के स्थविर शिष्यों ने उसे आते हुए देखा तो तत्काल वे बोले, ''अरे पुत्राल ! आज पिछली रात्रि में तुजे तृणगोपालिका के संस्थान संबंधित संदेह हुआ है।'' यह सुनते ही पुत्राल आश्चर्य पाया और उस बात का उसने स्वीकार किया। फिर अपने गुरु के चेष्टित को छुपाने के लिये वे महर्षि दुबारा बोले, 'देख ! ये तुम्हारे गुरु जो गाते हैं, नाचते हैं, करपात्र द्वारा अंजलि जोड़ते हैं वे सब उनके निवार्ण के चिह्न दिखाते हैं। यह उनका सबसे आखिरी गान, नृत्य, अंजलि जोड़ना, पान और मृतिका का अंगराग वगैरह हैं। यह सब चौबीसवें तिर्थंकर के निवार्ण चिह्न हैं। अब उनके पास जाकर तेरा संदेह पूछ ले, क्योंकि वे तेरे सर्वज्ञ गुरु हैं।' इस प्रकार उनके कहने से वह पुत्राल गोशाल के पास जाने के लिये तत्पर हुआ तो उन महर्षियों ने पहले से ही गोशाल के पास जाकर उसका आगमन और उसका जो संशय था वह बता दिया तथा उन्होंने गोशाल से मद्यपात्र वगैरह अन्यत्र रखवाया और एक आसन पर बैठाया। इतने में पुत्राल भी वहां आया। वह आगे बैठा तो गोशाल ने उसे कहा कि 'तृणगोपालिका का संस्थान कैसा है यह तेरा संदेह है। यह सुन - बांस की जड़ समान तृणगोपालिका की आकृति जाननी।' इस प्रकार का उत्तर सुनकर वह पुत्राल हर्ष पाते हुए अपने स्थान पर गया।

एक बार गोशाल ने सावधान होकर अपने अवसान के समय को जानकर अपने शिष्यों को आदरपूर्वक बुलवाकर इस प्रकार कहा - ''हे शिष्यों ! मेरे मृत्यु पाने के बाद मेरे मृत शरीर को सुगंधित जल से स्नान कराकर सुगंधित विलेपन करना। फिर उसके उपर उत्कृष्ट वस्त्र लपेटना। फिर दिव्य आभूषणों से सजाकर उसे सहस्त्र पुरुषों द्वारा वाह्य ऐसी शिबीका में बैठाकर उत्सव सहित बाहर निकालना और उस समय 'यह गोशाल इस अवसर्पिणी के चौबीसवें तीर्थंकर मोक्ष पधारे हैं।' ऐसी उच्च स्वर में पूरे नगर में आघोषणा करवाना।'' उन्होंने ऐसा करना स्वीकारा। फिर पाँचवें दिन गोशाल का हृदय सचमुच शुद्ध बना, जिससे उसने अत्यंत पश्चात्ताप करना शुरु किया, ''अहो !

मैं कैसा पापी ! कैसा दुर्मति ! मैं मेरे धर्मगुरु श्रीवीरअर्हंतप्रभु की मन-वचन-काया से अत्यंत आशातना की। मैंने सर्व जगह मेरी आत्मा को मिथ्या सर्वज्ञ कहलवाया और सत्य समान दिखते मिथ्या उपदेश द्वारा सब लोगों को छला। अरे ! मुजे धिक्कार है। मैंने गुरु के दो उत्तम शिष्यों को तेजोलेश्या द्वारा जला डाला और अंत में मेरी आत्मा का दहन करने के लिये मैंने प्रभु पर भी तेजोलेश्या छोड़ी। मुजे धिक्कार है। अरे ! थोड़े दिन के लिये भी लम्बे काल तक नरकावास में निवास हो जाय ऐसा अकार्य मैंने किया। मैंने केवल मेरी आत्मा को ही नरक का अतिथि नहीं किया, लेकिन असतमार्ग के उपदेश से इन सब लोगों की आत्मा को भी नरक का अतिथि बनाया है। भवतु ! अब इतने से ही बहुत हुआ। अब तो ये लोग वापस सन्मार्ग पर चले।'' ऐसा विचार करके उसने अपने सभी शिष्यों को बुलाकर कहा कि ''हे शिष्यो ! सुनो - मैं अर्हंत नहीं हूँ और केवली भी नहीं हूँ। मैं तो मंखली का पुत्र और श्री वीरप्रभु का शिष्य गोशाल हूँ। आश्रय को ही भक्षण करनेवाली अग्नि की तरह मैं गुरु का अपराधी हुआ हूँ। मैंने इतने समय तक दंभ से मेरी आत्मा को और लोगों को ठगा है। मेरी अपनी तेजोलेश्या से ही दहन होते हुए मैं छद्मस्थपन में ही मृत्यु पाऊंगा। इसलिये मेरी मृत्यु के बाद मेरे मृत शरीर के चरण को रज्जू से बांधकर मुजे पूरे नगर में घसीटना। मरे हुए श्वान की तरह मुजे घसीटते हुए मेरे मुख पर थूंकना और पूरी नगरी में चौक, त्रिक, चौटे और गली-गली में ऐसी आघोषणा करवाना कि लोगों को दंभ से ठगनेवाला, मुनि का घात करनेवाला जिन नहीं ऐसा - छद्मस्थ दोष का भंडार, गुरु का द्रोही और गुरु का ही विनाश चाहनेवाला मंखली का पुत्र यह गोशाल है। वह जिन नहीं है। जिनेश्वर तो भगवान सर्वज्ञ करुणानिधान, हितोपदेष्टा श्री वीरप्रभु हैं। यह गोशाल वृथा मानी है।'' इस प्रकार करने के सोगंध देकर गोशाल अत्यंत व्यथा से पीडा पाते हुए मृत्यु पाया तो उसके शिष्यों ने लज्जा से उस कुम्हार की शाला के द्वार बंद करके सोगंधमुक्त होने के लिये अंदर श्रावस्तीनगरी चित्रित की। गोशाल के शब को उसमें से उसने कही हुई आघोषणापूर्वक घसीटा। फिर उन शिष्यों ने गोशाल के कलेवर को मकान के बाहर निकाला तो उसके उपासकों ने बड़ी समृद्धि से उसका अग्निसंस्कार महोत्सव किया।

श्री वीरप्रभु वहां से विहार करके **मेंढक** गाँव में आये। वहां **कोष्टक** नाम के चैत्य में समवसरे। वहां गौतम प्रभु ने पूछा कि 'स्वामी ! गोशाला किस गति को पाया ?' प्रभु बोले कि 'अच्युत देवलोक में गया।' गौतम ने दुबारा पूछा, 'महाराज ! ऐसा उन्मार्गी और अकार्य करनेवाला दुरात्मा गोशाल देवता क्यों बना ? इसमें मुजे बड़ा आश्चर्य लगता है।' तो प्रभु बोले, 'हे गौतम ! जो मृत्यु समय पर अपने दुष्ट कृत्य की निंदा करता है उसे देवपना दूर नहीं है। गोशाल ने भी इसी प्रकार किया था।' गौतम ने दुबारा पूछा, 'हे स्वामी ! उस अच्युत देवलोक में से च्यूत होकर वह कहां उत्पन्न होगा और कब सिद्धि को पायेगा ?' प्रभु बोले ''इस जंबुद्वीप के भरतक्षेत्र में पुंड्र देश में शतद्वार नाम का एक महान नगर है। उसमें संमुचि नाम के राजा की **भद्रा** नाम की रानी से गोशाल का जीव **महापद्म** नाम के पुत्र रुप में उत्पन्न होगा। वह बड़ा राजा बनेगा। पूर्णभद्र और माणिभद्र नाम के दो उत्तम यक्ष उसका सेनापतिपन करेंगे, जिससे प्रजा भाग्य के निधि समान उस राजा का

देवसेन ऐसा दूसरा नाम गुण अनुसार रखेंगी। इस अद्‌भुत तेजस्वी को चक्रवती की भाँति एक श्वेतवर्णी और चार दांतवाला दूसरा ऐरावत जैसा हस्ती प्राप्त होगा। उस पर आरुढ बने उस राजा को देखकर हर्ष पाये हुए लोग उसका विमलवाहन ऐसा तीसरा नाम भी रखेंगे। एक बार उसके पूर्वभव के अभ्यास से मुनि पर के द्वैष्य कर्म द्वारा मुनियों पर अति दुष्ट बुद्धि उत्पन्न होगी। किसी भी मुनि को देखकर या सुनते ही वह निंदा, ताडन (मारना), बंधन, तिरस्कार और आखिर में मार डालना वगैरह द्वारा उन्हें पीडा करने लगेगा। फिर नगर के लोग और सचिव उसे कहेंगे कि 'राजाओं को तो दुष्टों का निग्रह और साधुजन का पालन करना चाहिए। इसलिये हे स्वामी ! इन निरपराधी भिक्षुक और तपस्वी साधुओं की तो आप रक्षा कीजिए। और यदि रक्षा न कर सको तो भले ही, पर उनका निग्रह किसलिये करते हो ? कदापि कोई निरपराधी मुनि ताडन करने से कोप करेगा तो वह अपने तेज से आपको तथा आपके देश को भी जला डालेगा।' उनके इस प्रकार के वचन वह नहीं मानेगा। एक बार वह रथ में बैठकर उद्यान में क्रीडा करने जायेगा। वहां तीन ज्ञान के धारक और जिसे तेजोलेश्या सिद्ध हुई है ऐसे **सुमंगल** नाम के मुनि कायोत्सर्ग में रहकर आतापना करते हुए उसे नजर आयेंगे। तो साधु के दर्शन मात्र से ही विरुद्ध बना वह राजा बेकारण क्रोध करके रथ के अग्रभाग से उन मुनि को गिरा डालेगा। वे मुनि वापस खड़े होकर कायोत्सर्ग करेंगे। वापस वह राजा उन्हें दुबारा पृथ्वी पर गिरा डालेगा। फिर से मुनि कायोत्सर्ग धारण करेंगे। फिर अवधिज्ञान से देखकर उस राजा को इस प्रकार कहेंगे - "अरे मूढ ! तू देवसेन नहीं है और विमलवाहन भी नहीं है, लेकिन तू तो मंखलीपुत्र गोशाल है वह याद कर। उस भव में तूने तेरे धर्मगुरु आखिरी तीर्थंकर वीरप्रभु की अत्यंत आशातना की थी और उनके दो शिष्यों को मदोन्मत्त होकर जला डाला था, उन्होंने वह सब सहन किया था, लेकिन मैं सहन नहीं करुंगा। अब दुबारा कुछ करेगा तो अवश्य मैं तुजे पलभर में जला डालूंगा।" उसके ऐसे वचन से घी के सिंचन से अग्नि की तरह अधिक प्रदिप्त बना महापद्म तीसरी बार भी उस सुमंगल मुनि को गिरा डालेगा तो वे मुनि सात-आठ कदम उसके सामने भरकर तेजोलेश्या द्वारा उस महापद्म को रथ, घोड़े और सारथि सहित जला डालेगे। फिर उस कर्म की आलोचना करके चिरकाल व्रत पालकर अंत में एक मास का अनशन करके वे मुनि सर्वार्थसिद्धि विमान में जायेंगे। वहां तैतीस सागरोपम का आयुष्य पूर्ण करके वहां से च्यूत होकर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर दीक्षा लेकर मोक्ष पायेंगे। महापद्म दग्ध होकर सातवीं नरक में जायेगा। फिर क्रमशः सातों नरकों में दो-दो बार उत्पन्न होगा। फिर सभी तिर्यंच जातियों में बार बार उत्पन्न होगा और हरेक भव में शस्त्र से अथवा दाहपीडित होकर मृत्यु पायेगा। इस तरह अनंत काल तक दुःखदायी भवभ्रमण करके वह राजगृह नगर के बाहर वेश्या बनेगा। वहां सुख़पूर्वक सोती हुई उस वेश्या को उसके आभूषण में लुब्ध बना कोई कामी पुरुष मार डालेगा। दुबारा भी उसी नगर के अंदर वेश्या रुप में उत्पन्न होकर मृत्यु पायेगा। फिर विंध्यगिरि की तलहटी में स्थित **चोभल** नाम के गाँव में किसी ब्राह्मण की कन्या बनेगा। उसे कोई ब्राह्मण ब्याहेगा। वहां गर्भिणी होने पर श्वसुर गृह से मैके जाते हुए मार्ग में दावानल से दग्ध होते

हुए वह अग्निकुमार देवता में उत्पन्न होगा। वहां से वापस मनुष्य बनेगा। उस भव में दीक्षा लेगा, लेकिन साधुपन की विराधना करके वापस असुरकुमार में उत्पन्न होगा। इस प्रकार बार बार कइं मनुष्यभव पाकर हरेक जन्म में मुनिपने को विराधकर असुरकुमार वगैरह में उत्पन्न होगा।'' फिर वापस मनुष्य बनकर अतिचाररहित व्रत को पालने से सौधर्म देवलोक में देवता बनेगा। इस प्रकार सात जन्म तक मुनिपना पालकर प्रत्येक कल्प (देव) में उत्पन्न होकर अंत में सवार्थसिद्ध विमान में जायेगा। वहां से च्यूत होकर विदेहक्षेत्र में किसी धनाढ्य गृहस्थ का **दृढप्रतिज्ञ** नाम का बुद्धिमान पुत्र होगा। वह विरक्त होकर दीक्षा लेगा। उस भव में केवलज्ञान उत्पन्न होने से वह गोशाल के भव से लेकर अपने सभी भवों को जान लेगा कि जो गुरु की अवज्ञा और मुनिवध से दूषित हुए थे। अपने सर्वजन्मों की हकीकत वह अपने शिष्यों को कहेगा और अपने अनुभव से उन शिष्यों को बतायेगा कि सर्वथा गुरु की अवज्ञा वगैरह कुछ करना नहीं, क्योंकि ऐसा करने से उसका बुरा फल कइं जन्मों में भोगना पड़ता है।'' इस प्रकार अपने शिष्यों को बोध करके पृथ्वी पर विहार करके अंत में गोशाल का जीव कर्म का क्षय करके निर्वाण पद को पायेगा।''

गौतम ने फिर से पूछा कि 'भगवंत ! पूर्व के कौन से कर्म से वह गोशाल आपको प्रतिकूल बना ?' प्रभु बोले, ''इस जंबुद्वीप के भरत क्षेत्र में पिछली चौबीसी में उदाय नाम के एक तीर्थंकर हुए थे। उनकी मोक्षमहिमा करने के लिये सुर-असुर आये। उस समय नजदीक में रहनेवाले किसी मनुष्य को यह देखकर जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। उस महाशय ने प्रत्येकबुद्ध बनकर तत्काल दीक्षा ली। शासनदेवता ने उसे व्रतिका लिंग[1] अर्पण किया। लोगों से पूजे जाते वे महामुनि तीव्र तपस्या करने लगे। उसे देखकर किसी ईश्वर नाम के दुर्मति ने उनके पास आकर पूछा कि 'तुजे किसने दीक्षा दी ? तू कहां उत्पन्न हुआ है ? तेरा क्या कुल है ? और सूत्र तथा उसका अर्थ तूने किससे पाया है ?' वे प्रत्येकबुद्ध महामुनि ने उनके सब प्रश्नो के उत्तर दिये। वह सुनकर इश्वर ने सोचा कि 'यह साधु दंभ से प्रजा का भक्षण करता है। मैं मानता हूँ कि जैसा इसने कहा, वैसा ही जिनेश्वर भी कहेंगे। अथवा मोह रहित ऐसे प्रभु ऐसा नहीं कहेंगे इसलिये मैं उनके पास जाऊं और सर्व दुःख का नाश करनेवाली दीक्षा का अभिनंदन करुं (दीक्षा लूं)' ऐसा सोचकर वह जहां प्रभु थे वहां गया। लेकिन प्रभु निर्वाण पा गये होने से नजर नहीं आये, तो उसने गणधर से दीक्षा ली। कपि की तरह मंदबुद्धिवाले उसको मोहगर्भित वैराग्य उत्पन्न हुआ था। प्रभु मोक्ष पा गये होने से गणधर महाराज ने पर्षदा में बैठकर जैसा सूत्रार्थ श्री जिनेश्वर महाराज ने कहा था वैसा कह सुनाया। उसने कहा कि 'जो पृथ्वीकाय के एक जीव को भी हणे वह जिनेन्द्र के शासन में असंयत कहा जाता है।' वह सुनकर ईश्वर ने सोचा कि 'पृथ्वीकाय जीवों का तो सर्वत्र मर्दन होता है। उसका सर्वथा रक्षण करने या उसे देखने के लिये कौन समर्थ है ? यह वाक्य ही श्रद्धा करने योग्य नहीं है। केवल मुनि की लघुता के लिये ही है। ज्यों उन्मत बोले त्यों बोला हुआ यह वाक्य सुनने पर

१. मुनिवेश (ओंघो मुँहपत्ति वगैरह)

भी कौन इस प्रकार आचरण करता है ? यदि ऐसा कहना छोड़कर वे मध्यमपक्ष के साधुपन की बात कहे तो उनपर अवश्य सब लोग अनुरक्त होंगे।' इस प्रकार सोचकर फिर वह वापस सोचने लगा कि 'अरे रे ! मैं मारा गया। यदि मैं यह वाक्य न मानूं और इस प्रकार आचरण न करूं तो मैंने जिनेश्वर को भी माने न कहा जायेगा। क्योंकि यहीं सर्वज्ञ का वचन है। इसलिये मैंने अर्हंत के इस एक वचन को अन्यथा माना, जिससे उसका प्रायश्चित्त मुजे इसी समय लेना चाहिए।' इस प्रकार पश्चात्ताप करते हुए वह उस प्रत्येकबुद्ध महामुनि के पास गया। वहां भी धर्म के व्याख्यान में उसने सुना कि 'मुनि को मन, वचन, काया से पृथ्वीकाय वगैरह जीवों का समारंभ त्याग देना चाहिए।' यह सुनकर ईश्वर ने दुबारा सोचा कि 'इस तरह वह किस से पल सकेगा ? कौन पृथ्वीकाय आदि का त्रिधा (मन, वचन, काया) आरंभ नहीं करता। ये मुनि भी पृथ्वी पर बैठते हैं, आहार करते हैं और अग्निपक्व जल पीते हैं। ये कटुवादी तो अपने से भी न पल सके ऐसा बोलते हैं। इसलिये इससे तो वह गणधर अच्छा, यद्यपि उनकी वाणी तो विरुद्ध है, तब मुजे उन दोनों की कुछ जरुरत नहीं है। मैं स्वयं ही ऐसा धर्म कहूं कि जिसको लोग अविरक्तपन से सुखपूर्वक पाल सके।' ऐसा चिंतवन करते हुए उसके मस्तक पर बिजली गिरी, जिससे वह मृत्यु पाकर सातवीं नरक में नारकी बना। श्रुत जैनशासन और सम्यक्त्व के प्रत्यनिकपने से बांधे हुए तीव्र पाप द्वारा वहां चिरकाल दुःख भोगकर वह यहां समुद्र में मत्स्य बना। वहां से दुबारा वह सातवीं नरक में गया। वहां से निकलकर वह काकपक्षी बना। वहां से पहली नरक में गया। वहां से निकलकर दुष्ट तिर्यंच बना। फिर दुबारा पहली नरक में जाकर गधा बना। ऐसे छः जन्म करके मनुष्य बना। वहां से मृत्यु पाकर वनचर बना। इसके बाद बिल्ला बनकर नरक में गया। वहां से निकलकर कृमि से आकुल-व्याकुल कुष्ट व्याधिवाला कुम्हार बना। उस भव में पचास साल तक कृमि का भक्ष बनकर अंत में मृत्यु पाकर अकामनिर्जरा के योग से देवपने को प्राप्त हुआ। वहां से च्यूत होकर राजा बना। उस भव में मृत्यु पाकर वापस सातवीं नरक में गया। इस प्रकार मनुष्य, तिर्यंच और नरक गति में घूमकर वह गोशाल बना। पूर्वभव के अभ्यास से तथा दुष्ट वासना के आवेश से वह तीर्थंकर, धर्म और साधुओं का अत्यंत द्वेषी बना था।'' इस प्रकार के प्रभु के वचन सुनकर कईं लोग प्रतिबोध पाये। कुछ ने तो संसार से उद्वेग पाकर दीक्षा ली और कुछने श्रावकपना ग्रहण किया।

गोशाल ने छोडी हुई तेजोलेश्या से श्री वीरप्रभु को रक्तअतिसार और पित्तज्वर होने से शरीर में वे अतिकृश हो गये। फिर भी उन्होंने उसका कुछ भी औषध नहीं किया। प्रभु के शरीर में ऐसा उग्र व्याधि देखकर लोगों में ऐसा प्रवाह चला कि 'गोशाल की तेजोलेश्या से श्री वीरप्रभु छः माह में मृत्यु पा जायेंगे।' ऐसी बात सुनकर **सिंह** नाम का प्रभु का एक अनुरागी शिष्य एकांत में जाकर उच्च स्वर में रुदन करने लगा। 'ऐसी वाणी सुनकर किसे धीरज रहेगी ?' केवलज्ञान द्वारा वह बात जानकर वीरप्रभु ने उसे बुलाकर कहा कि 'अरे भद्र ! लोगों की बातें सुनकर तू किसलिये भय रखता है ? और हृदय में क्यों दुःख पाता है ? तीर्थंकर कदापि ऐसी आपत्ति से मृत्यु नहीं पाते। संगमक वगैरह के प्राणांत उपसर्ग क्या वृथा नहीं हुए ?' सिंहमुनि बोले कि ''हे भगवान ! यद्यपि आपका

कहना सत्य हैं फिर भी आपको ऐसी आपत्ति में जानकर सब लोग बड़ा परिताप पाते हैं। इसलिये हे स्वामी ! मेरे जैसे के मन की शांति के लिये आप औषध का सेवन कीजिए। आपको पीडित देखने के लिये मैं पलभर के लिये भी समर्थ नहीं हूँ।'' सिंहमुनि के इस प्रकार के अतिआग्रह से प्रभु बोले, ''**रेवती** नाम की एक श्रेष्ठी की स्त्री ने मेरे लिये कद्दू का कटाह (पाक) पकाया है। वह तू मत लेना और अपने घर के लिये उसने बिजौरे का कटाह पकाया है वह ले आ। तेरे आग्रह से मैं वह औषध रुप में ग्रहण करुंगा, जिससे तूजे धैर्य प्राप्ति होगी।'' प्रभु की ऐसी आज्ञा होने पर सिंहमुनि रेवती श्राविका के घर गये और उसके दिये हुए कल्पनीय औषध को सद्य ग्रहण किया। तत्काल हर्ष पाये हुए देवताओं ने उसके घर में सुवर्ण की वृष्टि की। सिंहमुनि द्वारा लाये हुए उत्तम प्रासुक औषध का सेवन करके संघरुपी चकोर पक्षी में पूर्णचंद्र समान श्री वीरप्रभु ने सद्य शरीर की स्वस्थता प्राप्त की।

इत्याचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि विरचिते त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरिते महाकाव्ये दशमपर्वणि ऋषभदत्त देवानंदा प्रवज्या, जमालि गोशालक विप्रतिपति विपत्ति भगवदारोग्यवर्णनो नाम अष्टमः सर्गः॥८॥

नौवाँ सर्ग

हालिक, प्रसन्नचंद्र, दर्दुरांकदेव, श्रेणिक का भावि तीर्थंकरत्व, साल-महासाल, गौतम का अष्टापद पर आरोहण, अम्बड तथा सुलसा का चरित्र

छद्मस्थावस्था में प्रभु जब जहाज में बैठकर नदी उतर रहे थे, उस समय **सुदंष्ट्र** नाम के जिस नागकुमार देव ने प्रभु को उपसर्ग किया था वह नागकुमार वहां से च्यूत होकर किसी गाँव में किसान बना था और वह कृषिकर्म से आजीविका चलाता था। एक बार वह हल से पृथ्वी जोतने में प्रर्वतित था कि श्री वीरप्रभु उस गाँव में पधारे। प्रभु ने उसे बोध करने के लिये गौतम को भेजा। गौतम ने उस किसान के पास आकर कहा, 'यह क्या करता है ?' वह बोला, 'मेरे भाग्य की प्रेरणा से यह खेती करता हूँ।' गौतम ने दुबारा कहा, 'ऐसी शुद्र आजीविका से जीते हुए तुजे क्या चिरकाल सुख होनेवाला है ? अरे भद्र ! केवल यह कष्ट तुजे इस जन्म में ही प्राप्त हुआ है ऐसा नहीं है। लेकिन इस खेती में होती बहुत जिवहिंसा से ऐसा कष्ट दूसरे जन्म में भी तुजे प्राप्त होगा। इस महाकठोर कर्म के कष्ट से एक लाखवें अंश का कष्ट भी यदि धर्मकार्य में किया जाय तो तत्काल सर्व कष्ट का अंत होता है।' गौतम स्वामी के ऐसे वचन सुनकर वह बोला, 'हे स्वामी ! आपने मुजे अच्छा बोध दिया। अब मैं संसार से उद्वेग पाया हूँ, इसलिये मुजे दीक्षा दीजिए।' फिर 'यह प्रतिबोध पाया है' ऐसा मानकर गौतम ने तुरंत ही उसे दीक्षा दी और श्री वीरप्रभु के चरण समीप जाने के लिये उसे ले चले। हालिक (किसान) मुनि ने उनको पूछा कि 'भगवन ! हमें कहां जाना है ?' गौतम बोले, 'हे साधु ! मेरे गुरु के पास जाना है।' हालिक मुनि बोला, 'आपके जैसा दूसरा कोई लगता नहीं है, फिर भी आपका भी कोई गुरु है तो वह कैसा होगा ?' गौतम ने कहा कि 'चौतीस अतिशय सहित विश्वगुरु सर्वज्ञ श्री चरम तीर्थंकर मेरे गुरु हैं।' यह सुनकर हालिक मुनि ने सर्वज्ञ प्रभु पर प्रीति होने से वहीं बोधिबीज उपार्जित किया और गौतम स्वामी के पीछे पीछे चला। प्रभु के पास जाकर प्रभु को देखते ही सिंह वगैरह पूर्वभव के प्रभु के साथ के बैर से उसे क्रोध उत्पन्न हुआ, जिससे उसने गौतम स्वामी को पूछा कि 'हे गुरु महाराज ! ये सामने बैठे हैं वे कोन हैं ?' गौतम बोले कि 'वे मेरे धर्माचार्य जिनेश्वर हैं।' हालिक ने कहा कि 'यदि वे आपके गुरु हैं तो मेरा तुम्हारे साथ भी कुछ काम नहीं है और तुम्हारी दीक्षा भी मुजे नहीं चाहिए।' ऐसा कहकर रजोहरण वगैरह छोड़कर तुरंत ही वह चला गया और अपने क्षेत्र में आकर वापस हल वगैरह ग्रहण किये।

गौतम ने प्रभु को नमन करके पूछा कि ''हे भगवन ! आपके जैसे समग्र लोक को आनंद उत्पन्न करनेवाले पुरुष पर भी इसे द्वेष उत्पन्न हुआ, यह देखकर मुजे आश्चर्य होता है। हे नाथ ! आपको देखते ही उसने स्वीकार किया हुआ चारित्र भी छोड़ दिया इसका क्या कारण ? और वह

पहले तो मेरे पर प्रीतिवाला था, लेकिन 'ये मेरे गुर हैं' ऐसा मैंने जब कहा तब वह मेरा भी द्वेषी हो गया, ऐसा क्यों ?'' प्रबु बोले, ''मैंने त्रिपृष्ट के भव में जिस शेर को मारा था उसका जीव यह किसान बना है। उस समय तू मेरा सारथि था, क्रोध से फडफडाते उस सिंह को तूने सामवचन से शांत किया था। तब से वह मेरे पर द्वेषी और तेरे पर स्नेही बना था। इसलिये उसे बोध करवाने के लिये मैंने तुजे भेजा था।'' इस प्रकार कहकर भगवंत ने वहां से विहार किया।

प्रभु क्रमशः **पोतनपुर** पधारे। वहां नगर के बाहर मनोरम नाम के उद्यान में समवसरे। पोतनपति **प्रसन्नचंद्र** राजा तत्काल प्रभु की वंदना के लिये आया और मोह को नाश करनेवाली प्रभु की देशना उसने सुनी। प्रभु की देशना से प्रसन्नचंद्र राजा संसार से उद्वेग पाया और अपने बालकुमार को राज्य पर बिठाकर उसने तत्काल व्रत ग्रहण किया। प्रभु के साथ विहार करते हुए और उग्र तपस्या करते हुए वह प्रसन्नचंद्र राजर्षि क्रमशः सूत्रार्थ के पारगामी बने। एक बार प्रसन्नचंद्र और अन्य मुनियों के साथ प्रभु **राजगृह** नगर पधारे। प्रभु के दर्शन करने में उत्कंठित ऐसा श्रेणिक राजा पुत्रो एवं परिवार सहित हाथी, घोडों की श्रेणी द्वारा पृथ्वी को शोभित करते हुए प्रभु के पास आने के लिये निकला। उसकी सेना में आगे चलनेवाले सुमुख और दुर्मुख नाम के दो मिथ्यादृष्टि सैनिक थे। वे परस्पर विविध बातें करते चले आ रहे थे। मार्ग में आते हुए प्रसन्नचंद्र मुनि एक पैर से खडे रहकर ऊंचे हाथ करके आतापना करते हुए उन्हें नजर आये। वह देखकर सुमुख बोला कि ''अहो ! ऐसी आतापना करनेवाले इन मुनि को स्वर्ग या मोक्ष जरा सा भी दुर्लभ नहीं है।'' यह सुनकर कर्म से और नाम से भी दुर्मुख बोला कि ''अरे ! यह तो पोतननगर का राजा प्रसन्नचंद्र है। बड़े गाड़े में ज्यों छोटे बछडे को जोडे त्यों जिसने अपने बालकुमार के पर अपने बड़े राज्य का बोझा रखा है वह कैसा धर्मी ? इसके सचिव चंपानगरी के राजा दधिवाहन के साथ मिलकर उसके राजकुमार को राज्य पर से भ्रष्ट करेंगे। इसने तो राज्य पर उलटे ही अधर्म किया है, क्योंकि इसकी पत्नियां भी कही चली गयी हैं, जिससे यह पाखंडी दर्शन को धारण करनेवाला प्रसन्नचंद्र हमें देखना भी योग्य नहीं है।'' इस प्रकार ध्यानरुपी पर्वत पर वज्र जैसा उनका वचन सुनकर राजर्षि प्रसन्नचंद्र तत्काल इस प्रकार सोचने लगा कि ''अहो ! मैरे अकृतज्ञ सचिवों को धिक्कार है। मैंने उनका आज तक निरंतर सत्कार किया है। फिर भी उन्हों ने इस समय मेरे पुत्र के साथ भेद किया। यदि इस समय में वहां होता तो उनको बड़ी कड़ी शिक्षा देता।'' ऐसे संकल्प-विकल्प से अप्रसन्न बना प्रसन्नचंद्र राजर्षि अपना ग्रहण किया हुआ व्रत भी भूल गया। फिर अपने को राजारुप मानते हुए प्रसन्नचंद्र मन में ही उन सचिवों के साथ युद्ध करने लगा। इतने में श्रेणिक राजा उनके पास आया और उसने उनको विनयपूर्वक वंदना की। फिर 'अहो ! इस समय ये प्रसन्नचंद्र मुनि पूर्ण ध्यानावस्था मे हैं' ऐसा सौचकर श्रेणिक राजा महावीर प्रभु के पास आया और प्रभु को नमन करके इस प्रकार पूछा- 'हे स्वामी ! मैंने प्रसन्नचंद्र मुनि को पूर्ण ध्यानावस्था में वंदना की। उस स्थिति में कदापि वह मृत्यु पा जाय तो कौनसी गति में जायेंगे ?' प्रभु बोले कि 'सातवीं नरक में जायेंगे।' यह सुनकर श्रेणिक राजा सोच में पड़ा कि 'साधु को नरकगमन नहीं

होता, इसलिये प्रभु का कहा हुआ मुज को बराबर सुनाई नहीं दिया होगा।' थोडी देर बाद श्रेणिक ने दुबारा पूछा कि 'हे भगवन् ! प्रसन्नचंद्र मुनि यदि इस समय काल कर जाय तो कहां जायेंगे ?' भगवंत ने कहा कि 'सर्वार्थसिद्ध विमान में जायेंगे।' श्रेणिक ने पूछा कि 'भगवंत ! आपने क्षण के अंतर में दो अलग अलग बात क्यों बतायी ?' प्रभु बोले कि ''ध्यान के भेद से उन मुनि की स्थिति दो प्रकार की हुई है इसलिये मैंने ऐसा कहा है। प्रथम दुर्मुख की वाणी से प्रसन्नचंद्र मुनि कोप पाये थे और अपने सामंत, सचिव वगैरह के साथ मन में क्रोध से युद्ध कर रहे थे। उस समय आपने उनकी वंदना की थी, वह समय नरक के योग्य था। वहां से तुम्हारे यहां आने पर उसने मन में सोचा कि 'अब मेरे आयुध तो सब घट गये। इसलिये अब तो मैं सिरस्त्राण (मुगट) से शत्रु को मार डालूं।' ऐसा मानकर उसने अपना हाथ सिर पर रखा। वहां तो सिर को लोच किया हुआ जानकर उनको अपना व्रत स्मरण हो आया, जिससे तत्काल 'मुजे धिक्कार है। मैंने यह क्या अकार्य सोचा !' ऐसा वह अपनी आत्मा को निंदने लगे और उसकी आलोचना-प्रतिक्रमणा करके वापस प्रशस्त ध्यान में स्थित हुए, जिससे तुम्हारे दूसरे प्रश्न समय वे सर्वार्थसिद्धि के योग्य हो गये।'' इस प्रकार बात चल रही थी कि प्रसन्नचंद्र मुनि के समीप देवदुंदुभी वगैरह का बड़ा कलकल शब्द होता सुनाई दिया। वह सुनकर श्रेणिक ने प्रभु को पूछा, 'स्वामी ! यह क्या हुआ ?' प्रभु बोले कि 'ध्यान में स्थिर बने प्रसन्नचंद्र मुनि को अभी अभी केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है। और देवता उनके केवलज्ञान की महिमा कर रहे हैं, इसलिये दुदुंभी के नादमिश्रित यह हर्षनाद हो रहा है।'

फिर श्रेणिक ने पूछा कि 'भगवंत ! केवलज्ञान कब उच्छेद पायेगा ?' उस समय महाकांतिवाला विद्युन्माली नाम का ब्रह्मलोक के इन्द्र का सामानिक देव अपनी चार देवियों के साथ प्रभु को नमन करने आया। उसे दिखाकर प्रभु बोले कि 'इस पुरुष से केवलज्ञान उच्छेद पायेगा, अर्थात यह अंतिम केवलज्ञान पायेगा।' तो श्रेणिक ने पूछा कि 'क्या देवों को भी केवलज्ञान होता है ?' प्रभु बोले, 'यह देव आज से सातवें दिन च्यूत होकर आपके नगर के निवासी धनाढ्य ऋषभदत्त का पुत्र बनेगा और फिर मेरे शिष्य सुधर्मा का जंबू नाम का शिष्य बनेगा। उसे केवलज्ञान होने के बाद फिर अन्य कोई केवलज्ञान उपार्जित करेगा नहीं।' श्रेणिक ने पूछा, 'हे नाथ ! इस देव को च्यूत होने का समय नज़दीक हैं, फिर भी इस देव का तेज मंद क्यो नहीं हुआ है ? क्योंकि अंतकाल में देव का तेज मंद होता है।' प्रभु बोले, 'इस समय तो इस देव का तेज मंद है। पूर्व के पुण्य से पहले इससे भी उत्कृष्ट तेज था।' इस प्रकार प्रश्नोत्तर होने के बाद प्रभु ने सर्वभाषानुसारी वाणी द्वारा पाप को नाश करनेवाली धर्मदेशना दी।

इतने में कुष्ट रोग से जिसकी काया गल गयी है ऐसा कोई पुरुष वहां आया और उसने प्रभु को प्रणाम करके पागल श्वान की तरह प्रभु के पास जमीन पर बैठा। फिर चन्दन की तरह अपने मवाद से उसने प्रभु के चरण को बार बार निःसंदेहतापूर्वक चर्चित करने लगा। यह देखकर श्रेणिक राजा क्रोधायमान होते हुए सोचने लगे कि 'यह महापापी जगतस्वामी को ऐसी महाआशातना करता है जिससे वह यहां से उठे तब जरुर वध करने योग्य है।' इतने में प्रभु को छींक आयी तो वह कुष्टि

बोला, 'मृत्यु पाओ।' फिर राजा श्रेणिक को छींक आयी तो वह बोला कि 'बहुत जीओ।' थोड़ी देर के बाद अभयकुमार को छींक आयी तो वह बोला कि 'जीओ या मरो।' फिर कालसौकरीक को छींक आयी तो वह बोला कि 'जी नहीं और मर भी नहीं।' प्रभु के लिये 'मृत्यु पाओ।' ऐसा कहा हुआ वचन सुनकर क्रोध पाये श्रेणिक राजा ने अपने सुभटों को आज्ञा दी कि जब यह कुष्टि यहां से उठे तब उसे पक़ड लेना। देशना समाप्त हुई तो वह कुष्टि प्रभु को नमन करके उठा। उस समय किरात (भील) लोग ज्यों सुअर को घेर ले त्यों श्रेणिक के सुभटों ने उसे घेर लिया। लेकिन उनकी नजरों के सामने ही पलभर में वह दिव्य रुप धारण करके सूर्य के बिंब को भी निस्तेज करते हुए आकाश में उड गया। सुभटों ने वह बात श्रेणिक राजा को बतायी तो राजा ने चकित होकर प्रभु को विज्ञप्ति दी की 'हे प्रभु ! वह कुष्टि कौन था ?' प्रभु बोले कि 'वह देव था।' राजा ने दुबारा सर्वज्ञ को पूछा कि 'तो वह कुष्टि किसलिये बना था ?' प्रभु ने कहा कि ''उसकी कहानी इस प्रकार है-

''इस विश्व में सुख्यात ऐसी कोशांबी नाम की नगरी में शतानिक नाम का राजा राज्य करता था। उस नगरी में **सेडूक** नाम का एक ब्राह्मण रहता था। वह सदैव के दरिद्रीपने की सीमा और मूर्खपने का अवधि था। एक बार उसकी स्त्री गर्भवती बनी। जिससे उस ब्राह्मणी ने सेडूक को कहा कि 'भटजी ! मेरी प्रसूति के लिये घी ले आईये। इसके सिवा मुज से व्यथा सहन नहीं होगी।' वह बोला, 'प्रिया ! मुजमें ऐसी कुछ भी कुशलता या कला नहीं है कि जिससे मुजे कुछ भी प्राप्त हो। क्योंकि धनाढ्य पुरुष कला से ही ग्राह्य (आधीन) होते हैं।' वह बोली, 'जाओ ! किसी राजा के पास याचना करो। पृथ्वी पर राजा जैसा अन्य कल्पवृक्ष नहीं है।' वह बात कबूल करके सेडूक उस दिन से पुष्प-फल वगैरह से रत्नेच्छु ज्यों सागर का सेवन करे त्यो राजा का सेवन करने लगा। एक बार चंपानगरी के राजा ने वर्षाऋतु ज्यों बादलों से आकाश को घेरे त्यों अमित सैन्य से कोशांबी को घेर लिया। शतानिक राजा बिल में रहे सर्प की भाँति सैन्य सहित कोशांबी के अंदर समय की राह देखते हुए दरवाजे बंद करवाकर रहा। कुछ काल के बाद चंपापति अपना सैन्य बहुत कष्ट पाता होने से और कुछ मृत्यु पा जाने से वर्षाऋतु में राजहंस की भाँति अपने नगर की ओर जाने चला। उस समय वह सेडूक ब्राह्मण पुष्प आदि लेने के लिये उद्यान में जा रहा था। उसे वह नजर आया। सैन्य क्षीण हो जाने से प्रभात में निस्तेज बने नक्षत्र युक्त चंद्र की तरह उसे निस्तेज हुआ देखकर वह तत्काल शतानिक राजा के पास आया और कहा कि ''दाढ तूटे हुए सर्प की तरह आपका शत्रु क्षीण बलवाला बनकर अपने नगर की ओर जा रहा है। इसलिये यदि आप इसी समय उठकर उसका पीछा करोगे तो वह सुख से (स्वाधीन) किया जा सकेगा। क्योंकि भग्न बने पुरुष बलवान हो तो भी उसका पराभव किया जा सकता है।'' उसके वचन को युक्त मानकर शतानिक राजा तत्काल सर्व बलवान और बाण की वृष्टि करनेवाले प्रधान सैन्य के साथ दारुण होकर नगर के बाहर निकला। उसे पीछे आता देखकर चंपापति के सैनिक पीछे देखे बिना भागने लगे। 'अचानक गिरती बिजली के सामने कौन देख सकेगा ?' चंपापति तो अकेला ही 'किस दिशा में जाना ?' ऐसा भय पाकर पलायन कर गया। कोशांबीपति ने उसके हाथी, घोडे और भंडार वगैरह ले लिया। फिर बड़े

मनवाला शतानिक राजा हर्ष पाते हुए कोशांबी में वापस आया और उस सेडूक विप्र को बुलाकर कहा कि 'बता, तूजे मैं क्या दू ?' विप्र बोला, 'मेरी स्त्री को पूछने के बाद मांग लूंगा।' ''गृहस्थों को गृहिणी के सिवा विचार करने का अन्य स्थान नहीं है।'' भट्टजी खुश होते हुए घर आये और ब्राह्मणी को पूरी बात कह सुनायी। बुद्धिशाली ब्राह्मणी ने मन में सोचा कि 'यदि मैं राजा से गाँव या जागीर मँगवाऊंगी तो वैभव के मद से यह ब्राह्मण जरुर दूसरी स्त्री ब्याहेगा।' ऐसा विचार करके वह बोली, ''हे नाथ ! आप प्रतिदिन खाने के लिये भोजन और दक्षिणा में एक सुवर्णमुद्रा राजा से माँग लेना।'' इस प्रकार उसने अपने पति को समजाया तो उसने जाकर राजा से उस अनुसार ही माँग लिया। राजा ने वह दिया। ''गागर (घड़ा) समुद्र में जाये तो भी अपनी योग्यता के जितना ही जल पाती है।'' अब प्रतिदिन वह सेडूक ब्राह्मण उतना लाभ तथा सन्मान पाने लगा। 'पुरुषों को राजा की कृपा महार्धपन की वृद्धि करती है।' 'यह राजा का चहीता है' ऐसा मानकर लोग नित्य उसे आमंत्रित करते थे। ''जिसके पर राजा प्रसन्न हो जाय उसका सेवक कौन नहीं बनेगा ?'' इस प्रकार एक से अधिक आमंत्रण आने पर वह पहले खाया हो तो भी दक्षिणा के लोभ से प्रतिदिन पहले खाया हुआ वमन कर डालता और वापस अनेक बार भोजन करता था। ''ब्राह्मणों के लोभ को धिक्कार है।'' विविध दक्षिणा के द्रव्य से वह ब्राह्मण द्रव्य द्वारा वृद्धि पा गया और डाढ़ से बड के वृक्ष की तरह पुत्र-पौत्रादिक के परिवार से भी वृद्धि पाया। लेकिन नित्य अजीर्ण अन्न के वमन से आम (अपक्व रस) वृद्धि पाते ही उसकी त्वचा दूषित हो गयी, जिससे वह लाख से पीपल के वृक्ष समान व्याधिग्रस्त हो गया। क्रमशः उसका नाक, चरण और हाथ सड गये और वह कुष्टि हो गया। फिर भी अग्नि की तरह अतृप्त होकर वह राजा के समक्ष जाकर हररोज भोजन करता था। एक बार सचिवों ने राजा को कहा कि ''हे देव ! इस कुष्टि का रोग संपर्क से फैलेगा इसलिये अब उसे भोजन कराना योग्य नहीं है। उसके कइं पुत्र निरोगी हैं, उसमें से किसी एक को उसकी ओर से खिलाओ। क्योंकि जब कोई प्रतिमा खंडित होती है तब उसकी जगह दूसरी प्रतिमा स्थापित की जाती है।'' राजा ने ऐसा करना स्वीकारा, तो सचिवों ने उस ब्राह्मण को वैसा कहा। उसने भी अपने स्थान पर अपने पुत्र को स्थापित किया और स्वयं घर रहा। मधुछत्ते की तरह शुद्र मक्षिकाओं की जाल से भरपूर ऐसे उस ब्राह्मण को उसके पुत्रों ने भी घर के बाहर एक कुटिया बांधकर उसमें रखा। उसकी पुत्रवधुएं जुगुप्सापूर्वक उसे खिला जाती थी और नासिका बंद करके ग्रीवा टेढी करके थूंकती थी। घर के बाहर रखे हुए उस ब्राह्मण की आज्ञा उसके पुत्र भी मानते नहीं थे। सिर्फ श्वान की तरह उसे एक काष्ट के पात्र में भोजन देते थे। एक बार उस ब्राह्मण ने सोचा कि 'मैंने इन पुत्रों को श्रीमंत बनवाया, तो अब समुद्र तैरकर जहाज को छोड़ दे त्यों उन्होंने मुजे छोड़ दिया है। वे वाणी से भी मुजे बुलाते नहीं हैं, उलटे मुज पर ही क्रोध करते हैं।' इस प्रकार सोचकर असंतोषी अभव्य की तरह वह कुष्टि रोष पाया तो उसने निश्चय किया कि 'ज्यों ये पुत्र मेरी जुगुप्सा (नफरत) करते हैं त्यों वे भी जुगुप्सा करने योग्य बन जाय ऐसा मैं करुंगा।' फिर उसने अपने पुत्रों को कहा कि 'हे पुत्रों ! अब मैं जीवन से उद्वेग पा गया हूँ लेकिन हमारे कुल का ऐसा रिवाज है कि

जो मरना चाहे उसे अपने कुटुंब को एक मंत्रिष्ठ पशु देना चाहिए, इसलिये मुजे एक पशु ला दो।' ऐसा उसका वचन सुनकर पशु जैसे मंदबुद्धिवाले पुत्रों ने हर्ष से एक पशु उसे ला दिया। फिर उसने अपने अंग पर से मवाद ले ले कर उसके साथ अन्न मिलाकर उस पशु को खिलाया जिससे वह पशु भी कुष्टि हो गया। फिर उस विप्र ने उस पशु को मारकर अपने पुत्रों को खाने दिया। वे मुग्ध अज्ञानी पुत्र उसका आशय जाने बिना ही उसे खा गये। फिर 'अब मैं तीर्थ जाऊंगा' ऐसा कहकर पुत्रों से अनुमति लेकर वह ब्राह्मण अरण्य की शरण मानकर वहां से चल निकला। मार्ग में अत्यंत तृषातुर होने से उस अटवी में जल ढूंढते हुए वह भटकने लगा। इतने में विविध वृक्षवाले किसी प्रदेश में मित्र समान एक जल का स्रोत उसे दिखाई दिया।

तट पर के वृक्षों से गिरते अनेक प्रकार के पत्र-पुष्प और फलों से व्याप्त दिन के सूर्य की किरणों से उबले हुए उसके जल को उसने दवा की तरह पीना शुरु किया। ज्यों ज्यों उसने तृषातुरपने से उसका जल पीया त्यों त्यों कृमियों के साथ उसे जुलाब लगने लगा। इस प्रकार उस स्रोत का जल पीते हुए कुछ दिनों में वह बिलकुल निरोगी हो गया और वसंत ऋतु में वृक्ष की तरह उसके सर्व अंग वापस प्रफूल्लित हो गये। आरोग्य आ जाने से हर्ष पाकर वह विप्र अपने घर की ओर वापस लौटा। "पुरुषों को शरीर की आरोग्यता प्राप्त होने पर जन्मभूमि शृगांररुप बनती है।" केंचुली से मुक्त बने सर्प की तरह दैदिप्यमान शरीरवाले उसको नगरजनों ने चकित होकर नगरी में प्रवेश करते हुए देखा। नगरजन उसे ऐसे आरोग्यवाला देखकर पूछते कि 'अरे ! तू मानो दुबारा जन्मा हो त्यों ऐसा अच्छा किस प्रकार हुआ ?' तब वह कहता कि 'देवता के आराधन से।' क्रमशः वह अपने घर गया। वहां उसने अपने सभी पुत्रों को कुष्टि बना देखा। तो हर्ष पाकर वह बोला कि 'तुमको मेरी अवज्ञा का फल कितना अच्छा मिला है ?' यह सुनकर पुत्र बोले, 'अरे निर्दय पिता ! आपने द्वेषी की भाँति हमारे जैसे विश्वासी पर यह क्या किया ?' यह बात सुनकर लोग भी उसके पर बहुत आक्रोश करने लगे, जिससे वह वहां से भागकर हे राजन ! तेरे नगर में आकर निराश्रयपूर्वक आजीविका के लिये घूमते हुए तेरे द्वारपाल के आश्रय में आकर रहा। इतने में हमारा यहां आना हुआ, तो द्वारपाल अपने कार्य पर उस ब्राह्मण को जोड़कर हमारी धर्मदेशना सुनने आया। वह विप्र दरवाजे पर बैठा। वहां दुर्गदेवी के समक्ष बलिदान रखा हुआ देखकर अत्यंत क्षुधा से कष्ट पाते हुए उसने मानो जन्म में भी न देखा हो त्यों बहुत खाया। फिर कण्ठ तक अन्न को भरने के दोष से ग्रीष्म ऋतु की गरमी से उसे बड़ी तृषा लगी, जिससे मरुभूमि के पथिक की तरह वह आकुल-व्याकुल हो गया। परंतु उस द्वारपाल के भय से वह द्वार का स्थान छोड़कर कहीं भी प्याऊ वगैरह में पानी पीने के लिये नहीं जा सका। उस समय वह जलचर जीवों को सचमुच धन्य मानने लगा। अंत में पानी-पानी पुकारते हुए वह ब्राह्मण तृषातुरपन से मृत्युपाकर इस नगर के द्वार समीप वापिका में मैंढक बना। हम विहार करते करते वापस लौटकर इस नगर में आये। लोग संभ्रम से हमें वंदना करने के लिये आने लगे। उस समय उस वापिका में से जल भरती स्त्रियों के मुख से हमारे आगमन का वृत्तांत सुनकर उस वापिका में रहा हुआ वह मैंढक सोचने लगा कि 'मैंने

ऐसा पहले भी सुना है।' बार बार इसका चिंतन करते हुए स्वप्न के शरण की तरह उसे तत्काल जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ। तो उस दर्दुर ने सोचा कि 'पहले द्वार पर मुजे छोड़कर द्वारपाल जिसकी वंदना के लिये गया था वे ही भगवंत जरुर यहां आये होंगे। उनकी वंदना के लिये ज्यों लोग जाते हैं त्यों मैं भी जाऊं, क्योंकि गंगानदी सबको समान है, किसी के बाप की नहीं है।' ऐसा मानकर वह दर्दुर हमारी वंदना के लिये वापिका के बहार उछलकर निकला। वहां से यहां आते हुए मार्ग में तेरे घोडे की खुर से दबकर मृत्यु पा गया, परंतु हमारी और के भक्तिभाव सहित मृत्यु पाने से वह दर्दुरांक नाम का देवता बना। ''अनुष्ठान बिना भी भावना फलती है।''

आज ही इन्द्र ने सभा में कहा, 'श्रेणिक जैसा श्रद्धालु कोई श्रावक नहीं है। उस वचन पर श्रद्धा न बैठने से दर्दुरांक देव आपकी परीक्षा लेने के लिये यहां आया था। उसने गोशिर्श चंदन द्वारा मेरे चरण को चर्चित किये थे, लेकिन तुम्हारी दृष्टि के मोह से तूम्हे सब अलग दिखाई दिया था।' श्रेणिक ने पूछा कि 'हे नाथ ! आपने छींक खाई उस समय वह अमांगलिक बोला और अन्य छिंको के लिये मांगलिक बोला उसका क्या कारण ?' प्रभु बोले, 'आप अब तक इस संसार में क्यों रहे हो ? शीघ्र ही मोक्ष में जाओ ऐसा मानकर उसने मुजे कहा कि 'मृत्यु पाओ।' हे नरकेसरी राजा ! तूजे कहा कि 'जिओ।' उसका आशय ऐसा है कि तुम्हें जीवन में ही सुख है, क्योंकि मृत्यु के बाद तेरी गति नरक में होनेवाली है, और अभयकुमार को कहा कि 'जीओ या मरो' अर्थात्, यदि जीवित रहेगा तो धर्म करेगा और मृत्यु के बाद अनुत्तर विमान में जायेगा। कालसौकरिक को कहा कि 'तू जी भी नहीं और मर भी नहीं' क्योंकि वह यदि जीयेगा तो पापकर्म करेगा और मरेगा तो सातवीं नरक में जायेगा, इसलिये ऐसा कहा था। इस प्रकार की स्पष्टता सुनकर श्रेणिक ने भगवंत को नमन करके कहा, 'हे प्रभु ! आपके जैसे जगत्पति मेरे स्वामी होने पर भी मेरी गति नरक में क्यों होगी ?' प्रभु बोले, 'हे राजन् ! तूने पहले नरक का आयुष्य बांधा है इसलिये तू अवश्य नरक में जायेगा। क्योंकि पहले शुभ या अशुभ जैसे कर्म बांधे हो वैसा फल अवश्य भोगना पड़ता है। हम भी उसे नाश करने के लिये समर्थ नहीं हैं। फिर भी भावि चौबीसी में तू **पद्मनाभ** नाम का प्रथम तीर्थंकर बनेगा। इसलिये हे राजन् ! तू थोड़ा सा भी वृथा खेद मत करना।' श्रेणिक बोला, 'हे नाथ ! कोई ऐसा उपाय है कि जिससे अंधकूप में से अंधे की तरह नरक में से मेरी रक्षा हो ?' प्रभु बोले, 'हे राजन् ! कपिला ब्राह्मणी से यदि साधुओं को हर्षपूर्वक भिक्षा दिलाया और यदि कालसोकरिक के पास जाकर कसाई का काम छुडा दे तो तेरा नरक से मोक्ष हो जायेगा। इसके सिवा हो सके ऐसा नहीं है।' इस प्रकार हार की तरह प्रभु का उपदेश हृदय में धारण करके श्रेणिक राजा प्रभु को नमन करके अपने स्थान की ओर चला।

उस समय उस दर्दुरांक देव ने श्रेणिक राजा की परीक्षा करने के लिये मच्छीमार की तरह अकार्य करते हुए एक साधु को दिखाया। वह देखकर 'जैन प्रवचन की मलिनता न हो' ऐसा मानकर उस साधु को वैसे अकार्य से निवारकर वह स्वगृह की ओर चला। आगे चलते हुए एक साध्वी को गर्भवती दिखाया। शासनभक्त राजा ने उसे अपने घर में गुप्त रखा। श्रेणिक का ऐसा श्रद्धायुक्त

कार्य देखकर वह दर्दुरांक देव प्रसन्न बना और प्रत्यक्ष होकर बोला, "हे राजन् ! शाबाश है। अपने स्थान से पर्वत की तरह आपको सम्यक्त्व से चलित कर सके ऐसा कोई नहीं है। हे नरवर ! इन्द्र ने अपनी सभा में जैसी आपकी प्रशंसा की थी वैसे ही आप नजर आये हो। ऐसे पुरुष मिथ्या वचन नहीं कहते।" इस प्रकार कहकर उसने दिन को नक्षत्रों की श्रेणी रची हो ऐसा एक सुंदर हार तथा दो गोले श्रेणिक राजा को दिये और कहा कि 'जो इस तूटे हुए हार को जोड़ देगा वह मृत्यु पा जायेगा।' इस प्रकार कहकर वह देव स्वप्नदृष्ट की भाँति तत्काल अंतर्धान (अपोल) हो गया। श्रेणिक ने हर्ष से वह दिव्य मनोहर हार चेल्लणा को दिया और दो गोले नंदादेवी को दिये। वह देखकर 'मैं एसे तुच्छ दान के योग्य बनी' ऐसी ईर्ष्या से मनस्वी नंदा ने वे दो गोले स्तंभ के साथ टकराकर फोड़ डाले तो एक गोले में से चंद्र समान निर्मल दो कुंडल और दूसरे में से दैदिप्यमान दो रेशमी वस्त्र निकले। नंदा ने वे दिव्य वस्तुएं आनंद से ग्रहण की। "महान जनों को बादल बिना वृष्टि की तरह अचिंतित लाभ मिल जाता है।"

फिर राजा ने उस कपिला ब्राह्मणी को बुलाकर उसके पास मांग कि की "हे भद्रे ! तू साधूओं को श्रद्धा से भिक्षा दे। मैं तूजे धन का भंडार देकर निहाल कर दूंगा।" कपिला बोली की 'कदापि मुजे बांधकर सुवर्णमय कर दो अथवा मुजे मार डालो तो भी मैं वह अकृत्य कदापि नहीं करुंगी।' फिर राजा ने कालसोकरिक को कहा कि 'यदि तू यह कसाईपना छोड़ दे तो मैं तुजे बहुत द्रव्य दूंगा, क्योंकि तू भी धन के लोभ से कसाई बना है।' कालसोकरिक बोला, 'इस कसाई के काम में क्या दोष हैं ? जिससे अनेक मनुष्य जीते हैं ऐसे कसाई के धंधे को मैं कदापि नहीं छोडूगा।' फिर 'तू कसाई का व्यापार किस प्रकार करेगा ?' ऐसा कहकर राजा ने उसे अंधकूप में एक रात्रि-दिन बंद कर दिया। फिर राजा श्रेणिक ने भगवंत के समक्ष जाकर कहा कि 'हे स्वामी ! मैंने कालसोकरिक को एक अहोरात्रि तक कसाई का काम छुडाया है।' सर्वज्ञ प्रभु बोले कि, 'हे राजन् ! उसने अंधकूप में भी मृतिका के पांचसौं पाडे (भैंसे) बनाकर हणे (मारे) हैं।' श्रेणिक ने तत्काल जाकर देखा तो उसे वैसा नजर आया तो उसे बहुत उद्वेग हुआ कि 'मेरे पूर्वकर्म को धिक्कार है। ऐसे दुष्कर्म के योग से भगवंत की वाणी अन्यथा नहीं होगी।'

सुरासुरों से सेवित श्री वीरप्रभु वहां से विहार करके परिवार सहित **पृष्टचंपानगरी** में पधारे। वहां **साल** नाम का राजा और **महासाल** नाम का युवराज वे दोनों बंधु त्रिजगत के बंधु श्री वीरप्रभु को वंदना करने आये। प्रभु की देशना सुनकर वे दोनों प्रतिबोध पाये तो **यशोमति** और **पीठर** का **गागली** नाम का पुत्र कि जो उनका भानजा लगता था उसका राज्य पर अभिषेक किया और उन दोनों ने संसारवास से विरक्त होकर श्री वीरप्रभु के चरणकमल में जाकर दीक्षा ली। भगवंत श्री वीरप्रभु कालांतर में विहार करते करते परिवार सहित चौतीस अतिशय के साथ चंपापुरी में पधारे। प्रभु की आज्ञा लेकर गौतम स्वामी साल और महासाल साधु के साथ पृष्ठचंपा नगरी में गये। वहां गागली राजा ने भक्ति से गौतमगणधर की वंदना की तथा उसके माता-पिता और अन्य सचिव वगैरह पूरजनों ने भी उनकी वंदना की। फिर देवता द्वारा रचित सुवर्ण के कमल पर बैठकर चतुर

ज्ञानी इन्द्रभूति ने धर्मदेशना दी। उसे सुनकर गागली प्रतिबोध पाया, तो अपने पुत्र को राज्य पर बिठाकर अपने मातापिता सहित उसने गौतम स्वामी से दीक्षा ली। उन मुनियों से और साल-महासाल से परिवृत्त बने गौतम स्वामी चंपानगरी में प्रभु को वंदना करने चले। गौतम स्वामी के पीछे मार्ग में चले आ रहे उन पांचों को शुभभावना से केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। सर्व चंपापुरी में आये, उन्होंने प्रभु को प्रदक्षिणा की और गौतम स्वामी को प्रणाम किया। फिर तीर्थ को नमन करके वे पांचों केवली की पर्षदा में चले। गौतम ने कहा कि 'प्रभु को वंदना करें।' प्रभु बोले कि 'गौतम, केवली की आशातना मत करो।' तत्काल गौतम ने मिथ्या दुष्कृत देकर उनसे क्षमा मांगी।

फिर गौतम खेद पाकर सोचने लगे कि 'क्या मुजे केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होगा ? क्या मैं इस जन्म में सिद्ध नहीं बनूंगा ?' ऐसा विचार करता है कि इतने में 'जो अष्टापद पर अपनी लब्धि से जाकर वहां स्थित जिनेश्वर को नमन करके एक रात्रि वहां रहे, वह उसी भव में सिद्धि पाता है।' इस प्रकार अरिहंत भगवंत ने देशना में कहा है ऐसा स्वयं को देवताओं ने कहा था वह याद करके देववाणी की प्रतीति बैठने से तत्काल गौतमस्वामी ने अष्टापद पर स्थित जिनबिंबों के दर्शन के लिये वहां जाने की इच्छा की। वहां भविष्य में तापसों को प्रतिबोध होना जानकर प्रभु ने गौतम को अष्टापद तीर्थ में तीर्थंकरों को वंदना करने के लिये जाने की आज्ञा दी। अपनी इच्छानुसार प्रभु की आज्ञा मिलने से गौतम हर्ष पाये और चारणलब्धि से वायु समान वेग द्वारा क्षणभर में अष्टापद समीप आ पहुँचे। उस अरसे में कौडिन्य, दत्त और सेवाल वगैरह पंद्रहसौं तपस्वी अष्टापद को मोक्ष का कारण सुनकर उस गिरि पर चढ़ने आये थे। उसमें से पांचसौं तपस्वी चतुर्थतप (एक उपवास) करके आर्द्र कंदादिक का पारणा करते हुए अष्टापद की पहली मेखला तक आये थे। दूसरे पांचसौं तापस छट्ठ तप करके सूके कंद आदि का पारणा करते हुए दूसरी मेखला तक आये थे। तीसरे पांचसौं तापस अट्ठम का तप करके सूकी काई का पारणा करते हुए तीसरी मेखला तक आये थे। वहां से ऊंचे चढने में अशक्त बनने से वे तीनों समूह, पहली, दूसरी और तीसरी मेखला पर अटके हुए थे। इतने में सुवर्ण समान कांतिवाले और पुष्ट आकृतिवाले गौतम को उन्होंने वहां आते हुए देखा। उनको देखकर वे परस्पर कहने लगे कि 'हम शरीर से कृश बन गये हैं। फिर भी यहां से आगे चढ नहीं सकते तो ये स्थूल शरीरवाले मुनि किस प्रकार चढ सकेंगे ?' इस प्रकार वे बात-चीत कर रहे थे कि गौतम उस महागिरि पर चढ़ गये और क्षणभर में देव की भाँति उनसे अदृश्य भी हो गये। फिर वे परस्पर बोले कि 'इस महर्षि के पास कोई महाशक्ति है, इसलिये वे यदि यहां वापस लौटेंगे तो हम उनके शिष्य बनेंगे।' ऐसा निश्चय करके वे तापस एक ध्यान से बंधु की तरह आदर से उनके वापस लौटने का इंतजार करते रहे।

यहां गौतम स्वामी ने भरतेश्वर के कराये हुए नंदीश्वर द्वीप के चैत्य जैसे चैत्य में प्रवेश किया और उसमें स्थित चौबीस तीर्थंकरों के अनुपम बिंब को उन्होंने भक्ति से वंदना की। फिर चैत्य में से निकलकर गौतम गणधर एक बड़े अशोकवृक्ष के नीचे बैठे। वहां अनेक सुर-असुर और विद्याधरों ने उनकी वंदना की। गौतम ने उनको योग्यतानुसार धर्मदेशना दी और उनके पूछे हुए संदेह को

तर्कशक्ति द्वारा केवली की भाँति दूर किये। देशना देते हुए प्रसंगोपात उन्होंने बताया कि 'साधु शरीर से शिथिल हो गये होते हैं और वे ग्लानि पा जाने से मात्र जीवसत्ता द्वारा काँपते काँपते चले ऐसे हो जाते हैं।' गौतम स्वामी के ऐसे वचन सुनकर वैश्रवण (कुबेर) उनके शरीर की स्थूलता देखकर वह वचन उनमें ही अघटित जानकर थोड़ा हँसा। उस समय मनःपर्यवज्ञानी इन्द्रभूति उसके मन का भाव जानकर बोले कि 'मुनिपन में कुछ शरीर की कृशता का प्रमाण नहीं है, लेकिन शुभध्यान द्वारा आत्मा का निग्रह करना वही प्रमाण है। इसके लिये कथा है वह इस प्रकार है -

इस जंबूद्वीप में महाविदेह क्षेत्र के आभूषणरुप पुष्कलावती नाम के विजय में **पुंडरिकीणी** नाम की नगरी है। वहां **महापद्म** नाम का राजा था। उसे **पद्मावती** नाम की प्रिया (रानी) थी। उसे **पुंडरिक** और **कंडरिक** नाम के दो पुत्र हुए थे। एक बार नलिनीवन नाम के उद्यान में कोई साधु पधारे। उनके पास महापद्म राजा ने धर्म सुना, जिससे प्रतिबोध पाकर पुंडरिक को राज्य पर बिठाकर महापद्म राजा ने व्रत ग्रहण किया। क्रमशः केवलज्ञान पाकर वह मोक्ष में गया। एक बार फिर से कुछ मुनि पुंडरिकीणी नगर में आये। पुंडरिक और कंडरिक उनके पास धर्म सुनने गये। पुंडरिक भावयति होकर घर आया और सचिवों के समक्ष कंडरिक को बुलाकर इस प्रकार कहा - 'वत्स ! तू पिता के इस राज्य को ग्रहण कर, मैं संसार से भय पाया हूँ, इसलिये भय से रक्षण करनेवाली दीक्षा अब मैं ग्रहण करूंगा।' कंडरिक बोला, 'बंधु ! क्या तू मुजे संसार में गिराता है ? मैं दीक्षा लूंगा और इस भवसागर को पार कर जाऊंगा।' पुंडरिक ने दो-तीन बार उसे राज्य लेने के लिये कहा, लेकिन जब उसने न माना तब पुंडरिक ने उसे कहा कि ''बंधु ! इन्द्रियाँ बडी दुर्जय है। मन सदा चंचल है। तरुण (यौवन) उम्र विकार का घर है और प्राणी को प्रमाद तो स्वाभाविक ही है और परिषह तथा उपसर्ग सहन करने दुःसह हैं। इसलिये तुजे दृढ प्रतिज्ञावाला बनना पडेगा, क्योंकि दीक्षा पालनी बड़ी दुष्कर है। इस समय श्रावकधर्म पालकर राज्य कर और जवानी जाने के बाद दीक्षा लेना। ऐसा करना ही संपूर्ण योग्य है।'' कंडरिक बोला, 'भाई ! यह सत्य है, लेकिन मैं जो बोला वह मुजे पालना ही चाहिए, इसलिये मैं तो जरुर दीक्षा लूंगा।' इस प्रकार कहकर कंडरिक ने दीक्षा ली और पुंडरिक को सचिवों ने व्रत लेते हुए रोका तो वह भावयति होकर घर रहा।

कंडरिक मुनि विविध प्रकार के तप से शरीर को क्लेष पहुँचाते हुए तथा समाचारी को बराबर पालते हुए साधुओं को प्रिय बन पड़े। एक बार वसंत समय आने पर चारित्रावर्णनीय कर्म का उदय होने से महर्षि कंडरिक का मन चलित हुआ। उसने सोचा कि ''मेरा अब इस दीक्षा से काम हो गया। मेरा भाई जो पहले मुजे राज्य दे रहा था वह मैं ग्रहण करुंगा।'' ऐसा सोचकर भग्नचित्त से तत्काल वह पुंडरिकीणीनगर में आया और वहां उद्यान में एक वृक्ष के नीचे हरे पत्र वगैरह के शीतल संथारे पर लोटने लगा। अपनी उपधि (चीज) पेड पर लटका दी। उद्यानपालक के द्वारा उसने अपने आने का समाचार राजा को दिये तो राजा प्रधान सहित वहां आया और उनको वंदना की। फिर वृक्ष पर उपकरण लटकाये हुए एवं हरे-भरे संथारे पर पडे हुए उसे देखकर 'ये मुनिपन से निर्वेद पाया होगा' ऐसा सोचकर पुंडरिक राजा अपने सचिवों प्रति बोला, 'अरे भाइयों ! आपको

याद है कि जब इसने बचपन के कारण साहस से व्रत ग्रहण किया तब मैंने उसे रोका था' इस प्रकार कहकर पुंडरिक ने उसे वांछित राज्य पर बिठाया। राज्य चिह्न अर्पण किये और स्वयं उससे यतिलिंग ग्रहण करके शुद्धबुद्धि से वहां से विहार किया। यहां इसने 'अन्न के लिये रंक की तरह व्रत भंग किया' ऐसा कह-कहकर सेवक लोग कंडरिक का उपहास करने लगे, जिससे वह हृदय में बड़ा कोपायमान हुआ। परंतु उसने सोचा कि 'पहले मैं अच्छा अच्छा भोजन करुं, फिर इन उपहास करनेवालों का वध वगैरह शिक्षा करुंगा' ऐसा सोचकर वह राजमहल में गया। फिर प्रातःकाल में युवा पंडुक खाय त्यों उसने जगन्य, मध्यम और उत्कृष्ट - यो तीनों प्रकार का आहार कण्ठ तक खाया और रात्रि में विषयभोग के लिये जागरण किया। उस रात्रि जागरण से और अति आहार के दुर्जरपन से उसे विशूचिका हुई जिससे बड़ी अरती उत्पन्न हुई। पवन से भरी फूंकनी की तरह उसका उदर प्रफुल्लित हुआ। पवन का रोध हुआ और तृषा का बड़ा दाह हुआ। उस समय 'यह पापी प्रतिज्ञाभ्रष्ट हुआ' ऐसा मानकर उसके सचिव वगैरह ने उसकी चिकित्सा नहीं की, जिससे वह अतिव्यथा से चिंतन करने लगा कि 'यदि मैं यह रात्रि किसी भी प्रकार से व्यतीत करुं तो प्रातःकाल में इन सब अधिकारियों को कुटुंब सहित मार डलवाऊं।' इस प्रकार कृष्णलेश्या से और महारोद्रध्यान से वह मृत्यु पाकर सातवीं नरक में अप्रतिष्ठान नरकावास में उत्पन्न हुआ।

यहां पुंडरिक मुनि सोचने लगे कि ''सद्भाग्य से चिरकाल के बाद मनोवांछित यतिधर्म मुजे प्राप्त हुआ है, तो अब उसे गुरु की साक्षी में ग्रहण करुं।'' ऐसा सोचकर गुरु के पास जाने निकले। गुरु के समीप जाकर व्रत ग्रहण करके पुंडरिक मुनि ने अट्ठम का पारणा किया। लेकिन नीरस, ठंडा और रुखा आहार लेने से तथा गुरु के समीप आने के लिये तेज चलने से कोमल चरण में से निकलते रुधिर से बहुत परिश्रम पाकर गाँव के अंदर जाकर उपाश्रय मांगकर अति खेद से घास के संथारे पर सो गये। दीक्षा ली हुई होने पर भी 'मैं गुरु के पास जाकर कब दीक्षा लूं' ऐसा ही चिंतवन करते हुए उसी रात्रि में आराधन करके शुभध्यान परायणता से पुष्ट अंग से ही मृत्यु पाकर सर्वाथसिद्ध विमान में उत्पन्न हुए। इसलिये हे सभाजनों ! तपस्वियों को दुर्बलता हो या पुष्टता हो ऐसा कोई प्रमाण नहीं है। शुभ ध्यान ही परम पुरुषार्थ का कारणरुप है। इस प्रकार से गौतम स्वामी का कहा हुआ पुंडरिक का व्याख्यान समीप बैठे हुए वैश्रवण के सामानिक देव ने एक निष्ठा से श्रवण किया। वैश्रवण ने भी समकित प्राप्त किया और गौतम स्वामी ने अपना अभिप्राय जान लिया, जिससे हर्ष पाकर वह अपने स्थान प्रति गया।

इस प्रकार देशना देकर शेष रात्रि वहीं व्यतीत करके गौतम स्वामी प्रातःकाल में उस पर्वत पर से उतरने लगे तो राह देख रहे वे तापस नजर आये। तापसों ने उनके पास आकर प्रणाम करके कहा, 'हे तपोनिधि महात्मा ! हम आपके शिष्य बने और आप हमारे गुरु बनो।' गौतम स्वामी बोले कि 'जो सर्वज्ञ परमेश्वर महावीरप्रभु हैं वे ही आपके गुरु बनो।' फिर उन्होंने बड़ा आग्रह किया तो गौतम ने वहीं उनको दीक्षा दी। देवता ने तुरंत ही उन्हें साधुवेश दिया। फिर विंध्यगिरि में यूथपति के साथ ज्यों अन्य हस्ती चले त्यों वे गौतम स्वामी के साथ प्रभु के पास जाने के लिये चले। मार्ग में

कोई गाँव आने पर भिक्षा का समय हुआ तो गौतम गणधर ने तापस मुनियों को पूछा कि 'आपके लिये पारणा करने के लिये क्या इष्ट वस्तु लाऊ ?' उन्होंने कहा कि 'पायसान्न (खीर) लाना।' तो गौतम स्वामी लब्धि की संपत्ति से अपने उदर का पोषण हो उतनी खीर एक पात्र में लाये। फिर इन्द्रभूति गौतम बोले, 'हे महर्षियों ! सब बैठ जाओ और इस पायसान्न से सब पारणा करो।' तो 'इतने पायसान्न से क्या होगा ?' ऐसा सबके मन में प्रश्न उठा। फिर भी 'हमारे गुरु की आज्ञा हमें माननी चाहिए।' ऐसा सोचकर 'सब एक साथ बैठ गये।' फिर इन्द्रभूति ने अक्षीण महानस लब्धि द्वारा उन सबको भोजन करा दिया और उनको आश्चर्य प्राप्त करवाकर फिर स्वयं आहार करने बैठे।

जब तापस भोजन करने बैठे थे तब ''हमारे पूरे भाग्ययोग से श्री वीर परमात्मा जगतगुरु हमें धर्मगुरु रुप में प्राप्त हुए हैं तथा पिता समान ऐसे मुनि बोध करनेवाले मिलने भी बहुत ही दुर्लभ हैं। इसलिये हम सर्वथा पुण्यवान हैं।'' इस प्रकार भावना करते हुए शुष्क काईभक्षी पांचसौं तापसों को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। दत्त वगैरह पांचसौं तापसों को दूर से प्रभु के प्रातिहार्य देखते ही उज्ज्वल केवलज्ञान उत्पन्न हुआ तथा कौडिन्य वगैरह पांचसौ को भगवंत के दर्शन दूर से होते ही उनको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। फिर वे श्री वीरप्रभु को प्रदक्षिणा करके केवली की सभा की ओर चले। गौतम स्वामी बोले कि 'इन वीरप्रभु को वंदना करो।' प्रभु बोले, 'गौतम ! केवली की आशातना मत करो।' गौतम ने तुरंत ही मिथ्यादुष्कृत्य देकर उनसे क्षमा मांगी। उस समय गौतम ने दुबारा चिंतन किया कि 'अवश्य मैं इस जन्म में सिद्धि नहीं पाऊंगा। क्योंकि मैं गुरुकर्मी हूं। इन महात्माओं को धन्य हैं कि जो मेरे दीक्षित होने पर भी जिनको क्षण में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।' ऐसी चिंता करते हुए गौतम प्रति श्री वीरप्रभु बोले, 'हे गौतम ! तीर्थंकरों का वचन सत्य या देवता का ?' गौतम ने कहा, 'तीर्थंकरों का।' तब प्रभु बोले, 'अब अधैर्य मत रखना। गुरु का स्नेह शिष्य पर दलहन पर के तृण समान होता है और वह तत्काल दूर हो जाता है। और गुरु पर शिष्य का हो त्यों तुम्हारा स्नेह तो उनकी चट्टाई जैसा दृढ है। चिरकाल के संसर्ग से हमारे उपर तुम्हारा स्नेह बहुत दृढ हुआ है। इसलिये तुम्हारा केवलज्ञान अटका है। उस स्नेह का जब अभाव होगा तब प्रकट होगा।' फिर प्रभु ने गौतम को और अन्य को बोध करने के लिये द्रुमपत्रिय अध्ययन की व्याख्या की।

इसके बाद प्रभु के चरण की उपासना करनेवाला **अंबड** नाम का पारिव्राजक छाता और त्रिदंड हाथ में रखकर वहां आया। वह तीन प्रदक्षिणा करके प्रभु को नमा और भक्ति से रोमांचित होकर अंजलि जोड़कर इस प्रकार स्तुति करने लगा, ''हे नाथ ! मैं तुम्हारे चित्त में रहूं ऐसी तो बात भी दुर्लभ है, लेकिन यदि आप मेरे चित्त में रहो तो फिर दूसरे का मुजे कोई प्रयोजन नहीं है। छलने में तत्पर ऐसे अन्यजन मृदु बुद्धिवाले पुरुषों में किसीको कोप से, किसीको पुष्टि से और किसीको अनुग्रह (कृपा) से छलते हैं। वे कहते हैं कि 'जो प्रसन्न न हो उसके पास से किस प्रकार फल प्राप्त किया जा सके ?' परंतु चिंतामणि वगैरह अचेतन है तो भी क्या फल नहीं देते ? हे वितराग ! आपकी सेवा करने से भी अधिक आपकी आज्ञा पालनी वह विशेष उत्तम है। क्योंकि आपकी आज्ञा आराधी हो तो मोक्ष के लिये होती है और विराधी हो तो संसार के लिये होती है। आपकी आज्ञा अनादिकाल

से हैह्य और उपादेय गोचर है। अर्थात् आश्रव सर्वथा हैह्य है और संवर सर्वथा उपादेय है ऐसी आपकी आज्ञा है। 'आश्रव संसार का हेतु है और संवर मोक्ष का हेतु है।' इस प्रकार आर्हती मुष्टि है। अर्थात् मूल ज्ञान इतना ही है, बाकी सब तो उसका विस्तार है। इस प्रकार की आज्ञा के आराधन में तत्पर ऐसे अनंत जीव मोक्ष पाये, अनंता पाते हैं और अनंता पायेंगे। चित्त की प्रसन्नता से दीनता को छोड़कर मात्र आपकी आज्ञा को ही माननेवाले प्राणी सर्वथा कर्मरुपी पिंजरे में से मुक्त बनते हैं।''

इस प्रकार जगत्गुरु श्री वीरप्रभु की स्तुति करके वह संन्यासी योग्य स्थान पर बैठकर देव की भाँति अनिमेष दृष्टि से प्रभु की देशना सुनने लगा। देशना पूर्ण होने के बाद वह अंबड संन्यासी राजगृह नगर की ओर जाने के लिये तैयार हुआ। प्रभु ने उसको कहा कि 'तू राजगृह में जाकर नाग नाम के रथकार की स्त्री सुलसा को हमारी आज्ञा से कोमल वाणी में कुशलता पूछना।' प्रभु की आज्ञा का स्वीकार करके अंबड आकाशमार्ग से उड़कर तत्काल राजगृही में आया। फिर सुलसा के गृहद्वार के पास आकर चिंतन करने लगा कि 'सुर, असुर और नरेश्वरों की नजर में प्रभु ने सुलसा का पक्षपात किया, इसका क्या कारण ? इसलिये मैं उसकी परीक्षा करुं।' इस प्रकार सोचकर जिसे वैक्रिय लब्धि प्राप्त हुई है ऐसे अंबड ने रुप बदलकर उसके घर में प्रवेश किया और भिक्षा मांगी। सुलसा ने ऐसा नियम किया था कि 'मेरे हाथ से जो सुपात्र होगा उसे ही भिक्षा देनी' इससे उसने इस याचना करते हुए तापस को भिक्षा न दी। (दासी को देने के लिये आज्ञा दी)।

फिर अंबड राजगृही नगरी के बाहर जाकर पूर्व तरफ के दरवाजे पर ब्रह्मा का रुप धरकर बैठा। उसने पद्मासन लगाया, चार बाहु और चार मुख किये, ब्रह्मास्त्र, तीन अक्षसूत, और जटामुकुट धारण किये। सावित्री को साथ रखा और पास में हँस का वाहन खड़ा रखा। फिर धर्म उपदेश करके साक्षात ब्रह्मा आये हैं यू माननेवाले नगरजनों के मन को हर लिया। यह खबर सुनकर सखियों ने आकर सुलसा को कहा कि 'हमारे नगर के बाहर साक्षात ब्रह्मा आये है। इसलिये चलो, देखने जाये।' इस प्रकार कइं तरह बुलाया तो भी मिथ्यादृष्टि के परिचय से भय पाकर सुलसा वहां न गयी। दूसरे दिन वह अंबड दक्षिण दिशा के दरवाजे के बाहर गरुड पर बैठकर शंख-चक्र-गदा और खडग को धारण करके साक्षात विष्णु का रुप धरकर बैठा। लोगों को व्यामोह करानेवाले साक्षात विष्णु पधारे होने की खबर सुलसा ने सुनी तो भी सम्यग्दर्शन में निश्चल सुलसा वहां न गयी। तीसरे दिन अंबड पश्चिम दिशा के दरवाजे पर शंकर का रुप धरकर बैठा। उसमें वृषभ का वाहन रखा। ललाट पर चंद्र धारण किया, पार्वती को साथ रखा, गजचर्म के वस्त्र पहने, तीन लोचन किये, शरीर पर भस्म का अंगराग किया, भुजा में खटवांग, त्रिशूल और पिनाक रखे, रुंडमाला गले में धारण की और भूतो के विविध गण रचे। इस रुप में धर्मोपदेश करके उसने नगरजनों के मन हर लिये, परंतु वह समाचार सुनकर परम श्राविका सुलसा वहां देखने भी नहीं गयी। फिर चौथे दिन उसने उत्तर दिशा में तीन गढ से शोभित और दैदिप्यमान बंदनवारवाला दिव्य समवसरण रचा और उसमें स्वयं जिनेश्वर होकर बैठा। यह सुनकर नगरजन विशेष रुप में बड़ी समृद्धि सहित वहां आकर धर्म सुनने लगे। यह खबर सुनकर भी सुलसा वहां न गयी, तो अंबड ने उसे चलित करने के लिये

किसी पुरुष को उसके पास भेजा। उसने आकर इस प्रकार कहा कि "हे सुलसा ! श्री विश्वस्वामी जिनेश्वर नगर के बाहर समवसरे हैं। हे भद्रे ! उनकी वंदना के लिये चलो, क्यों विलंब करती हो ?" सुलसा बोली, "चौबीसवें तीर्थंकर जगद्गुरु श्री वीरप्रभु वे नहीं हैं।" वह बोला, "अरे मुग्धे ! ये तो पच्चीसवें तीर्थंकर हैं, इसलिये उन्हें प्रत्यक्ष आकर देखो।" सुलसा बोली, "कदापि भी पच्चीस तीर्थंकर होते ही नहीं। इसलिये यह तो कोई बुरी बुद्धिवाला महापाखंडी लगता है। वह बैचारे भोले लोगों को ठगता है।" वह बोला, "भद्रे ! ऐसा मत बोलो। इससे जिनशासन की प्रभावना होगी। इससे तुम्हें क्या हानि होनेवाली है ? इसलिये वहां चलिये।" सुलसा बोली, "ऐसे जूठे प्रपंच से जिनशासन की कुछ भी प्रभावना नहीं होती, लेकिन अप्रभावना ही होती है।" इस प्रकार सुलसा को अचलित मनवाली देखकर अंबड हृदय में प्रतीति लाकर चिंतन करने लगा कि 'जगद्गुरु श्री वीरप्रभु ने भरी सभा में इस सती की संभावना की है वह योग्य ही है, क्योंकि मैं बड़ी माया करके भी उसको सम्यक्त्व में से चलित नहीं कर पाया हूँ।' फिर उसने पूरा प्रपंच समेटकर अपने मूल रुप में नैषधिकी बोलते हुए सुलसा के घर में घूसा। सुलसा खड़ी होकर सामने आयी और बोली, "हे धर्मबंधु ! जगतबंधु वीरप्रभु के उत्तम श्रावक ! आपका स्वागत है।" इस प्रकार कहकर फिर माता समान वत्सल सुलसा ने उसके चरण धोये और अपने गृहचैत्य की वंदना करवाई। उस चैत्य को वंदना करके फिर अंबड शुद्ध बुद्धि से बोला, 'भद्रे ! मेरे वचन से तू शाश्वत चैत्यों की वंदना कर।' फिर पृथ्वी पर मस्तक टेककर उसने मानो प्रत्यक्ष देखती हो त्यों मन में भक्तिभाव लाकर वंदना की। अंबड ने दुबारा कहा कि 'इस जगत में तू एक ही गुणवान है, कि जिसकी खबर वीर प्रभु ने मेरे मुख से पूछी है।' यह सुनकर सुलसा ने हर्ष लाकर प्रभु को वंदना की और रोमांचित शरीर से उत्तम वाणी में प्रभु की स्तुति की। दुबारा परीक्षा करने की इच्छा से वह चतुर बोला कि 'हे भद्रे ! अभी ब्रह्मादिक देव इस नगर के बाहर प्रकट हुए थे और धर्म के व्याख्यान करते थे। नगरजन उनको वंदना करने गये थे और उनसे धर्म सुना था, लेकिन आप तो कुतूहलता से भी वहां क्यों नहीं गयी थीं ?' सुलसा बोली, 'हे महाशय ! आप जानते हो फिर भी अज्ञानी की तरह क्यों पूछते हो ? वे बेचारे ब्रह्मादिक क्या मात्र हैं ? हिंसा करने के लिये शस्त्र रखनेवाले और भोग करने के लिये स्त्री को पास रखनेवाले स्वयं ही अधर्म में तत्पर होने से वे धर्म के व्याख्यान क्या देंगे ? जगत में अद्वितीय आप्त पुरुष श्री महावीर भगवंत को देखने के बाद और उनके धर्म को ग्रहण करने के बाद जो ऐसे देव को देखते हैं वे सचमुच अपने स्वार्थ के घातक हैं।' सुलसा के ऐसे वचन सुनकर चित्त में हर्ष पाते हुए और सुलसा के प्रति 'साधु ! साधु !' (शाबास शाबाश) शब्द कहते हुए अंबड अपने स्थानक पर गया और वह सुलसा अनिंदित आर्हत धर्म को सर्वदा हृदय में वहन करने लगी।

इत्याचार्य श्री हेमचन्द्र सूरि विरचिते त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरिते महाकाव्ये दशमपर्वणि हालिक प्रसन्नचंद्र दर्दूरांकदेव श्रेणिक भावितीर्थंकरत्व शाल–महाशाल गौतमाष्टापदारोहण अंबड सुलसा चरित्र वर्णनो नाम नवमः सर्गः॥९॥

दसवाँ सर्ग

दशार्णभद्र और धनाशालीभद्र का चरित्र

सुर-असुर से युक्त श्री वीरप्रभु चंपानगरी से विहार करके क्रमशः **दशार्ण** देश में आये। उस देश में **दशार्ण** नाम का नगर है और वहाँ **दशार्णभद्र** नाम का राजा राज्य करता है। एक बार वह राजा सायंकाल में अपनी सभा में बैठा था, उस में चर पुरुषों ने आकर कहा कि प्रातःकाल में इस आपके नगर के बाहर श्री वीरप्रभु समवसरेंगे। ऐसी वाणी सुनकर मेघ की गर्जना से ज्यों विदुरगिरि में रत्न के अंकुर प्रकट हो त्यों राजा के शरीर में अतिहर्ष द्वारा रोमांच कंचुक उत्पन्न हुआ। तत्काल उसने सभा समक्ष कहा कि 'प्रातःकाल में मैं ऐसी समृद्धि से प्रभु की वंदना करुंगा कि ऐसी समृद्धि से पूर्व किसीने भी उनको वंदना नहीं की होगी।' इस प्रकार सचिव वगैरह को कहकर वह अपने अंतःपुर में गया और 'मैं प्रातःकाल में प्रभु की इस प्रकार वंदना करुंगा और इस प्रकार स्तुति करुंगा' ऐसी चिंता करते हुए उसने वह रात्रि मुश्किल से बिताई। अभी सूर्योदय भी नहीं हुआ था कि उस राजसूर्य दशार्ण राजा ने नगर के अध्यक्ष वगैरह को बुलाकर आज्ञा दी कि 'मेरे महल से प्रभु के समवसरण तक बड़ी समृद्धि से मेरे जानेलायक मार्ग को सजाओ।'

यहां वीरप्रभु नगर के बाहर पधारे और देवताओं ने भी समवसरण रचा। यहां नगराध्यक्ष वगैरह ने पलभर में राजा की आज्ञा अनुसार कर दिया। ''देवताओं को ज्यों मन द्वारा कार्यसिद्धि होती है त्यों राजाओं को वचन द्वारा होती है।'' राजमार्ग की धूल को कुमकुम जल के छिड़काव से शांत करके मार्ग की भूमि पर सर्वत्र पुष्प बिछा दिये। स्थान स्थान पर सुवर्ण के स्तंभ सहित बंदनवार बांध दिये। सुवर्ण के पात्रों की श्रेणी से शोभित ऐसे मंच लगा दिये। विविध चित्रवाले चिनाई वस्त्रों से सुशोभित, रत्नमय दर्पणों से आश्चर्य उत्पन्न करे ऐसी और सुगंध से भरपूर ऐसी मालाएं मार्ग के चारोंओर सुंदर स्तंभो के साथ लटका दी। ऊंचे दंडवाले और मोतीवाले मंडप जो मेघाडंबर की शोभा को धरते थे उनसे सर्वत्र एक छाया कर दी। स्थान-स्थान पर रखी हुई अग्नि सहित धूपघटियों के अंदर अगरुकपूर के धूम्र से मंडप को अंकुरित करे ऐसा कर दिया। इस प्रकार मानो स्वर्ग का एक खंड हो ऐसा मार्ग को सुशोभित करके सचिवों ने प्रभु के दर्शन का उत्साह धरे हुए राजा को सब हकीकत निवेदित की। फिर राजा स्नान करके दिव्य अंगराग और सर्व अंगों पर आभूषण तथा शुद्ध वस्त्र धरकर पुष्प की माला पहनकर उत्तम गजेन्द्र पर आरुढ हुआ। मस्तक पर श्वेत छत्र और दोनों तरफ दो चँवरों से बिराजमान महाराजा इन्द्र समान होकर चला। महामूल्यवान आभूषणों को धारण करनेवाले हजारो सामंत मानो उसके वैक्रिय स्वरुप हो त्यों उसके पीछे चले। इसके बाद चलित चँवरों से बिराजित और इन्द्राणी के रुप को भी पराभव करती हुई अंतःपुर की मृगाक्षियां उसके पीछे चली। मार्ग में बंदीजन राजा की स्तुति करते थे, गायक गीत गाते थे और मार्ग को सजानेवाले अपना कौशल्य दिखाते थे। इस प्रकार अन्य राजाओं के गाढ छत्रों से जिसके मार्ग में नवीन मंडप हो रहे हैं ऐसा दशार्ण राजा क्रमशः प्रभु के समवसरण में

आया। उसने तीन प्रदक्षिणा देकर प्रभु को वंदना की। फिर समृद्धि से गर्वित होकर अपने योग्य ऐसे स्थान पर बैठा।

उस समय दशार्णपति को समृद्धि का गर्व हुआ जानकर उसे प्रतिबोध देने के लिये इन्द्र ने एक जलमय विमान रचा। उसमें स्फटिकमणि जैसे निर्मल जल के प्रांत भाग में सुंदर कमल खिले हुए थे। हँस तथा सारस पक्षियों के मधुर शब्द के प्रतिनाद हो रहे थे। देववृक्षों और देवलताओं की श्रेणी में से झड़ते हुए पुष्पों से वह शोभित था। नीलकमलों की शोभा से वह इन्द्रनील मणिमय हो ऐसा लगता था। मरकत मणिमय नलिनी में सुवर्णमय खिले कमलों का प्रकाश प्रवेश होते ही वह अधिक चमकता था और जल के चपल तरंगों की मालाओं से वह पताका की शोभा धारण करता था। ऐसे जलकांत विमान में इन्द्र देवताओं के साथ बैठा। उस समय हजारों देवांगनाएं उसे चँवर झलने लगी और गंधर्वो ने आरंभ किये संगीत में वह थोड़ा थोड़ा कान देने लगा। इस प्रकार से प्रभु के चरण से पवित्र ऐसी नीचे की पृथ्वी की ओर दृष्टि करते हुए इन्द्र मनुष्यलोक में आया। नीचे उतरते हुए मरकतमणि के नाल से बिराजित सुवर्ण के कमल पर मानो चरणसहित पर्वत हो त्यों चरण रखते रखते मणिमय आठ दंतुशल से शोभित और देवदूष्य वस्त्रों से जिसकी पीठ आच्छादित की है ऐसे ऐरावत हाथी पर इन्द्र चढ़ा। उस समय उस हस्ती पर पहले से आरुढ देवांगनाओं ने उसको हाथ का आधार दिया। इस प्रकार इन्द्र समवसरण समीप आया। फिर जिनेन्द्र के चरण में वंदन करना चाहते भक्तजनों में शिरोमणि इन्द्र ने भक्तिभावित चित्त से समवसरण में प्रवेश किया। उस समय उसके जलकांत विमान में स्थित क्रीडावापियों में रहे हरेक कमल के अंदर संगीत होने लगा। प्रत्येक संगीत में इन्द्र के समान वैभववाला एक एक सामानिक देव दिव्य रुप तथा सुंदर वेशयुक्त दिखने लगा। उस हरेक देव का परिवार इन्द्र के परिवार की तरह महर्द्धिक और विश्व को विस्मयकारी था। विमान की ऐसी समृद्धि से इन्द्र स्वयं चकित हो गया तो फिर उससे कम कम समृद्धिवाले दूसरों की तो बात ही क्या करनी ?

फिर समवसरण में रहे सुरनरों ने विस्मय से देखे हुए इन्द्र ने कंठ में पहने हुए हार को पृथ्वी पर लोटाते हुए प्रभु को बार बार प्रणाम किये। इन्द्र की ऐसी अपार समृद्धि देखकर दशार्णभद्र राजा शहर की समृद्धि देखकर ग्राम्यजन हो जाय त्यों क्षणभर के लिये स्तंभित हो गया। फिर विस्मय से नेत्र को विकसित करके उसने सोचा कि "अहो ! इस इन्द्र के विमान की कैसी लोकोत्तर शोभा है ? अहो ! इस ऐरावत हाथी के गात्र कितने सुंदर हैं ? अहो ! इस इन्द्र के वैभव का विस्तार तो कुछ अलौकिक दिखता है। मुजे धिक्कार है कि मैंने मेरी संपत्ति का अभिमान किया। मेरी और इन्द्र की समृद्धि के बीच तो एक डबरे और समुद्र जितना अंतर है। मैंने मेरी समृद्धि के गर्व से मेरी आत्मा को तुच्छ किया। पहले ऐसी समृद्धि नहीं देखी होने से मैं कुए के एक मैंढक जैसा था।" ऐसी भावना करते करते धीरे धीरे वैराग्य आने से अल्पकर्म के कारण उसको अति शुभ परिणाम आया। उसने सोचा कि 'यद्यपि ऐसी समृद्धि से इन्द्र ने मुजे जीत लिया है, फिर भी अब दीक्षा लेकर मैं उसकी पराजय करूंगा। और दीक्षा लेकर केवल उस पर ही विजय करूंगा ऐसा

नहीं, लेकिन भवभ्रमण करानेवाले जो कर्मरुपी शत्रु हैं उन्हें भी जीत लूंगा।' इस प्रकार सोचकर विवेकी दशार्णपति ने तत्काल वहीं मुगट और कडे वगैरह आभूषण निकाल डाले और मानो कर्मरुपी वृक्षों की जड़े खिंच डालता हो त्यों पांच मुष्टि से मस्तक पर के केश को खींच डाले। विस्मय से विकसित नेत्रवाले इन्द्र की नजरों के सामने ही उसने गणधर के पास आकर साधुवेश ग्रहण किया। फिर अपूर्व उत्साह और साहसवाले उस दशार्णभद्र मुनि ने प्रभु को प्रदक्षिणापूर्वक वंदना की। उस समय इन्द्र ने उनके पास आकर कहा, 'अहो महात्मन् ! आपका यह कोई महान पराक्रम है कि जिससे आपने मुजे भी जीत लिया है, तो अन्यों की तो बात ही क्या करनी ?' इस प्रकार कहकर इन्द्र उनको नमस्कार करके अपने स्थान पर गया। दशार्णभद्र मुनि अच्छी तरह व्रत का प्रतिपालन करने लगे और श्री वीरप्रभु ने भव्यजनों पर उपकार करने के लिये वहां से अन्य नगर वगैरह स्थान पर विहार किया।

राजगृह नगर के नजदीक **शाली** नाम के गाँव में कोई **धन्या** नाम की स्त्री आकर रही थी। उसका पूरा वंश उच्छेद पा गया था। सिर्फ **संगमक** नाम का एक पुत्र रहा था, उसे वह साथ लायी थी; क्योंकि ''चाहे जैसे दुःख में भी अपने उदर से उत्पन्न संतान को छोड़ देना असंभव है।'' वह संगमक वहां रहते हुए नगरजनों के बछ़डे चराता था। ''गरीब लडके को ऐसी मृदु आजीविका घटित है।'' एक बार कोई पर्वोत्सव का दिन आया। उस समय संगमक को घर घर पायसान्न का भोजन होता नजर आया, जिससे उस मुग्ध बालक ने घर जाकर अपनी दीन माता से पायसान्न की मांग की। वह बोली, ''पुत्र ! मैं दरिद्री हूँ। मेरे पास पायसान्न कहां से होगा ?'' जब अज्ञता से बालक ने बार बार ऐसी मांग की तब धन्या अपने पूर्ववैभव को याद करते हुए उच्च स्वर में रुदन करने लगी। उसके रुदनदुख से जिनका हृदय घायल हुआ है ऐसी उसकी पड़ौसनो ने उसके पास आकर उसके दुःख का कारण पूछा, तो धन्या ने गद्‌गद स्वर में उनको अपने दुःख का कारण कहा। फिर उन सब ने मिलकर उसे दूध वगैरह ला दिया, तो उसने खीर पकायी और एक थाल में निकाल कर अपने पुत्र को देकर स्वयं किसी गृहकार्य में लगी। उस समय कोई मासक्षपणधारी मुनि पारणे के लिये और संगमक को भवसागर से तारने के लिये वहां आ पहुँचे। उनको देखते ही संगमक विचार करने लगा कि ''ये सचेतन चिंतामणिरत्न, चलित कल्पवृक्ष और कामधेनुरुपी मुनि महाराज मेरे भाग्य से इस समय आ पहुंचे हैं, यह बहुत ही अच्छा हुआ। नहीं तो मेरे जैसे गरीब को ऐसे उत्तम पात्र का योग कहां से हो ? मेरे इसी भाग्य के योग से आज चित्त, वित्त और पात्र इन तीनों का त्रिवेणी संगम हुआ है।'' इस प्रकार विचार करके उसने थाल की सब खीर मुनि को वहोरा दी। दयालु मुनि ने उसके अनुग्रह के लिये ग्रहण भी की। मुनि घर के बाहर निकले तो धन्या वहां आयी और थाल में खीर न देखने से 'स्वयं दी हुई खीर पुत्र खा गया होगा' ऐसा मानकर उसे फिर से दूसरी खीर दी। वह खीर संगमक ने अतृप्तपन से कण्ठ तक खायी, जिससे उसके अजीर्ण द्वारा उसी रात्रि में उस मुनि को याद करते हुए संगमक मृत्यु पाया।

मुनिदान के प्रभाव से संगमक का जीव राजगृह नगरी में **गोभद्र** सेठ की **भद्रा** नाम की स्त्री

के उदर में अवतरित हुआ। भद्रा ने स्वप्न में पका हुआ शालिक्षेत्र देखा। उसने वह बात पति को बतायी, तो पति ने 'पुत्र होगा' ऐसा कहा। फिर 'मैं दान-धर्म वगैरह सुकृत्य करूं' ऐसा भद्रा को अभिलाष हुआ। भद्र बुद्धिवाले गोभद्र सेठ ने उसका अभिलाष पूर्ण किया। समय पूर्ण होने पर विदुरगिरि की भूमि ज्यों रत्न को जन्म दे त्यों भद्रा ने दिशाओं के मुख को प्रकाशित करनेवाले पुत्ररत्न को जन्म दिया। देखे हुए स्वप्न के अनुसार माता-पिता ने शुभ दिन पर उसका शालिभद्र ऐसा नाम रखा। पांच धात्रियों ने पहने हुए हार को पृथ्वी पर लोटाते हुए प्रभु को बार बार प्रणाम किये। उनसे पालन होता हुआ वह पुत्र क्रमशः बड़ा हुआ। आठ वर्ष में कुछ कम का हुआ तब उसके पिता ने शाला में रखकर उसे कइं कलाएं पढाई। क्रमशः युवतियों को वल्लभ ऐसा शालिभद्र युवावस्था को प्राप्त होते ही नवीन प्रद्युम्न की तरह समान वय के मित्रों के साथ खेलने लगा। उस नगर के श्रेष्ठियों ने अपनी बत्तीस कन्याएं शालिभद्र को देने के लिये गोभद्र सेठ को विज्ञप्ति की। गोभद्र सेठ ने हर्ष पाकर उसका स्वीकार किया और सर्वलक्षण संपूर्ण बत्तीस कन्याएं शालिभद्र से ब्याही। फिर विमान समान रमणीय अपने मंदिर में स्त्रियों के साथ शालिभद्र विलास करने लगा। वह ऐसे आनंद में मग्न था कि रात्रि या दिन को भी नहीं जानता था। माता-पिता उसे भोग सामग्री देते थे। एक बार गोभद्र सेठ ने श्री वीरप्रभु से दीक्षा ली और विधिपूर्वक अनशन करके वे देवलोक में गये। वहां से अवधिज्ञान द्वारा अपने पुत्र शालिभद्र को देखकर उसके पुण्य के वश होकर वे पुत्रवात्सल्य में तत्पर हुए और कल्पवृक्ष की भाँति स्त्री सहित उसे प्रतिदिन दिव्य वस्त्र और नैपथ्य वगैरह की पूर्ति करने लगे। यहाँ पुरुष के लायक जो जो कार्य थे वह भद्रा करती थी और शालिभद्र तो पूर्वदान के प्रभाव से केवल भोगों को ही भोगता था। एक बार कोई परदेशी व्यापारी रत्नकंबल लेकर श्रेणिक राजा को बेचने के लिये आया। परंतु उसकी किंमत बहुत अधिक होने से श्रेणिक ने वे खरीदे नहीं। वे घूमते घूमते शालिभद्र के घर गये। वहां भद्रा ने मुंहमांगा मूल्य देकर वे सब खरीद लिये। इतने में चेल्लणा ने उसी दिन श्रेणिक को कहा कि 'मेरे योग्य ऐक रत्नकंबल ला दीजिए।' श्रेणिक ने एक रत्नकंबल खरीदने के लिये व्यापारी को बुलवाया। उसने कहा कि 'रत्नकंबल तो सब भद्रा ने खरीद लिये हैं।' फिर श्रेणिक राजा ने एक चतुर पुरुष को मूल्य देकर रत्नकंबल लेने के लिये भद्रा के पास भेजा। उसने आकर रत्नकंबल मांगा तो भद्रा बोली, 'शालिभद्र की स्त्रियों को पैर पोंछने के लिये मैंने उस रत्नकंबल के टुकडे करके दे दिये हैं। यदि उन जीर्ण रत्नकंबलों से कार्य चल जाय तो राजा श्रेणिक को पूछकर आओ और ले जाओ।' उस चतुर पुरुष ने वह वृत्तांत राजा को कहा। वह सुनकर चेल्लणा रानी बोली, 'देखिए ! आपके और बनिये में पितल और सुवर्ण जितना अंतर है।' फिर राजा ने कुतूहलता से उसी पुरुष को भेजकर शालिभद्र को अपने पास बुलवाया। तब भद्रा ने राजा के पास आकर कहा, 'मेरा पुत्र कदापि घर के बाहर निकलता नहीं है, इसलिये आप ही मेरे घर पधारने की कृपा कीजिए।' श्रेणिक ने कुतूहल से वैसा करने के लिये कबूल किया। तो क्षणभर के बाद आने का कहकर भद्रा घर गयी और उतने समय में विचित्र वस्त्र और मानिक आदि से राजमार्ग की शोभा राजमहल से अपने घर तक अति सुंदर करवा दी। फिर

उसके कहलवाने से देवता की तरह क्षण में तैयार किये गये मार्ग की शोभा को देखते देखते श्रेणिक राजा शालिभद्र के घर आया। वहां सुवर्ण के स्तंभ पर इन्द्रनिलमणि के बंदनवार लटक रहे थे। द्वार की भूमि पर मोती के स्वस्तिक की श्रेणियां बनाई हुई थी। स्थान-स्थान पर दिव्य वस्त्र के चँदवे बांधे हुए थे और पूरा घर सुगंधित द्रव्य से धूपित हुआ था। वह सब देखते हुए आश्चर्य से नेत्र चौडे करते हुए राजा ने गृह में प्रवेश किया और चौथी मंजिल तक चढ़कर सुशोभित सिंहासन को अलंकृत किया। फिर भद्रा ने सातवीं मंजिल में रहे शालिभद्र को कहा कि 'पुत्र ! श्रेणिक यहां पधारे हैं, उन्हें देखने के लिये तू चल।' शालिभद्र बोला, "माता ! इस बारे में आप सब जानती हो इसलिये जो मूल्य देना योग्य हो वह आप दो। मुजे वहां आकर क्या करना है ?" भद्रा बोली, "पुत्र ! श्रेणिक कुछ खरीदने का पदार्थ नहीं है, वह तो सब लोगों का और तेरा भी स्वामी है।" यह सुनकर शालिभद्र ने खेद पाते हुए सोचा कि "मेरे इस सांसारिक ऐश्वर्य को धिक्कार है कि जिसमें मेरा भी दूसरा स्वामी है। इसलिये मुजे सर्प के फन समान इस भोग से अब क्या काम ? अब तो मैं श्री वीरप्रभु के चरण में जाकर तत्काल व्रत ग्रहण करूंगा।" इस प्रकार उसे उत्कट वैराग्य प्राप्त हुआ। फिर भी माता के आग्रह से वह स्त्रियों सहित श्रेणिक राजा के पास आया और विनय से राजा को प्रणाम किये। राजा श्रेणिक ने उसे आलिंगन करके स्वपुत्र के समान अपनी गोद में बिठाया और स्नेह से मस्तक सूंघकर हर्षाश्रु बहाए। फिर भद्रा बोली, "हे देव ! अब इसे छोड़ दिजिए। वह मनुष्य है फिर भी मनुष्य की गंध से हरकत पाता है। उसके पिता देवता हुए हैं। वे स्त्रियों सहित अपने पुत्र को दिव्य वेश, वस्त्र तथा अंगराग वगैरह प्रतिदिन देते हैं।" यह सुनकर राजा ने शालिभद्र को संमति दी तो वह सातवीं मंजिल पर गया।

फिर भद्रा ने राजा को विज्ञप्ति दी कि 'आप तो यहीं भोजन लेने की कृपा करें।' भद्रा के आग्रह से राजा ने वह बात स्वीकारी तो तत्काल भद्रा ने सब रसोई तैयार करवाई। 'श्रीमान को क्या सिद्ध न होगा ?' फिर राजा ने स्नान के योग्य तैल, जल और चूर्ण से स्नान किया। स्नान करते हुए उसकी उंगली में से एक मुद्रिका गृहवापिका में गिर गई। राजा इधर-उधर उसे ढूंढने लगा तो भद्रा ने दासी को आज्ञा दी कि "वापिका का जल दूसरी तरफ निकाल डाल।" ऐसा करते हुए उस वापिका में दिव्य आभूषणों के मध्य में अपनी फिकी दिखती मुद्रिका को देखकर राजा विस्मय पा गया। राजा ने पूछा, 'ये सब क्या हैं ?' दासी बोली, 'हररोज शालिभद्र के और उनकी स्त्रियों के निर्माल्य आभूषण निकाल दिये जाते हैं वे ये सब हैं।' यह सुनकर राजा ने सोचा कि 'सर्वथा इस शालिभद्र को धन्य है और मुजे भी धन्य है कि जिसके राज्य में ऐसे धनाढ्य पुरुष भी बसते हैं।' फिर राजाओं में अग्रगण्य श्रेणिक राजा ने परिवार सहित भोजन किया। भोजन के बाद विचित्र अलंकारों और वस्त्रों से अर्चित होकर राजा अपने राजमहल में गया।

अब शालिभद्र संसार से मुक्त होने का विचार करता था, इतने में उसके धर्ममित्र ने आकर विज्ञप्ति की कि 'चर्तुज्ञानधारी और सुर-असुरों के नमस्कार किये हुए मानो मूर्तिमंत धर्म हो वैसे धर्मघोष नाम के सूरिजी उद्यान में पधारे हैं।' यह सुनकर शालिभद्र हर्ष से रथ में बैठकर वहां आया।

आचार्य को तथा अन्य साधुओं को वंदना करके आगे बैठा। सूरि के देशना देने के बाद उसने पूछा, 'हे भगवंत ! कैसे कर्म से राजा स्वामी न हो ?' मुनि बोले, 'जो दीक्षा ग्रहण करते हैं वे इस पूरे जगत के भी स्वामी बनते हैं।' शालिभद्र ने कहा कि 'यदि ऐसा है तो मैं घर जाकर माता की आज्ञा लेकर दीक्षा लूंगा।' सुरि बोले कि ''धर्मकार्य में प्रमाद न करना।'' फिर शालिभद्र घर गया और माता को नमस्कार करके कहा, ''हे माता ! आज श्री धर्मघोष सुरि के मुख से मैंने धर्म सुना है, जो धर्म इस संसार के सर्व दुखों की मुक्ति के उपाय रुप है।'' भद्रा बोली, ''वत्स ! तूने बहुत अच्छा किया, क्योंकि तू ऐसे धर्मी पिता का ही पुत्र है।'' इस प्रकार हर्ष से शालिभद्र की प्रशंसा की। फिर शालिभद्र ने कहा, ''माता ! यदि ऐसा है तो मुज पर प्रसन्न होकर मुझे आज्ञा दो। मैं व्रत ग्रहण करुंगा, क्योंकि मैं ऐसे पिता का पुत्र हूँ।'' भद्रा बोली, 'वत्स ! तेरा व्रत लेने का उद्यम युक्त है, लेकिन उसमें तो निरंतर लोहे के चने चबाने हैं। तू प्रकृति से सुकोमल है और दिव्य भोगों से लालित हुआ है, इसलिये बड़े रथ को छोटे बछड़ो की तरह तू किस प्रकार व्रत के बोज को उठा पायेगा ?' शालिभद्र बोला, 'हे माता ! भोगलालित बने जो पुरुष व्रत के कष्ट को सहन नहीं करते उन्हें कायर समजने चाहिए। सब कोई वैसे नहीं होते।' भद्रा बोली, 'हे वत्स ! यदि तेरा ऐसा ही विचार है तो धीरे धीरे थोड़े थोड़े भोग का त्याग करके मनुष्य की मलिन गंध को सहन कर कि जिससे तूजे ऐसा अभ्यास हो जाय। फिर व्रत ग्रहण करना।' शालिभद्र ने वह वचन तत्काल मान्य किया और उस दिन से हररोज एक एक स्त्री को और एक एक शैया को त्यागने लगा।

उसी नगर में **धन्य** नाम का एक बड़ा धनवान सेठ रहता था जो शालिभद्र की कनिष्ठ भगिनि का पति लगता था। अपने बंधु के ऐसे समाचार सुनकर अपने पति को नहलाते हुए शालिभद्र की बहन की आँख में से आंसू आये। वह देखकर धन्य ने पूछा कि 'किसलिये रोती है ?' तब वह गद्‌गद् स्वर में बोली, 'हे स्वामी ! मेरा भाई शालिभद्र व्रत लेने के लिये प्रतिदिन एक एक स्त्री और एक एक शैया त्याग रहा है। इसलिये मैं रुदन करती हूँ।' वह सुनकर धन्य ने विनोद में कहा, 'जो ऐसा करे उसे तो लौमडी समान डरपोक माना जाना चाहिए। इसलिये तेरा भाई भी हीन सत्त्व लगता है।' यह सुनकर उसकी अन्य स्त्रियाँ हास्य में बोल उठी, 'हे नाथ ! यदि व्रत लेना सरल है तो आप क्यों नहीं लेते ?' धन्य बोला कि 'मुझे व्रत लेने में तुम सब विघ्नरुप थी तो आज पुण्ययोग से अनुकूल बन गयी। अब मैं तुरंत व्रत लूंगा।' वे बोली, 'प्राणेश ! प्रसन्न बनो। हम तो मजाक में कह रही थी।' स्त्रियों के ऐसे वचन के उत्तर में 'ये स्त्री और द्रव्य वगैरह सब अनित्य हैं, निरंतर त्याग करने योग्य हैं। इसलिये मैं तो अवश्य दीक्षा लूंगा।' इस प्रकार कहते हुए धन्य तो तुरंत ही खड़ा हो गया और 'हम भी तुम्हारे पीछे दीक्षा लेंगी' ऐसा सब स्त्रियाँ बोली। अपनी आत्मा को धन्य माननेवाले महामनस्वी धन्य ने उनको संमति दी। इस अरसे में श्री वीरप्रभु वैभारगिरि पर समवसरे। धन्य ने धर्ममित्र के कहने से वे समाचार जाने। तो तुरंत ही दीनजनों को बहुत दान देकर स्त्रियाँ सहित शिबिका में बैठकर भवभ्रमण से भय पाया हुआ धन्य महावीर भगवंत के चरण की शरण में आया और प्रभु के पास स्त्रियों सहित दीक्षा ली। यह समाचार सुनकर

शालिभद्र स्वयं को हारा मानकर जलदी करने लगा। फिर श्रेणिक राजा का अनुसरण करते हुए शालिभद्र ने भी तुरंत ही श्री वीरप्रभु के पास आकर व्रत ग्रहण किया। श्री वीरप्रभु ने यूथसहित गजेन्द्र की भाँति वहां से अन्यत्र विहार किया। धन्य और शालिभद्र दोनों क्रमशः बहुश्रुत बने और खडग की धारा जैसा महातप करने लगे। शरीर की किंचित भी अपेक्षा बिना वे पक्ष, मास, दो मास, तीन मास और चार मास की तपस्या करके पारणा करते थे। ऐसी उग्र तपस्या से माँस और रुधिर विहिन देहवाले बनकर धन्य और शालिभद्र चमड़े की धौंकनी जैसे दिखने लगे। एक बार श्री वीरस्वामी के साथ वे दोनों महामुनि अपनी जन्मभूमि राजगृही नगरी में आये। प्रभु को पधारा हुआ जानकर उनको नमन करने के लिये अत्याधिक श्रद्धा से लोग तत्काल नगर से बाहर आये। उस अवसर पर धन्य और शालिभद्र दोनों मुनि मासक्षमण के पारणे के लिये भिक्षा लेने जाने की आज्ञा लेने के लिये प्रभु के पास आये और नमस्कार करके खड़े रहे। फिर शालिभद्र प्रति प्रभु ने कहा कि 'आज तुम्हारी माता से मिले हुए आहार से तुम्हारा पारणा होगा।' तो 'मैं चाहता हूँ' ऐसा कहकर शालिभद्र मुनि धन्य के साथ नगर में गये। दोनों मुनि भद्रा के गृहद्वार समीप आकर खड़े रहे लेकिन तपस्या से हुई अत्यंत कृशता के कारण वे किसी के पहचानने में नहीं आये और 'श्री वीरप्रभु शालिभद्र और धन्यमुनि आज यहां पधारे हैं इसलिये मैं उनकी वंदना करने जाऊँ' ऐसी इच्छा से आकुल-व्याकुल बनी रोमांचित शरीरवाली भद्रा भी उस व्यवसाय में रुकी नहीं। इसलिये उसका भी ध्यान उस तरफ गया नहीं। यहां दोनों मुनि पलभर खड़े रहकर तुरंत ही वापस लौटे। वे नगर के दरवाजे से बाहर निकल ही रहे थे कि शालिभद्र की पूर्वजन्म की माता धन्या नगर में दहीं-घी बेचने आती हुई सामने मिली। शालिभद्र को देखते ही उसके स्तन में से पय बहने लगा। फिर दोनों मुनि के चरण में वंदना करके उसने भक्तिपूर्वक दहीं की भिक्षा दी। वहां से शालिभद्र मुनि वीरप्रभु के पास आये और गोचरी दिखाकर अंजलि जोड़कर पूछा कि "हे प्रभु ! आपके कहे अनुसार मुजे मेरी माता से पारणे के लिये आहार क्यों न मिला ?" सर्वज्ञ प्रभु बोले, "हे शालिभद्र महामुनि ! वह दहीं वहोरानेवाली आपकी पूर्वजन्म की माता धन्या थी।" फिर दहीं से पारणा करके प्रभु की आज्ञा लेकर शालिभद्र मुनि धन्य के साथ अनशन करने के लिये वैभारगिरि पर गये। वहां धन्य सहित शालिभद्र मुनि ने शिलातल पर प्रतिलेहना करके पादपोपगम नाम का अनशन ग्रहण किया। यहां शालिभद्र की माता भद्रा और श्रेणिक राजा उस समय भक्तियुक्त चित्त से श्री वीरप्रभु के पास आये। प्रभु को नमस्कार करके भद्रा ने पूछा, 'हे जगतपति ! धन्य और शालिभद्र मुनि कहां गये ? वे हमारे घर भिक्षा के लिये क्यों नहीं आये ?' सर्वज्ञ बोले, 'वे मुनि आपके घर वहोरने के लिये आये थे, लेकिन आप यहां आने की व्यग्रता में थी इसलिये आपको मालूम ही नहीं पड़ा। फिर तुम्हारे पुत्र की पूर्वजन्म की माता धन्या नगर की ओर आ रही थी, उसने उनको दहीं वहोराया, जिससे पारणा करके महासत्त्वधारी उन दोनों मुनि ने तत्काल संसार से छूटने के लिये इसी समय वैभारगिरि पर जाकर अनशन ग्रहण किया है।' यह सुनकर भद्रा श्रेणिक राजा के साथ तत्काल वैभारगिरि पर आयी। वहां वे दोनों मुनि मानो पाषाण द्वारा घडे हो त्यों स्थिर रहे हुए उन्हें नजर

आये। उनके कष्ट को देखते और पूर्व के सुख को याद करते हुए भद्रा प्रतिध्वनि से वैभारगिरि को भी रुला रही हो त्यों रोने लगी। वह बोली, "हे वत्स ! आप घर आये तो भी मुज अभागनने प्रमाद से आपको पहचाना नहीं। इसलिये मेरे पर नाराज मत बनो। यद्यपि आपने तो हमारा त्याग किया है, लेकिन कभी आप मेरी दृष्टि को तो आनंद दोगे ऐसा प्रथम मेरा मनोरथ था, लेकिन हे पुत्र ! इस शरीर त्याग के हेतुरुप आरंभ से आप मेरा वह मनोरथ भी तोड़ने में उद्युक्त हुए लगते हो। हे मुनियों ! आपने जो यह उग्र तप आरंभा है उसमें मैं विघ्नरुप नहीं बनती। लेकिन मेरा मन इस शिलातल की तरह अतिशय कठोर बना है।" फिर श्रेणिक राजा बोला, "हे भद्रे ! इस हर्ष के स्थान पर रुदन क्यों करती हो ? तुम्हारा पुत्र ऐसा महासत्त्ववान होने से तुम एक ही सर्व स्त्रियों में सच्ची पुत्रवती हो। इस तत्त्वज्ञ महासत्वधारी पुरुष ने तृण की तरह लक्ष्मी को छोड़कर साक्षात मोक्षपद जैसे प्रभु के चरण को ग्रहण किया है। हे मुग्धे ! ये महाशय जगतस्वामी के शिष्य को योग्य ऐसा तप कर रहे हैं। इसमें आप स्त्री स्वभाव से वृथा परिताप किसलिये करती हो ?" राजा ने इस प्रकार प्रतिबोध किया जिससे भद्रा उन मुनियों की वंदना करके खेदयुक्त चित्त से अपने घर गयी और श्रेणिक राजा भी अपने स्थान पर गये।

वे दोनों धन्य और शालिभद्र काल क्रम से सर्वार्थसिद्ध नाम के विमान में हर्षरुपी सागर में मग्न होते हुए तैतीस सागरोपम के आयुष्यवाले देवरुप में उत्पन्न हुए।

इत्याचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि विरचिते त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरिते महाकाव्ये
दशमपर्वणि दशार्णभद्र शालिभद्र धन्यचरित्र वर्णनो नामः दशम सर्गः।।१०।।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

ग्यारहवाँ सर्ग

रौहिणेय का चरित्र, अभयकुमार का हरण, उदायन का वृत्तांत, प्रद्योत का बंधन और उदायन की दीक्षा

श्री वीर भगवान लोगों पर अनुग्रह करने की इच्छा से नगर, गाँव, घाटी और द्रौणमुख (किसानो के गाँव) वगैरह में विहार करते थे। उस समय राजगृही नगरी के समीप वैभारगिरि की गुफा में मानो मूर्तिमंत रौद्ररस हो वैसा **लोहखुर** नाम का एक चोर रहता था। जब राजगृही नगरी में लोग उत्सव आदि में रुके हुए हो तब वह चोर छिद्र पाकर पिशाच की तरह उपद्रव करता था। वह द्रव्य ले आता था और परस्त्रियों को भोगता था। उस नगर के सब भंडार और महल वे अपने ही मानता था। उसे चोरी करने की वृत्ति में ही प्रीति थी, दूसरे में न थी। ''राक्षस मांस बिना अन्य भक्ष से तृप्त नहीं होते।'' उसे **रोहिणी** नाम की स्त्री से आकृति और चेष्टा में उसके जैसा ही **रौहिणेय** नाम का पुत्र हुआ। जब लोहखुर चोर को मृत्यु समय प्राप्त हुआ तब उसने रौहिणेय को बुलाकर कहा, 'हे पुत्र ! यदि तू मेरे कहे अनुसार अवश्य करे तो मै तूजे कुछ जरुरी उपदेश दूं।' वह बोला, 'आपका वचन मुजे अवश्य पालना चाहिए। पृथ्वी पर पिता की आज्ञा को कौन नहीं उठायेगा ?' पुत्र का ऐसा वचन सुनकर लोहखुर हर्ष पाया और पुत्र की पीठ पर हाथ फेरते हुए इस प्रकार निष्ठुर वचन बोला, ''जो देवताओं द्वारा रचित समवसरण में बैठकर महावीर नाम का योगी देशना देता है उसके भाषण को तू कदापि सुनना मत। बाकी अन्य जगह भले ही स्वेच्छापूर्वक आचरण करना।'' ऐसा उपदेश देकर लोहखुर पंचत्व (मोत) को पा गया।

पिता की मृतक्रिया करने के बाद रौहिणेय भी मानो दूसरा लोहखुर हो त्यों निरंतर चोरी करने लगा। अपने जिवीतव्य की तरह पिता की आज्ञा को पालते हुए वह अपनी स्त्री की भाँति पूरी राजगृही नगरी को लूंटने लगा। उस समय नगर, गाँव और खानों वगैरह में विहार करते हुए चौदह हजार मुनियों सहित चरम तीर्थंकर श्री वीरप्रभु राजगृही नगरी में पधारे। देवताओं से संचारित किये हुए सुंदर सुवर्णकमल पर कदम रखते हुए प्रभु समीप आये तो वैमानिक, ज्योतिषी, भुवनपति और व्यंतर देवताओं ने मिलकर प्रभु का समवसरण रचा। उसमें बैठकर श्री वीरप्रभु ने योजन तक फैलती हुई सर्वभाषानुसारिणी वाणी से धर्मदेशना देना शुरु किया। उस समय वह रौहिणेय चोर राजगृही नगरी की ओर जा रहा था। उस मार्ग में यह समवसरण आया देखकर उसने सोचा कि 'यदि मैं इस मार्ग से जाऊंगा तो महावीर के वचन सुन लूंगा, जिससे पिता की आज्ञा का भंग होगा। और इसके सिवा राजगृही में जाने का दूसरा मार्ग भी नहीं है तो करना क्या ?' ऐसा विचार करके दो कान पर हाथ रखकर उसी मार्ग से राजगृही नगरी में गया। इस तरह प्रतिदिन गमनागमन करते हुए एक बार समवसरण के समीप ही उसे पैर में कांटा लगा। जलदी से चलते हुए वह कांटा दृढ रुप में पैर में धँस गया जिससे उसे निकाले सिवा वह एक कदम भी बढ़ने के लिये शक्तिमान

नहीं रहा। जब दूसरा कुछ उपाय नहीं सुझा तब उसने कान पर से हाथ हटाकर कांटा निकालना शुरु किया। उस समय प्रभु के मुख की वाणी इस प्रकार उसे सुनाई दी - "जिसके चरण पृथ्वी को छूते नहीं हैं, नेत्र निमेषरहित होते हैं, पुष्पमाला ग्लानि पाती नहीं है और शरीर प्रस्वेद से तथा रज से रहित होता है वे देवता कहलाते हैं।" इतने वचन सुनने पर 'मैंने बहुत सुन लिया इसलिये मुजे धिक्कार है' ऐसा सोचते हुए जलदी से पैर में से कांटा निकाल कर और वापस कान पर हाथ रखकर रौहिणेय वहां से अपने काम पर गया।

अब वह चोर प्रतिदिन शहर में चोरी करता था, इसलिये पीडित होकर गाँव के सेठ श्रेणिक राजा के पास आकर कहने लगे कि 'हे देव ! आपके राज्य करते हुए हमें दूसरा कुछ भी भय नहीं है, लेकिन अदृश्य चेटक की तरह कोई चोर अदृश्य रहकर हमें लूंटता है।' बंधु की तरह उसकी यह पीडा सुनकर श्रेणिक राजा ने कोप करके कोटवाल को बुलाकर कहा कि 'अरे कोटवाल ! क्या तुम चोर बनकर या चोर के भागीदार बनकर मेरी तनखा खाते हो ? जिससे तुम्हारी उपेक्षा से ही इन प्रजाजनों को चोर लूंटता है।' कोटवाल बोला कि "महाराज ! कोई रौहिणेय नाम का चोर नगरजनों को इस तरह लूंटता है कि उसे हम देखते हैं फिर भी उसे पकड़ नहीं सकते। बिजली के उछलते किरणों की तरह उछलकर बंदर की तरह कूदकर एक क्षण में वह एक घर से दूसरे घर पहुँच जाता है और नगर का किल्ला भी लांघ कर जाता है। हम उसके जाने के मार्ग पर पीछे पीछे जाते हैं तो वहां भी वह नजर नहीं आता और यदि एक कदम मात्र उसे छोडा तो वह सो कदम हमसे दूर चला जाता है। मैं तो उसे पकड़ने के लिये या मारने के लिये शक्तिमान नहीं हूँ। इसलिये यह आपका कोटवालपने का अधिकार खुशी से वापस ले लो।" फिर राजा ने भ्रकुटि की संज्ञा से संकेत किया तो अभयकुमार ने कोटवाल को कहा कि "आप चतुरंग सेना को सज्ज करके नगर के बाहर रखे। फिर जब चोर अंदर घुसे तब सेना चारोंओर घेर ले और अंदर से उस चोर को परेशान करे तो पाश में हिरन आकर फँसे त्यों वह बिजली के चमकारे की तरह उछलकर अपने आप सैन्य में आ गिरेगा। फिर मानो उसके प्रतिभू (जमानती) हो त्यों उस महाचोर को प्रमाद रहित सावधान बने सुभटों द्वारा पकड़ लेना।" इस प्रकार की अभयकुमार की आज्ञा अनुसार करके कोटवाल वहां से निकला और गुप्तरुप में सेना को सज्ज की। राजा ने आज्ञा दी उस दिन रोहिणैय दूसरे गाँव गया था इसलिये उसे इस बात का पता नहीं चला। वह दूसरे दिन पानी में हाथी घुसे त्यों नगर में घुसा और वहां से नगर के चारोंओर सैन्य के घेरे में, जाल में मच्छी की तरह फँस गया। उसे बाँधकर कोटवाल ने राजा के पास प्रस्तुत किया। "राजनीति अनुसार सत्पुरुषों की रक्षा और दुर्जनों का निग्रह राजा को करना चाहिए, जिससे उसका निग्रह करें।" इस प्रकार कहकर राजा ने उसे अभयकुमार को सौंपा। अभयकुमार ने कहा कि "छल से पकड़ा गया होने से चोरी के माल अथवा उसकी कबूलात के सिवा यह चोर निग्रह करने योग्य नहीं होगा, इसलिये उसका निग्रह सोचकर करना चाहिए।" राजा ने रौहिणेय को पूछा, 'तू कहाँ का निवासी है ? तेरी आजीविका किस प्रकार चलती है ? तू इस नगर में किसलिये आया था ? और तेरा नाम रौहिणेय है, यह सच है ?'

अपने नाम से शंकित होकर उसने राजा को कहा कि ''मैं शालिग्राम में रहनेवाला दुर्गचंड नाम का कुटुंबी (कणबी) हूँ। किसी प्रयोजन से कुतूहल होने पर आज यहां आया था और किसी देवालय में रात्रि रहा था। रात्रि बहुत बीत गई, बाद में वहां से वापस घर जाने के लिये निकलने पर राक्षस जैसे कोटवाल और उसके सैनिकों ने मुझे फँसाया, इसलिये उनसे भय पाकर मैं किल्ला लाँघकर भागने गया। आप जानते हो कि 'प्राणी को सबसे बड़ा भय प्राण का है।' मध्य के रक्षकों के हाथ में से ज्यों त्यों मैं छूट गया लेकिन वापस बाह्य रक्षकों के हाथ में मछुआरे के हाथ में से छूटी हुई मछली ज्यों जाल में आ जाय त्यों आ गिरा। वे मुज निरपराधी को चोर की भाँति बाँधकर यहां लाये। इसलिये हे नीतिमान राजा ! अब न्यायपूर्वक सोचकर जो करना हो वह करें।'' फिर राजा ने उसकी प्रवृत्ति के समाचार जानने के लिये उसने कहे हुए गाँव में गुप्त प्रकार से पुरुष भेजे, लेकिन उस चोर ने पहले से ही उन गाँव के लोगों के साथ संकेत करके रखा था, क्योंकि कइं चोर लोगों के मन में विचित्र चिंतन हुआ करता है। राजपुरुष ने उस गाँव में जाकर पूछा, तो लोगों ने कहा कि 'हाँ यहां एक दुर्गचंड नाम का कणबी रहता है, लेकिन वह इस समय यहां से दूसरे गाँव गया है।' राजपुरुषों ने राजा को ऐसे समाचार दिये तो अभयकुमार सोच में पड़ा कि ''अहो ! अच्छी तरह रचे हुए दंभ के अंत को ब्रह्मा भी पार नहीं पाते।'' फिर अभयकुमार ने देवता के विमान जैसा महामूल्यवान रत्नों से जडित सात मंजिल का एक महल उसे रहने के लिये दिया। वह महल मानो स्वर्ग में से गिरा अमरावती का एक खंड हो वैसा लगता था। उसमें गंधर्व संगीत का महोत्सव करते थे, जिससे वह अचानक उत्पन्न हुए गंधर्वनगर की शोभा को सूचित करता था। अभयकुमार ने उस चोर को मद्यपान करवाकर बेशुद्ध किया और फिर देवदूष्य वस्त्र पहनाकर उसे महल में शैया पर सुलाया। जब उसका नशा उतर गया तब वह चारोंओर देखने लगा तो अचानक आश्चर्यकारी अपूर्व दिव्य संपत्ति उसे नज़र आयी। उस समय अभयकुमार की आज्ञा से नरनारी के समूह ने 'जय पाओ ! जगत में आनंद करो !' ऐसे मंगलध्वनि पूर्वक उसके प्रति कहा, 'हे भद्र ! आप इस बडे विमान में देवता बने हो। आप हमारे स्वामी हो और हम आपके किंकर हैं इसलिये इन अप्सराओं के साथ इन्द्र की भाँति क्रीडा करो।' इस तरह कइं खुशामत के वचन चतुराईयुक्त वे कहने लगे। इतने में गंधर्वों ने संगीत शुरु किया। सुवर्ण की छड़ी लेकर कोई पुरुष आया। उसने गंधर्वो को कहा कि ''अरे ! एकदम यह क्या आरंभ किया ?'' गंधर्वों ने उत्तर दिया, 'अरे प्रतिहार ! हमने हमारे स्वामी के समक्ष हमारा विज्ञानकौशल बताना आरंभ किया है।' प्रतिहार बोला, 'बहुत अच्छा, तुम तुम्हारा कौशल्य स्वामी को दिखाओ। लेकिन उसके पहले प्रथम देवलोक के आचार उसके पास करवाओ।' गंधर्व बोला कि 'क्या क्या आचार करवाने हैं ?' प्रतिहार आक्षेपपूर्वक बोला कि 'अरे ! क्या वह भी नये स्वामी के लाभ में भूल गये क्या ? सुनो, पहले तो यहां जो नये देवरुप में उत्पन्न हो वह अपने पूर्वभव का सुकृत्य और दुष्कृत्य (अच्छा व बूरा) बताये। फिर वह स्वर्ग के सुखभोग का अनुभव करें।' गंधर्वों ने कहा कि 'हे देव ! हम तो नये स्वामी के लाभ से वह सब भूल गये हैं। इसलिये आप संपूर्ण देवलोक की स्थिति करवाए।' इस प्रकार उन्होंने कहा तो

उस पुरुष ने रौहिणेय चोर को कहा, 'हे भद्र ! आपके पूर्व के सुकृत्य और दुष्कृत्य यथार्थरुप से हमें कहिए और फिर स्वर्ग के भोग भोगिए।' यह सुनकर रौहिणेय सोचने लगा कि ''क्या यह सत्य होगा अथवा क्या मुजे मेरी स्वीकारोक्ति द्वारा पकड़ने के लिये अभयकुमार ने यह प्रपंच रचा होगा ? लेकिन इसकी परख किस प्रकार करनी ? इस प्रकार सोचते हुए उसे पैर में से कांटा निकालते समय सुना हुआ वीरप्रभु का वचन याद आया। वह सोचने लगा कि श्री वीर प्रभु से मैंने जो वचन सुना है उस अनुसार देवता के चिह्न यदि दिखते होंगे तो मैं इसका सत्य उत्तर दूंगा अन्यथा उसका जैसा ठीक लगेगा वैसा उत्तर दूंगा।' ऐसा सोचकर उसने प्रतिहारी, गंधर्व, अप्सरा वगैरह की ओर देखा तो उन सबको पृथ्वी का स्पर्श करते हुए, पसीने से मलिन बने हुए, पुष्प की माला मुरझाये हुए और नेत्र में निमेषवाले देखे। प्रभु के वचन के आधार पर उसने पूरा कपट जानकर उत्तर देने का विचार कर लिया। फिर से वह पुरुष बोला कि 'कहिए, आपका उत्तर सुनने के लिये ये सब देव-देवियां उत्सुक हैं।' फिर रौहिणेय बोला कि 'मैंने पूर्वजन्म में सुपात्र को दान दिया है, जिन चैत्य करवाए हैं, जिनबिंब रचवाए हैं, अष्ट प्रकार की पूजा से उनको पूजा हैं, तीर्थयात्राएं की हैं और सद्गुरु की सेवा भी की है। इस प्रकार मैंने पूर्वजन्म में सुकृत्य ही किये है।' फिर वह दंडधारी बोला, 'अब जो दुष्कृत्य किये हो वह भी कहिए।' रौहिणेय बोला कि 'साधु के संसर्ग से मैंने कुछ भी दुष्कृत्य तो किया ही नहीं है।' प्रतिहार दुबारा बोला कि 'एक समान स्वभाव से पूरा जन्म व्यतीत तो नहीं होता। इसलिये जो कुछ चोरी, जारी वगैरह दुष्कृत्य किया हो वह भी कहिए।' रौहिणेय बोला कि 'यदि ऐसे दुष्कृत्य किये होते तो वह क्या स्वर्गलोक को पायेगा ? क्या अंधा मनुष्य पर्वत पर चढ़ सकेगा ?'

फिर छडीदार ने यह सब अभयकुमार को कहा और अभयकुमार ने श्रेणिक राजा को बताया। श्रेणिक बोला, ''इतने उपायों से भी यदि चोर के रुप में पकड़ा न जा सके ऐसे चोर को छोड़ देना चाहिए। क्योंकि नीति का उल्लंघन करना योग्य नहीं है।'' राजा के इस प्रकार के वचन से अभयकुमार ने रौहिणेय चोर को छोड़ दिया। ''कोई बार वंचना करने में चतुर ऐसे पुरुषों से चतुर पुरुष भी छले जाते हैं।''

वहां से छूटने के बाद रौहिणेय ने सोचा कि ''मेरे पिता की आज्ञा को धिक्कार है, कि जिससे मैं भगवंत के वचनामृत से आज दिन तक निर्भागी रहा। इतनेवचनों मे से प्रभु का एक भी वचन यदि मेरे कान में न पड़ा होता तो इस समय मैं विविध प्रकार की व्यथा भोगकर यमराज के द्वार पहुँच गया होता। उस समय मैंने अनिच्छा से भगवंत का वचन ग्रहण किया था, फिर भी वह रोगी को औषध की भाँति मुजे जीवनरुप बन पड़ा। अर्हंत के वचन का त्याग करके आज तक मैंने चोर की वाणी में प्रीति की। यह तो कौए की तरह आम्रफल को छोड़कर निम के फल में प्रीति किये जैसा मैंने किया। मुजे धिक्कार है। जिसके उपदेश के एक वाक्य ने इतना फल दिया तो यदि उनका पूरा उपदेश सुना होता तो क्या फल नहीं देता ?'' मन में इस प्रकार विचार करके तुरंत ही वह भगवंत के पास गया। प्रभु के चरण में प्रणाम करके उसने इस प्रकार कहा-

''हे नाथ ! घोर विपत्ति रुपी अनेक मगरमच्छों से आकुल-व्याकुल ऐसे इस संसारसागर में लोगों में फैलती आपकी देशना की वाणी नौका की तरह बचाती करती है। हे तीन जगत के गुरु ! आप्त फिर भी अनाप्तपन (अमित्र) को मानते ऐसे मेरे पिता ने आपके वचन सुनने का निषेध करके मुजे इतने समय तक छला है। हे त्रिलोकपति ! जो कर्णांजलिरुप संपुट से आपके वचनामृत का श्रद्धापूर्वक पान करते हैं, वे धन्य हैं। मैं ऐसा पापी था कि जो आपके वचन को नहीं सुनने की इच्छा से कान पर हाथ रखकर इस स्थान को लाँघ जाता था। इतने में एक बार इच्छा बिना भी मैंने आपका वचन सुना था, लेकिन मंत्राक्षर जैसे उस वचन द्वारा राजारुपी राक्षस से मेरी रक्षा हुई। हे जगतपति ! जिस प्रकार मुजे मरण से बचाया है इसी तरह इस संसारसागर में डूबते हुए भी मुजे बचाइये।'' फिर प्रभु ने उसके पर कृपा करके निर्वाण पद को देनेवाली शुद्ध धर्मदेशना दी। वह सुनकर प्रतिबोध पाकर रोहिणेय बोला, ''हे स्वामिन् ! मैं यतिधर्म के योग्य हूँ या नहीं ?'' प्रभु ने कहा कि 'योग्य है।' तो वह बोला, ''हे विभु ! ऐसा है तो मैं व्रत को ग्रहण करुंगा। लेकिन उससे पहले मुजे राजा श्रेणिक को कुछ कहना है।'' श्रेणिकराजा सभा में ही बैठे थे। उन्होंने कहा कि ''तुजे जो कहना हो वह विकल्प या शंकारहित होकर कह।'' रोहिणेय बोला, ''हे राजन् ! आपने जिसे लोकवार्ता से सुना था मैं वही आपके नगर को लूंटनेवाला रौहिणेय चोर हूँ। लेकिन इन प्रभु का एक वचन सुनने से उसके आधार द्वारा जहाज से नदी की तरह मैं अभयकुमार की दुर्लंघ्य बुद्धि को भी लांघ कर गया हूं। हे राजरवि ! आपके पूरे नगर को मैंने ही लूंटा है। इसलिये आपको अब कोई दूसरा चोर ढूंढना नहीं है। इस समय मेरे साथ किसीको भेजो कि जिससे उसे मैं चोरी का माल दिखा दूं और फिर दीक्षा लेकर मेरे जन्म को सफल बना दूं।''

इसके बाद श्रेणिक राजा की आज्ञा से अभयकुमार और दूसरे लोग कूतुहलता से उस चोर के साथ चले। रौहिणेय ने पर्वत, नदी, कुंज और स्मशान वगैरह में गाड़ा हुआ चोरी का धन अभयकुमार को दिखाया। अभयकुमार ने जो जिसका था वह उसे सौंप दिया। ''नितिज्ञ और निर्लोभी सचिवों की अन्य मर्यादा नहीं होती।'' फिर अपने आदमियों को जो बात थी वह सब समजाकर श्रद्धालु रौहिणेय प्रभु के पास आया और श्रेणिक राजा ने जिसका निष्क्रमण महोत्सव किया है, उस रौहिणेय ने श्री वीरप्रभु से दीक्षा ली। फिर उसने क्रमशः कर्म का उन्मूलन करने के लिये चतुर्थ (एक उपवास) से लेकर छः मास के उपवास तक का उज्ज्वल तप किया। अंत में तपस्या से कृश होकर भावसंलेखना करके श्री वीरप्रभु की संमति लेकर उसने वैभार पर्वत पर पादपोपगम अनशन किया। शुभ ध्यानपूर्वक पंचपरमेष्टि नमस्कार का स्मरण करते हुए रौहिणेय महामुनि मनुष्य के देह को त्यागकर स्वर्ग में गये।

भगवंत श्री वीरप्रभु जघन्य से भी कोटि देवताओं से युक्त तीर्थंकृत नामकर्म की निर्जरा करने के लिये विहार करने लगे। धर्मदेशना से कुछ राजा, सचिव वगैरह को श्रावक बनाया और कईयों को साधु बनाया। यहां श्रेणिक राजा राजगृह नगर में सम्यक्त्व को धारण करते हुए नीति से राज्य का पालन करता था। इतने में एक बार चंडप्रद्योत राजा उज्जयिनी नगरी से सर्व सामग्री सहित

राजगृह नगरी को जीतने के लिये चला। चंडप्रद्योत राजा और उसके साथ के अन्य मुकुटधारी चौदह राजाओं को मानो पंद्रह परमाधार्मिक हो ऐसी नजर से लोगों ने देखा। सुंदर गति से अश्वों से मानो पृथ्वी को फाड़ता हो उस प्रकार आ रहे चंडप्रद्योत राजा के समाचार गुप्तचरों ने श्रेणिक राजा को दिये। तो श्रेणिक राजा को चिंता हुई कि 'क्रूर ग्रह की तरह क्रोध करके यहां आ रहे प्रद्योत राजा को मुजे किस प्रकार से रोकना ?' उत्पातिकी वगैरह बुद्धि के भंडाररुप अभयकुमार के सामने श्रेणिक राजा ने अमृत जैसी दृष्टि से देखा, तो यथार्थ नामवाले अभयकुमार ने कहा कि, 'उज्जैनी नगरी का प्रद्योत भले ही मेरे युद्ध का अतिथि बने, उसमें चिंता की क्या बात है ? और यदि उसे परास्त करने का काम बुद्धिसाध्य लगेगा तो मैं शस्त्राशस्त्री कथा के साथ उसमें मैं मेरी बुद्धि को भी लगाऊंगा, क्योंकि बुद्धि शत्रु का विजय करने में कामधेनु जैसी है।'

फिर अभयकुमार ने शत्रु के सैन्य को निवास करने योग्य भूमि में लोहे के संपुट (घड़े) में सोने के सिक्के भरभरकर गाड़े। इतने में तो समुद्र के जल से भूगोल की तरह प्रद्योत राजा के सैनिकों ने राजगृह पुरी को घेर लिया। फिर अभयकुमार ने देव जैसी मधुरवाणी बोलनेवाले गुप्त पुरुष द्वारा प्रद्योत राजा के पर एक नीजी लेख (पत्र) भेजा। जिसमें लिखा कि "शिवादेवी और चेल्लणा के बीच मैं थोड़ा सा भी भेद नहीं देखता। इसलिये आप भी शिवादेवी के संबंध से (मौसा) मेरे माननेयोग्य हो। हे उज्जैनि के राजा ! इसी कारण से आपका एकांतहित करने की इच्छा से मैं आपको बताता हूँ कि आपके साथ के सभी राजाओं को श्रेणिक राजा ने फोड़ डाला है। उनको स्वाधीन करने के लिये उन्होंने बहुत सुवर्णमुद्रा भेजी हैं, जिससे वे मोका देखकर आपको बांधकर मेरे पिता को सौंप देंगे। इसकी जाँच के लिये उनके वासगृह में उन्होंने सुवर्णमुद्रा गाड़ी होगी वह खुदवाकर देख लेना, क्योंकि दीपक होने पर अग्नि को कौन देखता है ?" इस प्रकार का पत्र पढ़कर उसने एक राजा के आवास के नीचे खुदवाया तो वहां से सुवर्णमुद्राएं निकली, तो प्रद्योत राजा ने एकदम वहां से पडाव उठवाकर उज्जैनि की और भागना शुरु किया। उसके भाग जाने से पूरा सैन्य सागर की तरह क्षोभ पा गया, तो मगधपति ने उसमें से हाथी, घोडे वगैरह जितना ले सके उतना ले लिया। जीव नासिका पर चढ़ाकर प्रद्योत राजा तो पवनवेगी अश्व द्वारा जलदी से अपनी नगरी में घुस गया। उसके साथ जो मुकटबद्ध राजा और अन्य महारथी थे वे भी कौए की तरह भाग गये, क्योंकि 'नायक बिना का सैन्य मरा हुआ ही है।' केश बांधने का भी अवकाश न मिलने से खुले केश और छत्र बिना के मस्तक से भागते उस प्रद्योत राजा के पीछे उज्जैनि आ पहुँचे। फिर परस्पर बात-चीत होने पर 'ये सब अभयकुमार की माया है, हम फूटे नहीं हैं।' ऐसा कहकर उन्होंने सोगंध खाकर प्रद्योत राजा को विश्वास दिला दिया।

एक बार उज्जैनि के राजा प्रद्योत ने क्रोधपूर्वक सभा के बीच में कहा कि 'जो कोई अभयकुमार को बांध लाकर मुझे सौंपेगा, उसे मैं खुश कर दूंगा।' उस समय कोई गणिका हाथ ऊंचा करके बोली, "वह काम करने में मैं समर्थ हूँ।" वह सुनकर प्रद्योत राजा ने उसे आज्ञा दी कि "वह काम तू कर, तूजे जितना चाहिए उतने द्रव्य वगैरह की सहायता मैं दूंगा।" उसने सोचा कि 'अभयकुमार

दूसरे किसी उपायों से पकड़ा नहीं जायेगा, इसलिये धर्म का छल करके मेरा कार्य साद्य कर लूं।' ऐसा सोचकर उसने दूसरी दो युवा स्त्रियों की मांग की। राजा ने वह दी और अत्याधिक द्रव्य दिया। फिर वे तीनों स्त्रियां किसी साध्वी की आदरपूर्वक उपासना करके तेज बुद्धिवाली होने से कुछ ही समय में बहुश्रुत (अभ्यासी) बनकर तीनों जगत को छलने में माया की त्रिमूर्ति हो त्यों वे तीनों श्रेणिक के नगर में आयी। उन वारांगनाओं ने नगर के बाहर उद्यान में निवास किया और फिर चेत्यों के दर्शन करने की इच्छा से वे शहर में आयी। अतिशय विभूति द्वारा नैषेधिकी वगैरह क्रिया करके और प्रभु की पूजा करके उन्होंने मालकोश वगैरह रागरागिनियों में प्रभु की स्तुति करना शुरु किया। उस समय देववंदना की इच्छा से अभयकुमार वहां आया था। उसने अपने समक्ष प्रभु की स्तवना करती हुई उन तीनों स्त्रियों को देखा। जिससे 'मेरे प्रवेश से इन श्राविकाओं को देवभक्ति में विघ्न न हो' ऐसा मानकर वह द्वार के पास ही खड़ा रहा। रंगमंडप में घूसा नहीं। फिर मुक्तासुक्ति मुद्रा द्वारा प्रणिधान स्तुति करके वे ख़डी हुई तब अभयकुमार वहां आया और उनकी सुंदर भावना, सुंदर वेश और उपशमभाव देखकर उनकी प्रशंसा करके आनंदपूर्वक बोला, "भद्रे ! मेरे सद्भाग्य से मुजे आपके जैसे साधर्मिक का समागम हुआ है। इस संसार में विवेकियों को साधर्मी जैसा कोई बंधु नहीं। आप कौन हो, यहां क्यू आयी हो, कहाँ निवास किया है ? ये अन्य दो स्त्रियां कौन है कि जिनसे स्वाति और अनुराधा नक्षत्र द्वारा चंद्रलेखा की तरह आप शोभित हो ?" वह कपट श्राविका बोली, "उज्जैनि नगरी के एक धनाढ्य व्यापारी की मैं विवाहिता विधवा स्त्री हूँ। ये मेरी दो पुत्रवधू हैं। वे भी कालधर्म से भग्न वृक्षवाली लता की तरह विधवा होने से निस्तेज बनी हैं। उन्होंने विधवा होते ही व्रत के लिये मेरी आज्ञा मांगी थी, क्योंकि विधवा बनी स्त्रियों की शरण व्रत ही है।" तब मैंने कहा कि "वृद्ध नहीं बनी[1] ऐसी मैं भी व्रत को ही ग्रहण करूंगी, लेकिन अभी तो तीर्थयात्रा से गृहस्थपन का फल ग्रहण करें, क्योंकि व्रत लेने के बाद तो भावपूजा होती है, द्रव्यपूजा नहीं होती। ऐसा मानकर मैं मेरी दोनों पुत्रवधूओं को साथ लेकर तीर्थयात्रा के लिये निकली हूँ।" अभयकुमार बोला, "आप आज मेरे अतिथि बनों। साधर्मियों का आतिथ्य भी तीर्थ से अतिपवित्र है।" यह सुनकर वह अभयकुमार प्रति बोली, 'आप युक्त कहते हो। लेकिन आज तो हमने तीर्थोपवास[2] किया है, इसलिये आपकी अतिथि किस प्रकार बनें ?' ऐसी उनकी वृत्ति देखकर विशेष प्रसन्न बने अभय ने कहा, 'तब कल प्रातःकाल में अवश्य मेरे घर पधारना।' वह बोली, "एक क्षण में भी प्राणी अपना जन्म पूर्ण करता है तो 'मैं कल प्रातःकाल मैं ऐसा करुंगा' यों सद्बुद्धिवाला मनुष्य क्यों बोले ?" 'अच्छा। तब आज तो भले ही वैसा हो। कल प्रातःकाल में मैं दुबारा आमंत्रण दूंगा।' ऐसा सोचकर अभयकुमार उनको बिदा करके चैत्यवंदन करके अपने घर गया। दूसरे दिन प्रातःकाल में अभयकुमार ने उनको निमंत्रण दिया और गृहचैत्य की वंदना करवाकर भोजन कराया और वस्त्र वगैरह अधिक दिये। एक बार उस कपट श्राविका ने अभयकुमार को निवेदन किया, जिससे वह नम्र होकर उसके स्थान पर गया। "ऐसे सज्जन साधर्मिक बंधु के

१. व्रत होने से पहले। २. कोई नये तीर्थ पर जाना हो तब पहले दिन उपवास करने की प्रवृत्ति (विधि) है।

आग्रह से क्या नहीं करते।'' उसने विविध प्रकार से भोजन द्वारा अभयकुमार को खिलाया और चंद्रहास सूरा से मिश्रित जल का पान कराया, जिससे अभयकुमार भोजन करके तत्काल सो गया। 'मद्यपान की प्रथम सहचरी निंद्रा ही है।' फिर स्थान स्थान पर संकेत करके रखे हुए रथ द्वारा उस दुर्लक्ष कपटवाली वेश्या ने अभयकुमार को उज्जैनि नगरी में पहुँचा दिया। यहां श्रेणिक राजा ने तुरंत ही अभय की खोज करने के लिये स्थान स्थान पर मनुष्यों को भेजा। खोजते खोजते वे कपटश्राविका के पास जा पहुँचे और पूछा कि 'यहां अभयकुमार आये थे ?' वह बोली, 'हाँ। यहां आये थे, लेकिन वे तो तत्काल वापस चले गये हैं।' उसके वचन की प्रतीति से वे खोज करनेवाले अन्यत्र ढूंढने गये। फिर वह कपटी श्राविका स्थान स्थान पर रखे हुए अश्वों द्वारा अवंती में आ पहुँची। उस प्रचंड रमणी ने चंडप्रद्योत को अभयकुमार सौंप दिया, फिर अभयकुमार को जिस उपाय से वह लायी थी, उस उपाय का स्वरुप कह सुनाया तो प्रद्योत ने कहा कि 'इस धर्म के विश्वासी अभयकुमार को तू धर्म के कपट से पकड़ लायी यह ठीक नहीं किया है।' फिर राजा ने अभयकुमार को कहा कि 'सत्तर बातों के कहनेवाले तेरे जैसे नितिज्ञ पुरुष को भी, शुकपक्षी को बिल्ली पकड़ लाये त्यों यह स्त्री तूजे पकड़ लायी।' अभयकुमार ने कहा कि 'आप एक ही इस जगत में बुद्धिमान हो कि जिसकी ऐसी बुद्धि से राजधर्म वृद्धि पाता है।' यह सुनकर चंडप्रद्योत शरमा गया और कोपायमान बना। जिससे उसने अभयकुमार को राजहंस की तरह काष्ट के पिंजरे में डाला। प्रद्योत राजा के राज्य में अग्निभीरु रथ, शिवादेवी रानी, अनलगिरि हाथी और लोहजंग नाम का लेख (पत्र) ले जानेवाले दूत - ये चार रत्न थे। राजा बार बार लोहजंग को भृगुकच्छ नगर भेजता था। उसके बार बार जाने-आने से क्लेश पाये हुए वहां के लोगों ने सोचा कि ''यह एक दिन में (पचीस) सौ योजन आता है और बार बार हमारे पर नये नये हुकम लाया करता है। इसलिये उसे हम मार डाले।'' ऐसा विचार करके उन्होंने एक दिन उसके पाथेय में विषमिश्रित लड्डू रखे और जो अच्छे थे वह ले लिये। वह पाथेय लेकर लोहजंग अवंति की ओर चला। कुछ मार्ग पार करके किसी नदी के तट पर वह पाथेय खाने बैठा। वहां उसको असगुनों ने रोका। वह थोड़े दूर गया, वहां भी असगुनों ने रोका। तो पाथेय खाये बिना अवंति में आकर वह वृत्तांत उसने प्रद्योत राजा को कहा। राजा ने अभयकुमार को बुलाकर पूछा, तो उस बुद्धिमान ने पाथेय की थेली मँगवाकर सूंघकर कहा कि 'इसमें किसी प्रकार के द्रव्यसंयोग से दृष्टिविष सर्प उत्पन्न हुआ है। यदि यह थेली लोहजंग ने खोली होती तो वह दग्ध हो जाता, इसलिये अब इसे अरण्य में पराङ्मुख रहकर रख दो।' राजा ने वह उस प्रकार रखवाई तो उसकी दृष्टि से वहां के वृक्ष दग्ध हो गये। यह सब देखकर चंडप्रद्योत ने अभयकुमार को कहा कि 'अभय ! तूने ही लोहजंग को बचाया है, इसलिये मुक्त होने के सिवा दूसरा कुछ वरदान माँग ले।' अभयकुमार बोला, 'मैं वह वरदान अमानत रुप में आपके पास रखता हूँ।' समुद्र में से लक्ष्मी की तरह चंडप्रद्योत राजा को अंगारवती रानी से वासवदत्ता नाम की एक पुत्री हुई थी। धात्रीज ने लालित की हुई वह पुत्री क्रमशः साक्षात् राज्यलक्ष्मी की भांति राजगृह में खेल रही थी। सर्व लक्षणों से युक्त और विनय आदि गुणों से युक्त ऐसी उस बाला को

अतिवात्सल्य के कारण प्रद्योत राजा पुत्र से भी अधिक मानता था। वह बाला गुरु से सर्व कलाएं सीखी। सिर्फ कोई योग्य गुरु के बिना गंधर्ववेद सीखना बाकी रहा। एक बार राजा ने अपने बहुदृष्ट और बहुश्रुत (जानकार) सचिव को पूछा कि 'इस पुत्री को गंधर्व की शिक्षा में कौन गुरु बनेगा ?' सचिव बोला कि ''मानो तुंबरु गंधर्व की दूसरी मूर्ति हो ऐसा **उदयन** नाम का राजा है, उसके पास गांधर्वकला बहुत अत्याधिक सुनाई देती है। वह वन में गीत से मोह प्राप्त करवाकर बड़े गजेन्द्रों को भी बाँध लेता है। जब वह वन में जाकर गीत गाता है तब उससे मोह पाया हुआ गजेन्द्र मानो स्वादिष्ट रस पीता हो त्यों बंधन को भी गिनता नहीं है। गीत के उपाय से ज्यों वह वन में हाथियों को बांध लेता है त्यों उसे बांधकर यहां लाने का भी उपाय है। इस कार्य के लिये आप मानो सच्चा हो ऐसा काष्ट का हाथी बनवाओ। उस में ऐसा यंत्र प्रयोग करवाओ कि जिससे वह गति और आसन्न वगैरह क्रियाएं करे। उस काष्टगज के मध्य में शस्त्रधारी पुरुष रहे और उसे यंत्र से चलाए। फिर उस हाथी को देखकर वत्सराज पकड़ने आये तो उसे बांधकर अंदर के पुरुष यहां ले आये। इस प्रकार होने से पकडा गया उदयन राजा आपकी पुत्री वासवदत्ता को गांधर्व विद्या सिखायेगा।'' राजा शाबाशी देकर उसके विचार में संमत हुआ तो सचिव ने सच्चे हाथी से भी गुण में अधिक ऐसा काष्ट का हाथी करवाया। दंतघात, कर (सूंढ) का उच्छेद, गर्जना और गति वगैरह से वनचरों ने भी उसे कृत्रिम हाथी नहीं जाना। तो उन्होंने जाकर उस गजेन्द्र की खबर उदयन राजा को दिये। फिर उदयन राजा उसे बांध लेने के लिये वन में आया। परिवार को दूर रखकर स्वयं मानो सगुन ढूंढता हो त्यों धीरे धीरे वन में घुसा। उस मायावी हाथी के समीप आकर किन्नर को पराभव करें त्यों उच्च स्वर में गाने लगा। ज्यों ज्यों अमृत जैसा स्वादिष्ट गीत गाने लगा, त्यों त्यों हाथी के अंदर रहे पुरुष उस कृत्रिम हस्ती के अंग को स्तब्ध करने लगे। कोशांबीपति उदयन उस गजेन्द्र को अपने गीत को मोहित बना जानकर अंधकार में चलता हो त्यों धीरे धीरे उसके पास आया। फिर 'यह हाथी मेरे गीत से स्तब्ध बन गया है' ऐसा मानकर वह राजा वृक्ष पर पक्षी की तरह छलांग मारकर उस पर चढ बैठा। तो तत्काल प्रद्योत राजा के सुभटों ने हाथी के उदर में से बाहर निकलकर वत्सराज (उदयन) को हाथी के स्कंध पर से गिराकर बांध लिया। अकेले, शस्त्रविहीन और विश्वासी ऐसे उदयन को ज्यों सुअर को श्वान घेर ले त्यों सुभटों ने घेर लिया, जिससे उसने कुछ भी पराक्रम नहीं दिखाया।

सुभटों ने उदयन को अवंती लाकर चंडप्रद्योत को सौंपा, तो राजा ने उसे कहा कि ''मेरी एक आंखवाली पुत्री है। उसे तुम तुम्हारी गंधर्वकला सिखाओ। मेरी पुत्री को अभ्यास कराने से तुम मेरे घर में सुख से रह सकोगे, नहीं तो बंधन में गिरने से तुम्हारा जीवितव्य मेरे अधीन है।'' उदयन ने विचार किया कि ''इस समय तो इस कन्या को अभ्यास कराकर मैं काल व्यतीत करूं, क्योंकि जीवित नर भद्रा (भला) देखता है।'' इस प्रकार चित्त में निश्चय करके वत्सराज ने चंडप्रद्योत की आज्ञा को कबूल किया। ''जो समय को जानता है वहीं पुरुष है।'' फिर चंडप्रद्योत ने कहा, 'मेरी पुत्री कानी (एकाक्षी) है, इसलिये तू उसे कदापि भी देखना मत। देखेगा तो वह लज्जा पायेगी।'

इस प्रकार उदयन को कहकर वह अंतःपुर में गया और राजकुमारी को कहा कि ''तेरे लिये गांधर्व विद्या सिखानेवाले गुरु आये हैं, लेकिन वे कुष्टि हैं, इसलिये तूजे उन्हें प्रत्यक्ष देखना नहीं है।'' कन्या ने वह बात स्वीकारी। फिर वत्सराज ने उसे गांधर्वविद्या सिखाना शुरु किया, लेकिन प्रद्योत राजा ने दोनों को छला होने से वे एक दूसरे के सामने देखते नहीं थे। एक बार 'मैं इसे देखू तो ठीक' ऐसा वासवदत्ता के मन में आया, जिससे वह पढ़ने में शून्य मनवाली हो गयी, क्योंकि 'मन के अधीन चेष्ठा होती है।' वत्सराज ने उस समय अभ्यास में शून्यता देखकर अवंतिपति की कुमारी को कहा, ''अरे कानी ! सिखने में ध्यान नहीं देकर तू गंधर्वशास्त्र का क्यों विनाश करती है ? क्या तू दुःशिक्षिता है ?'' ऐसे तिरस्कार से कोप पाकर उसने वत्सराज को कहा, 'क्या तू स्वयं कुष्टि है वह देखता नहीं है ? मुजे मिथ्या कानी कहता है !' वत्सराज ने सोचा, 'जैसा मैं कुष्टि हूँ, वैसी ही यह कानी होगी। अर्थात् ये दोनों बात जूठी लगती हैं, इसलिये अवश्य उसे देखूं।' ऐसा विचार करके चतुर उदयन ने तुरंत ही मध्य में रहे वस्त्र का परदा दूर किया। बादलों में से मुक्त बनी चंद्रलेखा समान वासवदत्ता उसे नज़र आयी। वासवदत्ता ने भी लोचन विस्तारकर साक्षात कामदेव समान सर्वांगसुंदर उदयनकुमार को देखा। वासवदत्ता और वत्सराज ने परस्पर देखकर अनुराग की समृद्धि को सूचित करनेवाला हास्य किया। प्रद्योतकुमारी बोली, 'हे सुंदर ! मुजे धिक्कार है कि मेरे पिता ने छल करके अमावस्या के रुप में माने चंद्र की तरह मैंने आपको आज तक देखा नहीं। हे कलाचारी ! आपने आपकी कला जो मुझ में संक्रमित की है, वह आपके ही उपयोग में आये। अर्थात् आप ही मेरे पति बनें।' वत्सराज ने कहा, 'भद्रे ! तू कानी है ऐसा कहकर तेरे पिता ने मुजे भी तुजे देखने से रोका और आज दिन तक छला। हे कांते ! इस समय तो यहीं रहते हुए हमारा योग हो। फिर जब समय आयेगा तब अमृत को गरुड ले जाय त्यों मैं तूजे हर जाऊंगा।' इस प्रकार स्वयं दूतीपन करके चातुर्ययुक्त आलाप-संलाप करते हुए उनके मन के संयोग की स्पर्धा करता हो त्यों शरीर-संयोग भी हो गया। वासवदत्ता की विश्वासपात्र कांचनमाला नाम की एक धात्री दासी थी। वह एक अकेली ही इन दोनों का चरित्र जानती थी। वे एक ही दासी से सेवा पाते होने से उन दोनों का दाम्पत्य किसी ने भी नहीं जाना। इसलिये वे सुखपूर्वक काल निर्गमन करने लगे।

एक बार अनलगिरि हाथी बंधनस्थान छोड़कर महावतों को गिराकर स्वेच्छा से मुक्त हो गया और जहाँ तहाँ भटकते हुए नगरजनों को क्षोभ कराने लगा, जिससे 'इस अवश बने हाथी को किस प्रकार वश करना ?' ऐसा राजा ने अभयकुमार को पूछा, तो उसने कहा, 'उदयन के पास गान कराओ, जिससे वह वश होगा।' प्रद्योत ने उदयन को कहा कि 'अनलगिरि हाथी के पास जाकर गान करो।' उदयन ने वासवदत्ता के साथ हाथी के पास जाकर गान किया। वह गान सुनकर हाथी स्तब्ध हो गया, तो उसे बांध लिया। राजा प्रद्योत ने अभयकुमार को दूसरी बार वरदान दिया। अभयकुमार ने उसे भी पहले की तरह अमानत के रुप में ही रहने दिया। एक बार उत्सव निमित्त चंडप्रद्योत राजा अंतःपुर परिवार सहित महर्द्धिक नगरजनों के साथ उद्यान में गया। उस समय योगंधरायण नामक उदयन राजा का सचिव उनको छुडा ले जाने का उपाय सोचते हुए मार्ग में घूम

रहा था। उसे आज उपाय मिल जाने से वह अपनी बुद्धि के वैभव की गरमी को अंतर में समा नहीं सका, जिससे बोल उठा। "प्रायः जो मन में होता है वहीं वचन में आता है।" वह बोला कि 'उस विशाल लोचनवाली स्त्री को मेरे राजा के लिये यदि मैं न हर जाऊं तो मेरा नाम योगंधरायण नहीं।' मार्ग में जाते हुए चंडप्रद्योत राजा ने उसकी यह गर्विष्ट वाणी सुनकर दुष्ट कटाक्ष भरे नेत्र से उसके सामने देखा। चेष्टाओं से हृदयभाव को जाननेवाले योगंधरायण ने तुरंत ही प्रद्योत राजा कोपायमान हुए ऐसा जान लिया। जिससे तत्काल बुद्धिवालों में अग्रेसर वैसा वह स्वयं कोशांबीपति के कबजे में आ गया था; जिसमें से मुक्त होने के लिये इस प्रकार उपाय किया। तत्काल पहनने का वस्त्र निकालकर सर पर रखा और प्रेत जैसी विकृत आकृति करके मूत्रोत्सर्ग करते हुए वह स्वयं को भूत लगा है' ऐसा दिखाने लगा। यह देखकर 'यह कोई पिशाचक[1] है' ऐसा मानकर राजा ने तुरंत ही कोप का निग्रह किया, महावत ने भी हाथी को आगे चलाया।

चंडप्रद्योत राजा ने सुंदर उद्यान में जाकर कामदेवरुपी उन्मत हस्ती को उत्तेजित करने के लिये महाऔषधरुप गांधर्वगोष्टि शुरु की। कूतुहली ऐसे प्रद्योत राजा ने गांधर्वविद्या की नवीन कुशलता देखने के लिये वासवदत्ता को और वत्सराज को भी वहां बुलाया। उस समय वत्सराज ने वासवदत्ता को कहा कि 'हे शुभमुखी बाला ! आज वेगवती हथिनी पर बैठकर भाग जाने का हमें मौका मिला है।' यह सुनकर उज्जैनपति की पुत्री ने उदयन राजा की आज्ञा से तत्काल वेगवती हाथिनी सज्ज करके मंगवाई। जब हथिनी के तंग बांधने लगे तब उस हथिनी ने गर्जना की। यह सुनकर किसी अंध जोशी ने कहा कि 'तंग बांधते हुए जिस हथिनी ने गर्जना की है वह सो योजन जाकर अपने प्राण का त्याग करेगी।' फिर उदयन की आज्ञा से वसंत महावत ने हथिनी के दोनों ओर उसके मूत्र के चार घड़े बांधे। फिर वत्सराज, घोषवती[2], वासवदत्ता, कांचनमाला, धात्री और वसंत महावत - ये पांच जने वेगवती हथिनी पर आरूढ हुए। इतने में योगंधरायण ने आकर उदयन को हाथ से संज्ञा करके कहा, 'चले जाओ, चले जाओ।' फिर वह चलते चलते बोला कि "यह वासवदत्ता, कांचनमाला, वसंतक, घोषवती और वत्सराज वेगवती हथिनी पर बैठकर जाते हैं। "बडे वेग से हथिनी को चलाते हुए वत्सराज भी सबको मालूम पड़े। गुप्त रुप से भाग जाकर उसने क्षत्रिय व्रत को लोपा नहीं।" इस प्रकार पांच जन के साथ उदयन के चले जाने की खबर जानकर मानो पाश क्रीडा करता हो त्यों प्रद्योत हाथ घिसने लगा। फिर महापराक्रमी उज्जैनिपति ने तुरंत ही अनलगिरि हाथी को तैयार करवाकर उन पर महासुभटों को बिठाकर पकड लाने के लिये उसके पीछे रवाना किया। एकदम पच्चीस योजन पृथ्वी का उल्लंघन करके वह हाथी वेगवती हथिनी के समीप आ पहुँचा तो उदयन ने भयंकर हाथी को देखा। तुरंत ही चार घडे में से एक मूत्र का घडा पृथ्वी पर पछाड़कर उसने फोड डाला और हथिनी को भगाया। हथिनी का मूत्र सूंघने के लिये अनलगिरि हाथी क्षणभर के लिये खड़ा रहा। फिर बहुत मेहनत करके उसे हाँका, तब वापस वह उदयन के पीछे चला। दूसरी बार नज़दीक आने पर दूसरा मूत्र का घडा फोडा, तो हाथी फिर अटका। इस प्रकार चार घड़े फोड़कर

१. पिशाच लगा हो ऐसा मनुष्य। २. जिसके हाथ में घोषवती वीणा है वह।

वत्सराज ने अनलगिरि हाथी की गति अटकाई और चार टुकडे में सौ योजन पृथ्वी लांघकर वह कोशांबी नगरी में घुस गया। थकी हुई हथिनी तुरंत ही मृत्यु पा गयी। फिर इतने में मूत्र को सूंघता हुआ हाथी आ पहुँचा तो उस समय कोशांबीपति की सेना युद्ध करने के लिये सामने आयी तो हाथी पर बैठे महावत अनलगिरि को वापस मोडकर जैसे आये थे वैसे वापस उज्जैनि चले गये।

फिर कोप में यमराज जैसे राजा प्रद्योत ने सैन्य की तैयारी शुरु की, लेकिन भक्त ऐसे कुलसचिवों ने उसे युक्तिपूर्वक समजाकर रोका और कहा कि 'हे राजन् ! आपको कोई योग्य वर को कन्या तो देनी ही थी तो वत्सराज से अधिक ऐसा दूसरा कैसा जामाता पाओगे ? वासवदत्ता स्वयंवरा होकर उसे वरी; तो हे स्वामी ! उसके पुण्य से उसे योग्य वर की प्राप्ति हुई है ऐसा समजो। इसलिये युद्ध की तैयारी मत करो, उसे ही जामाता मानो; क्योंकि वह वासवदत्ता के कौमार्य को भी हरनेवाला वह हुआ है।' इस प्रकार सचिवों ने समजाया तो उसने हर्ष से वत्सराज पर जामातापने के योग्य ऐसी कई वस्तुएं भेजी।

एक बार उज्जैयिनी नगरी में बड़ी अग्नि लगी। प्रद्योत ने उसकी शांति का उपाय अभयकुमार को पूछा, तो अभय बोला, 'ज्यों विष का उपाय विष है त्यों अग्नि का उपाय अग्नि है। इसलिये दूसरी किसी जगह अग्नि लगाओ कि जिससे वह अग्नि शांत हो जायेगी।' राजा ने वैसा किया तो वह अग्नि शांत हो गई। राजा ने प्रसन्न होकर तीसरा वरदान दिया। वह भी अभयकुमार ने अमानत पर रखा। एक बार उज्जैयिनी नगरी में महामारी चली। उसकी शांति के लिये राजा ने अभयकुमार को पूछा। तो अभयकुमार बोला, 'आप आपके अंतःपुर में आओ तब विभूषित बनी आपकी सर्व रानियों में से जो रानी आपको दृष्टि से जीत ले उसका नाम मुजे देना।' राजा ने वैसा किया। उस समय शिवादेवी ने राजा को दृष्टि से जीत लिया। राजा ने वह बात अभयकुमार को बतायी। अभयकुमार बोला, 'वह महारानी शिवादेवी अपने हाथ से कूर का बलिदान देकर भूतों की पूजा करें। जो भूत लोमडी के रुप में सामने आये अथवा आकर सामने बैठे उसके मुख में देवी स्वयं अपने हाथ से कूर बलि डाले।' शिवादेवी ने उस अनुसार किया तो तुरंत ही उत्पन्न हुए अशिव (महामारी) की शांति हो गयी। जिससे प्रसन्न होकर राजा ने चौथा वरदान दिया। उस समय अभयकुमार ने चार वरदान इकठ्ठे मांगे कि, ''आप अनलगिरि हाथी पर महावत होकर बैठिये और मैं शिवादेवी के उत्संग (गोद) में पीछे बैठूं। फिर अग्निभीरु रुथ को तोडकर उसके काष्ट की चिता करवाकर उसमें प्रवेश करें।'' अभयकुमार के ऐसे मांगे हुए वरदान को देने में असमर्थ ऐसे प्रद्योत राजा ने खेद पाकर हाथ जोडकर अभयकुमार को छोड दिया और राजगृही की और बिदा किया। चलते समय अभयकुमार ने प्रतिज्ञा करके कहा, 'आपने तो मुजे छल से पकड मंगवाया था, लेकिन मैं तो आपको दिन के उजाले में, नगर के बीच में से, मैं राजा हूँ ऐसी पुकार करते हुए हर जाऊंगा।' फिर अभयकुमार क्रमशः राजगृही नगरी में आया और उस महामति ने कुछ काल बीतने दिया। एक बार अभयकुमार वणिक का वेश लेकर दो गणिका की रुपवती पुत्रियों को साथ रखकर अवंती नगरी में आया और राजमार्ग पर एक घर किराये पर लेकर रहा। किसी समय मार्ग से जाते हुए

प्रद्योत ने उन दो रमणियों को देखा और उन्होंने भी विलासपूर्वक प्रद्योत राजा को नीरखा। दूसरे दिन उस रागी राजा ने उनके पास एक दूती भेजी। दूती ने आकर कंइ प्रकार से बिनती की, लेकिन उन्होंने रोष से उसका तिरस्कार किया। दूसरे दिन भी आकर उसने राजा के लिये प्रार्थना की, उस समय भी कुछ धीरे से लेकिन रोषपूर्वक अवज्ञा करके निकाल दिया। तीसरे दिन उसने खेद के साथ आकर उसकी मांग की तब वे बोली कि 'यह हमारा सदाचारी भ्राता हमारी रक्षा करता है, लेकिन वह आज से सातवें दिन बाहरगाँव जानेवाला है। उस समय राजा को यहां गुप्त रुप से आना होगा, जिससे हमारा संग होगा।' यहां अभयकुमार ने प्रद्योत राजा के जैसे ही एक अपने आदमी को बनावटी पागल बनाकर रखा और उसका नाम भी प्रद्योत रखा। अभयकुमार लोगों में उसके लिये बार बार कहता था, "यह मेरा भाई पागल हो गया है। वह ज्यों त्यों भटकता है, मुजे उसे बड़ी मुश्किल से संभालना पड़ता है। क्या करना वह मालूम नहीं पड़ता।" अभयकुमार प्रतिदिन बैद्य के घर ले जाने के बहाने उसे पीड़ित की तरह खटिया पर सुलाकर बाँधकर मार्ग के बीच से ले जाता था। उस समय पुकार मचाते हुए पागल उन्मत्त होकर उच्च स्वर में आंख में अश्रु लाकर कहता था कि 'मैं प्रद्योत हूँ, मुजे यह हर ले जा रहा है।'

अब सातवाँ दिन आया तो प्रद्योत राजा गुप्त रुप में अभयकुमार के पडाव पर आया। तत्काल अभयकुमार के सुभटों ने हाथी की तरह उस कामांध को बांध दिया। फिर अभय 'इसे बैद्य के घर ले जाते हैं।' ऐसा कहकर वह पुकारता रहा और दिन के उजाले में शहर के बीच होकर उसे उठा ले गया। पहले से एक एक कोश पर अच्छे अश्ववाले रथ तैयार रखे हुए थे। उसके द्वारा निर्भय अभयकुमार ने राजगृही नगरी में एकदम पहुंचा दिया। फिर अभयकुमार उसे श्रेणिक राजा के पास ले गया, तो श्रेणिक राजा तत्काल खडग तानकर मारने दौड़े। अभयकुमार ने उनको समजाया। वे शांत हुए और वस्त्राभरण से सम्मान करके उन्होंने प्रद्योत राजा को हर्षपूर्वक बिदा किया।

एक बार कोई लक्कडहारे ने विरक्त होकर गणधर श्री सुधर्मा स्वामी से राजगृही में दीक्षा ली। फिर शहर में गोचरी वगैरह के कारण से घूमने पर उनकी पूर्वावस्था को जाननेवाले नगरी के लोग स्थान-स्थान पर उसका तिरस्कार, मजाक और निंदा करने लगे। ऐसी अवज्ञा को सहन नहीं कर सकने से उसने वहां से विहार करने के लिये श्री सुधर्मास्वामी को कहा। सुधर्मा स्वामी ने विहार करने का विचार अभयकुमार को बताया। अभयकुमार ने उसका कारण पूछा। उसके जवाब में सुधर्मा स्वामी ने पूर्वोक्त कारण बताया। फिर अभयकुमार ने एक दिन रहने की मांग की, तो सुधर्मा स्वामी लकडहारे मुनि के साथ वहां रुके।

दूसरे दिन अभयकुमार ने राज्यभंडार में से तीन कोटि रत्न निकलवाकर मार्ग के बीच ढेर करवाकर, पड़ह बजवाकर ऐसी आघोषणा करवाई कि 'हे लोगों ! यहां आईए। मैं आपको ये तीन कोटि रत्न दूंगा।' वह सुनकर बेसुमार लोग वहां एकत्रित हुए। फिर उसने कहा कि 'जो पुरुष सचित जल, अग्नि और स्त्री का सर्वथा त्याग करें उसके लिये यह रत्नराशि है।' तब वे बोले कि 'स्वामी ! ऐसा लोकोत्तर कार्य करने के लिये कौन समर्थ है ?' अभयकुमार बोला कि 'यदि आपमें कोई ऐसा

न हो तो जल, अग्नि और स्त्री को सर्वथा त्यागनेवाले ये लकडहारे मुनि का यह रत्नराशि हो।' वे बोले, 'अरे ! क्या ये साधु ऐसे त्यागी और दानपात्र हैं ? हमने उनका बेकार ही उपहास किया।' फिर अभयकुमार ने आज्ञा दी कि 'अब के बाद इन मुनि का तिरस्कार या हास्य किसी को नहीं करना है।' लोग यह बात मानकर अपने अपने स्थान पर गये।

इस प्रकार बुद्धि का महासागर और पितृभक्ति में तत्पर ऐसा अभयकुमार निस्पृह और धर्मासक्तपन से पिता का राज्य चलाता था। स्वयं धर्म में रहता था, जिससे प्रजा भी धर्म में ही प्रवर्तित थी, क्योंकि 'प्रजा और पशुओं की प्रवृत्ति गोप (राजा) के अधीन ही होती है।' अभयकुमार जिस तरह बारह प्रकार के राजचक्र में जाग्रत रहता था उसी तरह अप्रमादीपन के बारह प्रकार के श्रावकधर्म (व्रत) में भी जाग्रत रहता था। दोनों लोक को साधनेवाले उसने ज्यों दुर्जय ऐसे बाह्य शत्रुओं को जीता था त्यों आंतरिक शत्रुओं (राग-द्वेष) को भी जीता था।

एक बार श्रेणिक राजा ने अभयकुमार को कहा कि 'वत्स ! अब तू राज्य का आश्रय कर, तो मैं प्रतिदिन श्री वीरप्रभु की सेवा के सुख का आश्रय करुं।' पिता की आज्ञा के भंग से और संसार से भीरु ऐसा अभयकुमार बोला, 'आप जो आज्ञा करते हो वह योग्य है, लेकिन उसके लिये अभी थोडी सी राह देखिये।' ऐसी बात चल ही रही थी कि श्री वीरप्रभु उदायन राजा को दीक्षा देकर मरुमंडल में से आकर वहां समवसरे। यह खबर सुनकर 'आज मेरे सद्भाग्य से भगवंत यहां पधारे।' ऐसा सोचकर हर्ष पाकर अभयकुमार प्रभु के पास आये और भगवंत को भक्ति से नमन करके इस प्रकार स्तुति करने लगे, ''हे स्वामी ! यदि जीव का एकांत नित्यपना माने तो कृतनाश और अकृतागम दोष आते है, और एकांत अनित्यपना माने तो भी कृतनाश और अकृतागम दोष आते हैं। और यदि आत्मा का एकांत नित्यपना ले तो सुख-दुःख का भोग नहीं रहता और एकांत अनित्यपना ले तो भी सुख-दुःख का भोग नहीं रहता। पुण्य और पाप तथा बंध और मोक्ष जीव को एकांतनित्य माननेवाले दर्शन में संभव नहीं हैं तथा एकांतअनित्य माननेवाले दर्शन में भी संभवित नहीं है। क्रम और अननुक्रम द्वारा यदि जीव को नित्य माने तो उसकी अर्थक्रिया नहीं घटती तथा यदि एकांत क्षणिकपना माने तो भी अर्थक्रिया नहीं घटती। इसलिये हे भगवंत ! यदि आपके कहने अनुसार वस्तु का नित्यानित्य स्वरुप हो तो वह यथार्थ होकर भी उसमें कोई भी दोष नहीं आता। गुड कफ उत्पन्न करता है और सौंठ पित्त उत्पन्न करती है, लेकिन यदि वे दोनों औषध में हो तो कुछ भी दोष उत्पन्न नहीं होता। असत प्रमाण की प्रसिद्धि द्वारा दो विरुद्ध भाव एक जगह न हो ऐसा कहना भी मिथ्या है, क्योंकि चितकबरी वस्तु में विरुद्ध वर्ण का योग नजर आता है। विज्ञान का एक आकार वह विविधाकार के समुदाय से बना है ऐसा मानते हुए प्राज्ञ ऐसे बोद्ध अनेकांत मत को तोड नहीं सकते। 'एक और अनेकरुप प्रमाण विचित्र रुप में हैं' ऐसा कहने से वैशेषिक मतवाला एकांत मत को तोड़ नहीं सकता और सत्त्वादिक विलोम (विरुद्ध) गुणों से गुंथी गई आत्मा को मानते सांख्य मतवाले भी अनेकांत मत को तोड़ नहीं सकते और चार्वाक की संमति या असंमति हॅसिल करने की तो जरुरत ही नहीं। क्योंकि उसकी बुद्धि तो परलोक, आत्मा

और मोक्ष के संबंध में मूढ हो गई है। इसलिये हे स्वामी ! आपके कथन अनुसार उत्पाद, व्यय, ध्रुवपन में गौरस वगैरह की तरह सिद्ध की हुई वस्तु वस्तुरुप में रही है और वह सब प्रकार से मान्य है।''

इस प्रकार स्तुति करके पुनः प्रभु को नमन करके अभयकुमार ने पूछा कि 'हे स्वामी ! अंतिम राजर्षि कौन होगा ?' प्रभु बोले कि 'उदायन राजा।' अभयकुमार ने फिर से पूछा, 'हे प्रभु ! वह उदायन राजा कौन है ?' तो प्रभु ने उदायन राजा का चरित्र इस प्रकार कह सुनाया-

सिंधुसौविर देश में **वित्तभय** नाम का नगर है। उस नगर में **उदायन** नाम का पराक्रमी राजा था। वह वित्तभय वगैरह तीनसौं त्रैसठ नगर का और सिंधुसौविर वगैरह सोलह देश का स्वामी था। महासेन वगैरह दश मुकुटबद्ध राजाओं का नायक था और अन्य भी कईं सामान्य राजाओं का नेता[1] वह विजेता[2] था। सम्यक् दर्शन से पवित्र और तीर्थ की प्रभावना करनेवाली **प्रभावती** नाम की उसे एक प्रभावाली[3] पत्नी थी। उस प्रभावती के उदर से युवराज की धुरा को धारण करनेवाला **अभिचि** नाम का एक श्रेष्ठ पुत्र उसे हुआ था, जो **केशि** नाम के राजा का भानजा था।

चंपानगरी में जन्म से ही स्त्रीलंपट **कुमारनंदी** नाम का एक धनाढ्य सोनी रहता था। वह जो जो रुपवान कन्या को देखता या सुनता उसे तत्काल पांचसौं सोने के सिक्के देकर उनसे ब्याहता था। ऐसा करते हुए क्रमशः उसे पांचसौं स्त्रियां हुई थी। वह इर्ष्यालु सोनी एक स्तंभवाले महल में उनके साथ क्रीडा करता था। उस सोनी को **नागिल** नाम का एक अति प्यारा मित्र था। वह मुनि का उपासक और शुद्ध पंच अणुव्रत का धारक था। एक बार पंचशैलद्विप में रहनेवाली दो व्यंतर देवियां शक्रेन्द्र की आज्ञा से उनके साथ नंदीश्वर द्वीप की यात्रा करने चली। उनका पति विद्युन्माली, जो पंचशैलद्वीप का स्वामी था वह मार्ग से जाते हुए च्यूत हो गया, जिससे उन देवियों ने सोचा कि 'हम किसी ऐसे मनुष्य को ढूंढ डाले जो मृत्यु पाकर हमारा पति बने।' ऐसा सोचते हुए वह चंपापुरी के समीप निकली। वहां पांचसौं स्त्रियों के साथ क्रीडा करते हुए कुमारनंदी सोनी उन्हें नज़र आया तो वे उसे अपना पति करने की इच्छा से उसके पास आयी और अपना रुप दिखाया। वह देखकर कुमारनंदी बोला, 'तुम कौन हो ?' वे बोली, 'हे मानव ! हम हासा और प्रहासा नाम की दो देवियां हैं।' उनको देखकर वह सुवर्णकार उस पर मोह पाकर मूर्च्छा पाया। जब संज्ञा आयी, तब उसने क्रीडा करने की इच्छा से उनको प्रार्थना की। वे बोली, 'तुजे हमारी इच्छा हो तो तू पंचशैल द्वीप में आना।' इस प्रकार कहकर वह आकाश में उड़ गई। फिर उस सोनी ने राजा को द्रव्य देकर शहर में आकर पडह बजवाकर इस प्रकार आघोषणा करवाई कि 'जो मुझे पंचशैल गिरि पर ले जायेगा उसे मैं कोटि द्रव्य दूंगा।' किसी एक वृद्ध ने पडह सुनकर वह धन ग्रहण किया और एक जहाज तैयार करवाकर उसमें बहुत सारा पाथेय वगैरह भरा। लिया हुआ द्रव्य अपने पुत्रों में बांट दिया। फिर वह वृद्ध कुमारनंदी के साथ नाँव में बैठकर समुद्रमार्ग से चला। बहुत दूर जाने के बाद

१. स्वामी। २. जितनेवाला। ३. कांतिवाली - रुपवान

उस वृद्ध ने कुमारनंदी को कहा, "इस समुद्र के किनारे पर रहे पर्वत के प्रत्यंत भाग में बड का यह जो पेड दिखता है, उसके नीचे से होकर जब यह नाव निकले तब तू उस वृक्ष की डाली को पकड़ लेना। पंचशैल द्वीप में से तीन पैरवाले भारंड पक्षी उस पेड पर आकर बैठेंगे। वे सो जाय तो उनमें से एक के पैर के साथ तू लिपट पड़ना। तेरे शरीर को वस्त्र से उनके साथ दृढ़ता से बांधकर दृढ मुष्टि कर लेना। प्रातःकाल में उस भारंड पक्षी के साथ उड़कर तू पंचशैल द्वीप में पहुँच जायेगा। यह यानपात्र बड़े भँवर में फँसकर टकराकर टूट जायेगा। इसलिये यदि तू बड के साथ लिपटेगा नहीं तो यहीं मृत्यु पा जायेगा।

स्वर्णकार ने उसके कहे अनुसार किया, तो भारंड पक्षी उसे उठा गया और वह पंचशैल द्वीप में पहुँच गया। पंचशैल में आये हुए उस स्वर्णकार को देखकर दोनों देवियां खुश हो गयी। उस पर अनुरक्त होकर वह बोली, 'हे अनघ (पुण्यवान) ! तेरे इस मनुष्य शरीर से हम भोग्य नहीं बन सकेगी, इसलिये अग्नि में प्रवेश करने वगैरह से तू पंचशैलगिरि का अधिपति बन।' वह सुनकर 'अब मुजे क्या करना ? और कहाँ जाना ?' ऐसा सोनी ने कहा तो उसके हाथ का संपुट करके उसे चंपानगरी के उद्यान में छोड़ा। लोगों ने उसे पहचानकर उसका वृत्तांत पूछा। उसने अपनी कथा कह सुनायी। फिर हासा और प्रहासा का स्मरण करके वह अग्नि में जल मरने के लिये तैयार हुआ। उसके नागिल मित्र ने आकर प्रतिबोध दिया कि 'तूजे कायर पुरुष के भाँति ऐसे मरण से मरना उचित नहीं है। यह मनुष्य जन्म दुष्प्राप्य है। उसे तुच्छ भोगफल प्राप्ति के लिये वृथा मत हार। 'रत्न के बदले कौडी कौन मूर्ख लेगा ?' सुखभोग के लिये भी तू अर्हंत धर्म का आश्रय कर, क्योंकि स्वर्ग और मोक्ष को देनेवाला वह धर्म अर्थ और काम में भी कामधेनु समान है।" इस प्रकार कहकर नागिल मित्र ने उसे रोका, फिर भी वह अग्निप्रवेश करके मृत्यु पाकर पंचशैल का अधिपति बना।

अपने मित्र का ऐसा अपंडित मरण देखकर नागिल ने निर्वेद पाकर तुरंत दीक्षा ग्रहण की। निरतिचारचारित्र्य पालकर, कालक्रम से वह अच्यूत (बारहवें) देवलोक में देवता बना। उसने अवधिज्ञान से अपने मित्र को पंचशैल में उत्पन्न हुआ देखा। एकबार श्री नंदीश्वर की यात्रा करने के लिये देवता जा रहे थे, उनकी आज्ञा से वे हासा और प्रहासा गान करने के लिये साथ चली। उस समय उन्होंने ढोल बजाने के लिये विद्युन्माली को कहा। वह बोला, 'क्या मेरे पर स्वामी का हुकम चलता है ?' ऐसे अहंकार से मुख द्वारा हुंकार करते हुए उस विद्युन्माली के गले में मूर्तिमंत अभियोग कर्म हो त्यों वह ढोल चिपक पड़ा। हाथ पैर की तरह मानो शरीर के साथ उत्पन्न हुआ अवयव हो त्यों उस ढोल के कारण वह बड़ी लज्जा पाता था। फिर भी वह किसी प्रकार से उतार नहीं सका। उस समय हासा-प्रहासा बोली, 'अरे ! यहां जन्म लेनेवाले प्राणियों का यह कर्म है ही। इसलिये लज्जा मत पाओ। तुम्हें यह ढोल अवश्य बजाना पड़ेगा।' फिर हासा-प्रहासा ने गान करना शुरु किया और उस ढोल को बजाते हुए देवताओं के साथ वह आगे चला।

उस समय वह नागिल देव भी यात्रा करने जा रहा था। उसने हासा और प्रहासा के साथ

उस देव को ढोल बजाते हुए देखा। अवधिज्ञान से उसे अपना पूर्वभव का मित्र जानकर उसे कुछ कहने के लिये वह उसके समीप आया, लेकिन सूर्य की प्रभा से उल्लू की तरह उसके अंग की प्रभा को सहन करने में अशक्त ऐसा विद्युन्माली देव वहां से पलायन कर गया। उसे देखकर अच्यूत देव ने सायंकाल के सूर्य की तरह अपना तेज समेटकर विद्युन्माली को खड़ा रखकर कहा, 'मेरे सामने देख। तू मुजे नहीं जानता।' पटहधारी देवता ने कहा, 'मैं ऐसा कौन हूँ, जो तुम्हारे जैसे बडी वृद्धिवाले देवों को तथा इन्द्रादिक को भी न जानूं।' फिर अच्युत देव ने पूर्वभव के श्रावक का रुप लेकर हासा-प्रहासा के लिये मृत्यु पाते समय उसे जो प्रतिबोध दिया था, वह याद दिलाकर कहा, ''हे मित्र ! उस समय मेरे उपदेश से तूने आर्हंत धर्म का आश्रय नहीं किया और मूढ बुद्धि से पतंग की तरह अग्नि में गिरकर मृत्यु पाया और मैं तो जिनधर्म को जानकर दीक्षा पालकर मृत्यु पाया। इसलिये हम दोनों को अपने अपने पूर्वकर्म का ऐसा अलग अलग परिणाम आया।'' वह सुनकर पंचशैलपति देव को बहुत खेद उत्पन्न हुआ, जिससे वह बोला, 'हे मित्र ! अब मैं क्या करुं ?' तब नागिल देव ने कहा, ''मित्र ! तेरे गृहस्थपन की चित्रशाला में कायोत्सर्गमुद्रा में रहे भावयति श्री महावीरप्रभु की मूर्ति करवा। हे बंधु ! उस आर्हंती प्रतिमा को कराने से तुजे आगामी भव में बोधिबीजरुपी महाफल की प्राप्ति होगी, क्योंकि राग, द्वेष और मोह को जीतनेवाले ऐसे श्री अरिहंत की प्रतिमा जो कराए उसे स्वर्ग तथा मोक्ष देनेवाले धर्म की प्राप्ति होती है।'' जिन प्रतिमा करानेवाले को कुत्सित (खराब) जन्म, कुगति, दारिद्र, दुर्भाग्य और दूसरे किसी प्रकार का कुत्सितपन प्राप्त नहीं होता।''

विद्युन्माली देव इस प्रकार की उसकी आज्ञा का स्वीकार करके तुरंत ही **क्षत्रियकुंड** गाँव में आया। वहां उसने कायोत्सर्ग में रहे हमको देखा। फिर महाहिमवान गिरि पर जाकर गोशिर्ष चंदन को छेदकर उसने जैसी हमारी मूर्ति देखी थी वैसी काष्ट की सर्व अलंकारयुक्त प्रतिमा बनायी। फिर उच्च कक्षा के चंदन काष्ट के अपने घड़े हुए संपुट में धनाढ्य ज्यों भंडार को छुपाकर रखे त्यों उसने वह प्रतिमा स्थापित रखी। एक बार कोई एक जहाज उत्पातयोग से छः मास से समुद्र में भटकता हुआ उस विद्युन्माली की नजर में आया, जिससे तत्काल उसका उत्पात हरकर उसने खलासी को वह प्रतिमावाला संपुट (पेटी) इस प्रकार कहकर अर्पण किया कि, ''हे भद्र ! तेरा कल्याण हो। तू उपद्रव रहित समुद्र को पार करके सिंधुसौविर देश में स्थित वित्तभय नगर में जाना और उस नगर के चौक में खडे रहकर ऐसी आघोषणा करना कि 'इस देवाधिदेव की प्रतिमा कोई ग्रहण करो, ग्रहण करो।' खलासी ने इस प्रकार कबूल किया। फिर वह खलासी उस प्रतिमा के प्रभाव से तत्काल समुद्र को नदी समान पार करके किनारे पर आ पहुँचा। वहां से सिंधुसौविर देश में वित्तभय नगर में आकर चौक में खडे रहकर उसने उस देव के कहे अनुसार आघोषणा की। उस समय तापसों के परम भक्त उदायन राजा, कुछ त्रिदण्डी, ब्राह्मण तथा तापस वहां आये। उन्होंने विष्णु, ब्रह्मा, शंकर या अन्य अपने अपने इष्टदेव का स्मरण करके कुहाडी से उस काष्ट के संपुट को तोड़ने लगे। लोगों ने भी अपनी रुचि अनुसार उसकी स्तुति करके कइं प्रहार किये, लेकिन लोहे के कुहाडे भी मानो कथीर

के हो त्यों उलटे ही टूट गये। ऐसे आश्चर्य में प्रसक्त बने राजा को वहां खडे रहते हुए ललाट तपाये ऐसा मध्याह्न समय हुआ, लेकिन संपुट नहीं खुला। इतने में राजा के भोजन का समय बीत गया होने से रानी प्रभावती ने राजा को बुलाने के लिये एक दासी को भेजा। 'पतिभक्ता स्त्री को ऐसा ही घटित है।' राजा ने वह आश्चर्य देखने के लिये आने की प्रभावती को आज्ञा दी, तो रानी वहां आयी। उसने हकीकत पूछी तो राजा ने कह सुनायी। वह सुनकर प्रभावती बोली, "हे स्वामी ! ब्रह्मादिक देव कोई देवाधिदेव नहीं हैं। देवाधिदेव तो एक भगवान अरिहंत परमात्मा ही हैं। इसलिये इस संपुट में तो प्रभु की ही प्रतिमा होगी, इसमें थोडा सा भी संशय नहीं है। ब्रह्मादिक के नाम-स्मरण से वह प्रतिमा दर्शन नहीं देती, लेकिन मैं उन देवाधिदेव के नाम-स्मरण से अरिहंत प्रभु की प्रतिमा को इसमें से निकालकर सब लोगों को चमत्कार दिखाऊंगी।" फिर प्रभावती यक्षकर्दम द्वारा संपुट को सींचकर पुष्पांजलि क्षेपन (अर्पण) करनेपूर्वक प्रणाम करके उच्च स्वर में बोली, 'राग, द्वेष और मोह से रहित तथा अष्टप्रातिहार्य से आवृत्त ऐसे देवाधिदेव सर्वज्ञ अर्हंत मुजे दर्शन दीजिए।' इस प्रकार बोलते ही वह प्रतिमावाला संपुट प्रातःकाल में कमलकोश खुले त्यों अपने आप खुल गया और उसके अंदर रही गोशिर्षचंदनवाली देवनिर्मित अम्लान माल्य को धारण करती हुई सर्व अंग से संपूर्ण अरिहंत प्रभु की प्रतिमा सबको नजर आयी। उस समय अर्हंतशासन की अत्यंत प्रभावना हुई। प्रभावती उसे नमन करके इस प्रकार स्तुति करने लगी, 'सौम्य दर्शनवाले, सर्वज्ञ, अपूनर्भव, जगत के गुरु, भव्यजन के आनंददायी और विश्व के चिंतामणिरुप हे अर्हंत् ! आप जय पाये।' फिर प्रभावती उस खलासी का बंधु की तरह सत्कार करके उस प्रतिमा को उत्सवपूर्वक अपने अंतःपुर में ले गयी और एक सुंदर चैत्य बनवाकर उसमें उस प्रतिमा को पधराया। फिर त्रिकाल वादन-गान पूर्वक वह उसकी पूजा करने लगी। एक समय प्रभावती ने पति के साथ उस प्रतिमा की हर्ष से पूजा करके निदोर्ष संगीत का आरंभ किया। उस समय राजा व्यंजन, धातु, स्वर और रागस्पर्श करते हुए श्रवण करने योग्य वीणा को बजाने लगा और प्रभावती अंगहार को स्पर्श करते हुए तथा सर्व अंग के अभिनय को दर्शाते हुए तांडवपूर्वक प्रीति से नृत्य करने लगी। इस प्रकार करते हुए एक समय राजा ने क्षणभर प्रभावती के मस्तक को देखा नहीं और रणभूमि में हो त्यों सिर्फ उसके धड़ को ही नाचते देखा। यह अरिष्ट देखने से राजा तत्काल क्षोभ पा गया, जिससे मानो निंद्रा आ गयी हो त्यों उसके कर में से वीणा बजाने की कांबी गिर गयी। अचानक तांडवनृत्य का भंग होने से रानी क्रोध पाकर बोली, 'अरे स्वामी ! आप वाद्य बजाते हुए क्यों बंद हुए ? क्या मैं ताल में से भ्रष्ट हो गयी ?' इस प्रकार उसने बार बार कांबी गिर जाने का कारण पूछा तब अंत में राजा ने जो देखा था वह बता दिया। "स्त्री का आग्रह बलवान है।" वह सुनकर रानी बोली, "हे प्रिय ! ऐसे दुर्निमित्त से मेरा आयुष्य अल्प है, ऐसा निश्चय होता है। लेकिन जन्म से अर्हंत धर्म को पालनेवाली ऐसी मुजको मृत्यु का किंचित भी भय नहीं है। उलटे ही उस दुनिर्मित्त का दर्शन मुजे तो आनंद का एक कारण है, क्योंकि वह मुजे सर्वविरति स्वीकार करने का समय सूचित करता है।" इस प्रकार कहकर हृदय के साथ विचार करते हुए प्रभावती अंतःपुर में गयी, लेकिन अर्हंत

धर्म के वचन से जिसके कान अविद्य हैं, ऐसा राजा तो मन में कुछ व्यग्र बना।

एक बार प्रभावती ने स्नान, शौच करके देवार्चन के लिये योग्य ऐसे वस्त्र दासी से मंगवाये। दासी वस्त्र लायी। भावि अनिष्ट के कारण रानी ने उस वस्त्र को रक्त (लाल) देखे। ये वस्त्र पूजा के समय अनुचित हैं, ऐसा मानकर रानी दासी पर क्रोधित हुई, जिससे उसने तत्काल दासी पर प्रहार किया। इतने प्रहार से ही वह मृत्यु पा गयी। 'मृत्यु की गति विषम हैं।' फिर प्रभावती ने उस वस्त्र को उज्ज्वल देखे, जिससे वह सोचने लगी कि, 'मुजे धिक्कार है, मैंने मेरे प्रथम व्रत को खंडित किया। अन्य पंचेन्द्रिय का विघात किया हो तो भी वह नरक का कारण है, तो इस स्त्री-हत्या की तो बात ही क्या करनी ? इसलिये अब तो मुजे चारित्र ग्रहण करना ही श्रेयकारी है।' फिर रानी ने उस दुर्निमित्त राजा को बताकर स्वयं किया हुआ स्त्रीहत्या का महापाप और स्वयं को उत्पन्न वैराग्य भी अंजलि जोड़कर बताया। फिर प्रार्थना की कि "हे स्वामी ! मैं सचमुच अल्पायु हूँ, इसलिये सर्वविरति के लिये मुजे इसी समय आज्ञा दे। पहले तो आपने मुजे मस्तक बिना देखी थी, और इस समय मैंने वस्त्र के रंग का परिवर्तन देखा। ये दो दुर्निमित्त हुए। इन दो दुर्निमित्त से मुजे अल्पायु का निश्चय होता है। इसलिये अब आप इस समय के योग्य, दीक्षा लेने के लिये मुजे बाधा (मना) मत पहुचाना।" इस प्रकार उसने बड़े आग्रह से कहा तब राजा बोला, 'हे महादेवी ! जैसा आपको जँचे ऐसा करें। लेकिन हे देवी ! यदि आप देवपना पाओ तो जरुर मुजे प्रतिबोध करने आना। मेरे लिये क्षणभर के लिये स्वर्ग के सुख का विघ्न सहन करना।' यह बात कबूल करके प्रभावती सर्वविरतिपना स्वीकार के अनशन आराधकर मृत्यु पायी और प्रथम देवलोक में महर्द्धिक देवता बनी।

देवाधिदेव की प्रतिमा जो अंतःपुर के चैत्य में रखी थी उसे **देवदत्ता** नाम की प्रभावती की कुब्जा दासी उसी अनुसार पूजती थी। देवता बनी प्रभावती ने उदायन राजा को कइं तरह से प्रतिबोध प्राप्त कराना शुरु किया, लेकिन वह प्रतिबोध नहीं पाया। अवधिज्ञान से उसका उपाय सोचकर इस प्रकार प्रयोग किया - एक बार वह प्रभावती देव तापस के रुप में हाथ में दिव्य अमृतफल भरा पूर्ण पात्र लेकर उदायन राजा के पास आया। एक तो तापस, और ऐसा उत्तम नजराना लेकर आया, जिससे सोने में सुहागे जैसा हुआ। ऐसा सोचकर तापस के भक्त राजा ने उस तापस को बड़ा सम्मान दिया। फिर मानो परमानंद के बीज हो त्यों पके हुए और कर्पूर की खुशबोवाले वह इष्टफल राजा ने खाये, जिससे प्रसन्न होकर राजा ने उस तापस को पूछा, 'हे महाशय ! ऐसे अपूर्व फल आपने कहां से पाये ? वह स्थान मुजे दिखाये।' तापस बोला, 'इस नगर के नजदीक में ही दृष्टिविश्राम[1] नाम का एक आश्रम है। उसमें ऐसे फल होते हैं।' राजा ने कहा, 'चलिए, मुजे भी वह आश्रम दिखाए।' फिर देवता राजा को मानो विद्या देनी हो त्यों वहां से अकेला ही साथ ले चला। थोड़े ही दूर जाकर उसने अपनी दिव्य शक्ति से वैसे ही फलों से मनोहर और

१. दृष्टि को आनंद दे ऐसा सुंदर।

अनेक तापसों से व्याप्त ऐसा नंदनवन जैसा उद्यान दिखाया। 'यह तापसों का वन है और उनके पर मेरी भक्ति है, इसलिये अब यहां मेरी फल की इच्छा पूरी होगी।' ऐसा मानकर राजा बंदर की भाँति फल लेने दौडा, तो तत्काल वे मायावी तापसं क्रोध से उसके सामने दौडे आये और राजा को मारने लगे, जिससे क्रोध पाकर नष्ट बुद्धिवाला राजा चोर की तरह भागने लगा। भागते भागते आगे के भाग में उसने साधुओं को खड़े देखा। उन्होंने राजा को 'भय मत पाओ' ऐसा कहा। राजा उनकी शरण में गया। उन्होंने दिये हुए आश्वासन से स्वस्थ होकर राजा ने सोचा कि 'धिक्कार है। इस क्रूर कर्मवाले तापसों को जिन्होंने मुजे जन्म से ही छला है।' फिर साधुओं ने उसे शिक्षा दी कि 'इस संसार में एक धर्म ही शरण करने योग्य है, जिससे धर्मार्थी सद्‌बुद्धिवाले पुरुष को देव, धर्म और गुरु की परीक्षा करनी चाहिए। अट्ठारह दोषों से मुक्त हो वही देव, जिसमें दया मुख्य हो वहीं धर्म और ब्रह्मचारी और आरंभ परिग्रह रहित हो वही गुरु कहलाता है।' ऐसे उपदेश द्वारा उन साधुओं ने राजा को प्रतिबोध किया, जिससे हृदय में अंकित किया हो त्यों जिनधर्म उसके चित्त में स्थिर हो गया। फिर वह देव प्रत्यक्ष होकर राजा को अर्हंत धर्म में स्थापित करके अदृश्य हो गया तो राजा ने स्वयं को सभास्थान में ही बैठे हुए देखा। उस दिन से उदायन राजा देवतत्त्व, गुरुतत्त्व से सम्यक् प्रकार से अधिवासित हुआ।

उस समय में **गांधार** देश का **गांधार** नाम का कोई पुरुष शाश्वत प्रतिमा की वंदना करने की इच्छा से वैताढ्यगिरि समीप आया और वैताढ्यगिरि के नीचे उपवास करके बैठा। तो शासनदेवी ने संतुष्ट होकर उसका मनोरथ पूर्ण किया। फिर कृतार्थ बने उस पुरुष को देवी ने वैताढ्यगिरि की तलहटी में रखा और मनवांछित मनोरथ को देनेवाली एकसौं आठ गोलियां उसे दी। उसमें से एक गोली मुख में रखकर उसने सोचा कि 'श्री वित्तभयनगर में श्री देवाधिदेव की प्रतिमा की मुजे वंदना करनी है।' ऐसा कहते ही वह वित्तभयनगर में पहुँचा। वहां उस कुबजा दासी ने उसे देवाधिदेव की प्रतिमा की वंदना करवाई। वहां रहते हुए एक दिन उस गांधार के शरीर में कोई व्याधि उत्पन्न हुआ, जिससे अर्हंत धर्म में वत्सल ऐसी कुबजा ने उसकी सेवा की। सद्‌बुद्धिवाले गांधार ने अपना अवसानकाल समीप आया जानकर कुबजा को वह गोलियां दे दी और स्वयं दीक्षा ग्रहण की। कुरुपा कुबजा ने रुप की इच्छा से एक गोली मुख में रखी। जिससे वह उपपादशैया में उत्पन्न होकर दिव्य रुप को धारण करनेवाली देवी जैसी तत्काल हो गई। उसके सब अंग का वर्ण सुवर्ण समान हो गया, जिससे लोग उसे **सुवर्णगुलिका** ऐसे नाम से पुकारने लगे। फिर उसने दूसरी गोली मुख में रखकर सोचा कि 'यदि योग्य पति न हो तो मेरा यह रुप बेकार है। यहां के उदायन राजा तो मेरे पिता समान हैं और अन्य तो उसके सेवक समान हैं। इसलिये प्रचंडशासन वाला चंडप्रद्योत राजा मेरा पति बने।' फिर देवता ने प्रद्योत राजा के पास जाकर उसके रुप का वर्णन किया। वह सुनकर प्रद्योत ने कुबजा की प्रार्थना के लिये दूत भेजा। दूत ने वहां जाकर प्रार्थना की तो उसने दूत को कहा, 'मुजे प्रद्योत राजा दिखा।' दूत ने आकर उस प्रकार प्रद्योत को कहा, तो तत्काल ऐरावत पर बैठे हुए इन्द्र की शोभा को धारण करते हुए प्रद्योत राजा अनिलवेग हाथी पर बैठकर रात्रि में वहां

आया। वह कुबजा ज्यों उसे पसंद थी, त्यों वह कुबजा को भी पसंद आया। फिर प्रद्योत ने कुबजा को कहा, 'हे कमलाक्षी ! मेरी नगरी में चल।' कुबजा बोली, 'स्वामी ! जिसके बिना मैं एक पल भर भी जी सकूं ऐसा नहीं है ऐसी यह देवाधिदेव की प्रतिमा को छोड़कर मैं कहीं भी जा सकूं ऐसा नहीं है। इसलिये हे राजन् ! इस प्रतिमा की भाँति दूसरी प्रतिमा आप करा लाओ कि जिससे वह प्रतिमा यहां छोड़कर इस प्रतिमा को साथ ले जाये।' फिर राजा ने उस प्रतिमा को बराबर निहार लिया और वह रात्रि उसके साथ बिताकर प्रातःकाल में वापस उज्जैनि में आया। उज्जैनि में आकर जैसी प्रतिमा देखी थी वैसी ही उच्च कोटि के चंदनकाष्ठ की एक प्रतिमा बनवाई।

फिर उसने अपने सचिवों को पूछा कि 'मैंने यह देवाधिदेव की नई प्रतिमा कराई है, इसकी प्रतिष्ठा कौन करेगा ?' सचिव बोले कि ''स्वामी ! कोशांबी नाम की एक नगरी है। उसमें सार्थक नामवाला **जितशत्रु** नाम का राजा था। सर्व विद्यारुपी सागरों का पारगामी **काश्यप** नाम का एक ब्राह्मण उसका पुरोहित था। उसे **यशा** नाम की स्त्री थी। उस विप्र दंपती को **कपिल** नाम का पुत्र हुआ। कपिल की शिशु अवस्था में ही पिता काश्यप की मृत्यु हुई, जिससे कपिल अनाथ हो गया। जितशत्रु राजा ने उस बालक कपिल का अनादर करके काश्यप के पुरोहितपद पर दूसरे ब्राह्मण को स्थापित किया। 'योग्यता बिना आम्नाय कैसे रहे ?' छत्र की संप्राप्ति से सूर्य की किरणें जिसके शरीर को स्पर्श नहीं करती वैसा वह ब्राह्मण नाचते घोडे पर आरुढ होकर नगर में घूमने लगा। उसे देखकर कपिल की माता अपने पति की समृद्धि को याद करके रुदन करने लगी। 'मंद भाग्यवाले को दुःख में रुदन ही मित्र समान है।' माता को रुदन करते देखकर कपिल भी उच्च स्वर में रुदन करने लगा, क्योंकि 'दर्पण के प्रतिबिंब की भाँति आप्तजन में शोक संक्रमित होता है।' दोनों नेत्रों से अश्रु की दो धारवाला माता का मुख ऊंचा करके कपिल बोला, 'हे माता ! आप किसलिये रोती हो ?' माता ने उस पुरोहित को दिखाकर कहा, 'वत्स ! इस ब्राह्मण की तरह तेरे पिता भी एक समय ऐसी ही संपत्तिवाले थे। वह याद करके मैं रुदन करती हूँ। जब तुने तेरे पिता समान गुण उपार्जित नहीं किये तब तेरे पिता की समृद्धि उस ब्राह्मण को प्राप्त हुई। निर्गुणी पुत्र पिता की समृद्धि को संभाल नहीं सकते।' वह सुनकर कपिल बोला, 'माता ! मैं गुण का अर्थी होकर अब अभ्यास करुं।' माता ने कहा, 'यहां तो सब तेरे ईर्ष्यालु लोग हैं, इसलिये यहां तूजे कौन पढायेगा ? यदि तेरी ऐसी वृत्ति हो तो श्रावस्ती नगरी में जा। वहां **इन्द्रदत्त** नाम का तेरे पिता का मित्र रहता है। हे प्रिय पुत्र ! वह सर्व शास्त्रवेत्ता ब्राह्मण विद्या के लिये आये तूजे पुत्र समान जानकर पितावत् प्रसन्न होकर कलापूर्ण करेगा (पढ़ायेगा)।' फिर कपिल इन्द्रदत्त के पास गया और विज्ञप्ति दी कि 'मुजे शास्त्राद्यन कराईए। आपके बिना मेरी दूसरी कोई शरण नहीं है।' उपाद्याय ने कहा, 'वत्स ! तू मेरे भाई का पुत्र है। ऐसा विद्या का मनोरथ करके तूने तेरे पिता को लज्जित नहीं किया, पर मैं तूजे क्या कहूं ? निर्धनता के कारण तेरा आतिथ्य करने में मैं अशक्त हूँ। तू अभ्यास तो कर, लेकिन नित्य भोजन कहां करेगा ? भोजन बिना पढाई का मनोरथ व्यर्थ होगा क्योंकि भोजन के बिना तो मृदंग भी नहीं बजता।' कपिल बोला, 'पिता ! भिक्षा द्वारा मेरा भोजन हो जायेगा।

मुंज की कटिमेखला अर्थात् जनेऊ धारण करनेवाले विप्र बटुकों को 'भिक्षाम् देहि' इतने शब्दों से भोजन मिलना सिद्ध है। ब्राह्मण कदापि हाथी पर चढ़ा हो तो भी भिक्षा मांगने में शरमाता नहीं है। भिक्षुक ब्राह्मण राजा कि भाँति कभी भी किसीके अधीन नहीं है।' इन्द्रदत्त बोला, 'वत्स ! तपस्वियों को तो भिक्षा श्रेष्ठ है, लेकिन तूजे तो शायद एक बार भिक्षा न मिली तो अभ्यास किस प्रकार कर सकेगा ?' इस प्रकार कहकर उस बालक को अपनी ऊंगली पकडाकर इन्द्रदत्त किसी धनाढ्य शालिभद्र नाम के सेठ के घर गया और घर के बाहर खडा रहा। 'ओम् भूर्भूवः स्वः' आदि गायत्री मंत्र को उच्च स्वर में बोलकर अपनी आत्मा को ब्राह्मण के रुप में दर्शाई। श्रेष्ठी ने उसे बुलाकर पूछा, 'तू क्या मांगता है ?' वह बोला, 'इस विप्र बटुक को प्रतिदिन भोजन दीजिए।' श्रेष्ठी ने वह देने के लिये स्वीकार किया। फिर कपिल सेठ के घर भोजन करके आकर इन्द्रदत्त से प्रतिदिन अध्ययन करने लगा। वह शालिभद्र सेठ के घर भोजन करने जाता तब हर रोज कोई एक युवा दासी उसे परोसती थी। यह युवा विद्यार्थी उपहास करते हुए उसके उपर रागी बना। 'युवा पुरुषों को स्त्री का सान्निध्य कामदेव रुपी वृक्ष के अभिलाष तुल्य है।' वह दासी भी उस पर रक्त बनी। क्रमशः वे परस्पर कामक्रीडा करने लगे।

एक बार दूसरे पुरुष को न चाहती ऐसी उस दासी ने एकांत में आकर कपिल को कहा, 'आप ही मेरे प्राणनाथ हो, लेकिन आप निर्धन हो। जिससे मैं मात्र प्राणयात्रा के लिये दूसरे पुरुष को भजती हूँ।' कपिल ने यह कबूल किया। एक बार उस नगर में दासियों के उत्सव का दिन आया। उस समय यह दासी पुष्प, पत्र वगैरह की चिंता में खेद पायी। उसे खेद करती हुई देखकर कपिल बोला, 'हे सुंदरी ! औंस से मुरझाई हुई कमलिनी की तरह तू क्यों निस्तेज दिखती है ?' वह बोली, 'कल दासियों का महोत्सव है। उसमें मेरे पास पुष्प-पत्रादि कुछ नहीं हैं, जिससे मैं दासियों के बीच मानहानि पाऊंगी। अब मेरी क्या गति होगी ?' उसके कहे हुए दुखरुपी व्यंतर के आवेश से कपिल विवश हो गया और अधीरजता से मौन धरकर बैठा, तो दासी बोली, 'हे प्रिय ! आप खेद मत करो। इस नगर में धन नाम का एक श्रेष्ठी है। प्रातःकाल पहले उसे जो जगाए उसे वह दो माषा सुवर्ण देता है। इसलिये रात्रि बीतने से पहले आप उसके घर जाना और वहां मृदु स्वर में कल्याण राग गाना।' कपिल ने ऐसा करना कबूल किया। फिर उस रात्रि में बड़ा अंधेरा था, ऐसे समय उसने धन श्रेष्ठी के घर कपिल को भेजा। मनुष्यों के आवागमन विहिन मार्ग पर कपिल शीघ्रतापूर्वक जा रहा था। उसे चोर मानकर पुररक्षकों ने पकड़कर बांध लिया। 'चोर की प्रवृत्ति ऐसी होती है।' प्रातःकाल में उसे प्रसेनजित राजा के पास ले गये। राजा ने उसको पूछा, तो उसने दो माषे सुवर्ण के लिये जलदी जाने की कथा जैसी थी वैसी कह दी। राजा को यह बात सुनकर उस पर बडी दया आयी। वह बोला, 'अरे द्विज ! तेरी जो इच्छा हो वह मांग ले, मैं दूंगा।' यह सुनकर 'मैं सोचकर मांगूगा।' ऐसा कहकर कपिल अशोकवन में जाकर योगी की तरह एकांत में एकचित्त से चिंतन करने लगा। 'यदि दो माषे सुवर्ण मांगू, तो उससे सिर्फ अन्न-वस्त्र आदि मिलेंगे, इसलिये राजा से सो सुवर्णमुद्रा मांग लूं। लोभ में पड़ने के बाद याचना किसलिये हो ?' फिर सोचा कि "सो

सुवर्णमुद्रा से कुछ वाहन वगैरह की समृद्धि न होगी, इसलिये इष्ट अर्थ की सिद्धि के लिये एक हजार सुवर्णमुद्रा मांग लूं।'' फिर सोचा कि ''एक हजार सुवर्णमुद्रा में से मेरे बच्चों का विवाह आदि उत्सव किस प्रकार होगा ? इसलिये एक लाख सुवर्णमुद्रा मांग लूं, क्योंकि याचना करने में मैं चतुर हूँ।'' फिर सोचा कि ''एक लाख सुवर्णमुद्रा से मेरे मित्रों और सगे-संबंधियों तथा दीनजनों का उद्धार किस प्रकार होगा ? इसलिये सो करोड अथवा हजार करोड सुवर्णमुद्राएं मांग लूं।'' ऐसा चिंतन करते हुए किसी शुभकर्म के उदय से उसे शुभ परिणामवाली बुद्धि उत्पन्न हुई। 'बुद्धि कर्मानुसारिणी है।' वह वापस सोचने लगा कि 'अहो ! दो माषे सुवर्ण से मुजे जो संतोष था, वह संतोष इस समय कोटि सुवर्णमुद्रा की प्राप्ति के विचार में डूब जाने से मानो भय पाया हो त्यों मुजे छोड़ गया लगता है। मैं यहां विद्या पढ़ने के लिये आया, उसमें मुजे ऐसा दुर्व्यसन हुआ। वह तो सागर की ओर जाने की इच्छावाला हिमालय पर चला जाए ऐसा हुआ है। मुज जैसे अधम में जो गुरु का ज्ञान था वह स्थल में कमल बोने जैसा है, क्योंकि मैंने अकुलीन के योग्य ऐसा एक नीच दासी का भी दासपना किया है। लेकिन अब ऐसे महा बूरे विषयों का क्या काम ?' इस प्रकार विचार करते हुए वह परम संवेग पाया और तत्काल जातिस्मरण उत्पन्न होते ही वह स्वयंबुद्ध बना। तुरंत ही अपने आप उसने केश का लोच किया और देवता द्वारा रजोहरण तथा मुखवस्त्रीका वगैरह उसने ग्रहण की। फिर वह राजा के पास आया, तो राजा ने पूछा कि, 'कहिए, क्या सोचा ?' फिर उसने अपने मनोरथों का विस्तार सुनाकर कहा -

यथा लाभस्तथा लोभो, लाभे लोभः प्रवर्द्धते।
द्विमाष्या चिंतितं कार्यं, कोट्यापि हि न निष्टितं।।

''ज्यों ज्यों लाभ होता है त्यों त्यों लोभ होता है। अर्थात् लाभ से लोभ बढ़ता है। देखिए, दो माषे सुवर्ण से सोचा हुआ कार्य कोटि सुवर्णमुद्रा से भी पूरा नहीं हुआ।'' राजा चकित होकर बोला, ''मैं आपको करोड सुवर्ण मुद्राएं दूंगा, इसलिये व्रत को छोड़ दो और भोग भोगो, क्योंकि व्रत के फल के लिए कोई प्रतिभू (विश्वास) नहीं है।'' कपिलमुनि बोले, 'हे राजन् ! अनर्थ को ही देनेवाले ऐसे द्रव्य की मुजे अब कुछ जरुरत नहीं। मैं तो अब निर्ग्रंथ (साधु) बना हूँ, इसलिये हे भद्र ! आपको धर्मलाभ हो।' इस प्रकार कहकर कपिलमुनि वहां से निकले और निर्मम, निर्स्पृह तथा निरअहंकारी होकर पृथ्वी पर विहार करने लगे। इस प्रकार दृढ़ता से व्रत पालते हुए उन महामुनि कपिल को छः मास का दीक्षापर्याय होने पर उज्जवल केवलज्ञान हुआ।

राजगृही नगरी के अंतराल में अट्ठारह योजन प्रमाणवाली एक भयंकर अटवी है। उसमें **कडदास** के नाम से प्रसिद्ध **बलभद्र** वगैरह पांचसौं चोर रहते थे। वे प्रतिबोध के योग्य हैं ऐसा कपिलमुनि को मालूम पड़ा, जिससे उन चोर लोगों पर उपकार करने के लिये सर्व प्राणियों को शरण करने योग्य कपिल केवली उस दारुण अटवीं में चले। उस चोर में से एक चोर बंदर की तरह वृक्ष पर चढ़ा हुआ था। उसने कपिलमुनि को दूर से आते देखा, तो उस चोर ने सोचा कि 'हमारा

पराभव करने के लिये यह कोई आ रहा है।' उसने यह बात सेनापति को बतायी। 'आज यह एक खिलौना आया' यह कहते हुए सेनापति मुनि के पास आया। उस अज्ञ सेनापति ने मुनि को आज्ञा दी कि 'हे श्रमण ! नृत्य करों।' कपिलमुनि बोले कि 'कोई वाद्य बजानेवाला वादक नहीं है, तो वाद्य बिना नृत्य किस प्रकार होगा ? क्योंकि कारण बिना कोई कार्य होता नहीं है।' फिर पांचसौं चोर हाथ से ताली बजाने लगे, तो कपिल मुनि नाचने लगे और श्रवण को सुख पहुंचे उस प्रकार उच्च स्वर में इस तरह गाने लगे, ''इस नाशवंत संसार में पृथ्वी पर अनेक प्रकार के दुःख रहे हैं, इसलिये ऐसा कार्य करुं कि जिससे मैं कदापि भी दुर्गति नहीं पाऊं।'' ऐसे अर्थ के पांचसौं ध्रुवपन (गीत) कपिलमुनि ने गा दिखाये, जो सब प्राकृत भाषा में और श्रवण करने योग्य राग में बनाये थे। महर्षि कपिल के गाए हुए इन ध्रुवपदों में से अलग अलग पदों से अलग अलग चोर प्रतिबोध पाते हुए अंत में पांचसौं चोर प्रतिबोध पा गये। फिर कपिल महामुनि ने उन पांचसौं चोरों को दीक्षा दी। यह सब उन्होंने ज्ञानचक्षु से देखा ही था। वे ब्रह्मर्षि कपिल राजगृही नगरी में जाकर देवाधिदेव श्री महावीर की आज्ञा लेकर इस समय आपकी नगरी को पवित्र कर रहे हैं। वह स्वयंबुद्ध केवली श्वेतांबरियों में शिरोमणि हैं। वह यदि आपके पुण्योदय से इस प्रतिमा की प्रतिष्ठा करे तो बहुत ही उत्तम होगा।''

फिर उज्जैनि के राजा ने कपिल केवली के पास जाकर उनकी प्रार्थना की, तो उन्होंने मंत्र से पवित्र वासक्षेप द्वारा उस प्रतिमा की प्रतिष्ठा की। फिर राजा ने दोनों हाथ से उस प्रतिमा का अर्चन तथा पूजन करके लुब्ध नर ज्यों धन को रखे त्यों उसे अपने हृदय के समीप रखा। फिर पवनवेगी हाथी के स्कंध पर उस प्रतिमा को रखकर स्वयं एक सैनिक की तरह उसके समीप बैठकर उसे धारण की। दिव्य विमान से भी अति वेगवान गजेन्द्र द्वारा वित्तभयनगर में आकर वह प्रतिमा उस दासी को अर्पण की। दासी ने प्रतिमा को चैत्य में रखा और पुरानी प्रतिमा लेकर आयी, तो राजा ने दासी सहित प्रतिमा को गजेन्द्र पर बिठाया। राजा भी हाथी पर चढ़कर शीघ्र उज्जैनि में आया। उस समय मानो सम्मुख आ रही हो त्यों वह नगरी दिखने लगी।

एक बार **विदिशापुरी** के रहनेवाले **भ्राजिलस्वामी** नाम के वणिक को विद्युन्माली देव ने प्रकाशित की हुई गोशिर्षचंदन की देवाधिदेव की वह प्रतिमा राजा ने और कुबजा ने पूजने के लिये सौंपी। ''वह विषयासक्त दंपती (चंडप्रद्योत और कुबजा) का इतना कार्य (दूसरे को सौंपना भी) बहुत है।'' एक बार मानो शरीरधारी तेज का राशि हो वैसे हाथ में पूजा की सामग्री लेकर खड़े रहे दो पुरुष भ्राजिल को नजर आये। नेत्र को सुख देनेवाले और मानो जन्म से ही मित्र हो ऐसे उन दोनों को देखकर भ्राजिल ने पूछा कि 'आप कौन हो ?' वे बोले, 'हम **कंबल** और **संबल** नाम के पातालभवनवासी नागकुमार देव हैं। धरणेन्द्र की आज्ञा से विद्युन्माली देव की बनाई हुई इस देवाधिदेव की प्रतिमा को पूजा की सामग्री लेकर पूजने आये हैं। इस नगरी के समीप विदिशा नदी के गृह के मार्ग से हम नित्य हंस की तरह मज्जन और उन्मज्जन करते हैं। अर्थात् आते-जाते हैं।' भ्राजिल बोला, ''हे देवताओं ! मेरे मनुष्य के भव में कल्याणरुप आपके पाताल के भवन आज

मुजे बताईए, क्योंकि वहां रही हुई शाश्वती प्रतिमा के दर्शन करने का मुजे मनोरथ है। वह कृपा करके पूर्ण करें। देव का दर्शन वृथा नहीं होता।'' देवों ने हा कहा, तो भ्राजिल जाने के उत्साह में देवाधिदेव की आधी पूजा करके आधी बाकी रखकर नदी के गृह के मार्ग से वहां जाने चला। वहां जाकर उसने शाश्वती प्रतिमा की वंदना की। धरणेन्द्र ने संतुष्ट होकर उससे कहा कि 'कुछ प्रसाद मांग ले।' भ्राजिल बोला, 'जिस तरह मेरा नाम सर्वत्र प्रसिद्ध हो वैसा कीजिए। अपने नाम को अविचल करना ही पुरुषों का पुरुषार्थ है।' धरणेन्द्र बोला, 'चंडप्रद्योत राजा तेरे नाम से मानो देवनगर हो वैसा देवाधिदेव संबंधित एक नगर बसायेगा, परंतु तूने यहां आने के उत्साह में आधी पूजा की है, जिससे वह प्रतिमा कुछ काल गुप्त रहकर मिथ्यादृष्टि से पूजी जायेगी। वे उसकी नकल करके बाहर रखेंगे और यह भ्राजिलस्वामी नाम से आदित्य है ऐसा बोलेंगे। सर्व लोग **भ्राजिलस्वामीसूर्य** ऐसे नाम से उस कृत्रिम प्रतिमा की पूजा करेंगे। 'ठीक तरह से किया गया दंभ भी निष्फल नहीं होता।' इस प्रकार सुनकर भ्राजिल बोला, 'अरे ! मुज जैसे पापी को धिक्कार है। यह तो बहुत बुरा हुआ। मैंने बड़ा अशिवकारी (बूरा) कार्य किया, क्योंकि मेरे निमित्त से देवाधिदेव की प्रतिमा को छिपाकर वे दुराशयी मिथ्यात्वी मेरे नाम से सूर्य के रुप में मेरी पूजा करेंगे।' धरणेन्द्र बोले, 'हे निष्पापी ! तू किसलिये शोक करता है ? इस दुःषम काल की लीला ही ऐसी है।' फिर नागकुमारों ने स्वप्नदर्शी की भाँति क्षणमात्र में जिस मार्ग से लाये थे, उसी मार्ग से वापस भ्राजिल को उसके स्थानक पर रख दिया।

यहां वित्तभय नगर में दासी प्रतिमा बदलकर गई। उसके दूसरे दिन उदायन राजा नित्य कर्म में तत्पर होकर प्रातःकाल में देवालय में आये। प्रतिमा के सामने देखते ही कंठ में रही हुई पुष्पमाला को ग्लानि पाये हुए देखा। तत्काल उसने सोचा कि 'जरुर यह प्रतिमा दूसरी है, असली नहीं है, क्योंकि उसके उपर चढाए हुए पुष्प दूसरे दिन भी मानो तत्काल चुने हो वैसे दिखते थे, इसलिये यह क्या हुआ ! और मानो स्तंभ पर बनी पूतली हो त्यों वह यहां सदा स्थिर रहती थी, वह दासी देवदत्ता भी यहां नहीं दिखती, इसका क्या कारण ? विचार करते हुए लगता है कि ग्रीष्म ऋतु में मरुवासी पथिकों की तरह मेरे सर्व हाथियों का मद नाश पा गया है, इसलिये जरुर यहां पवनवेगी गंधहस्ती[1] आ गया लगता है। उस पवनवेगी हाथी पर बैठकर यहां आकर चंडप्रद्योत राजा कल रात्रि में चोर की भाँति उस प्रतिमा और देवदत्ता दासी का हरण कर गया लगता है।' इस प्रकार सोचकर तुरंत ही उदायन राजा ने उस पर चढाई की तैयारी की। मानो दूसरी जयभेरी हो त्यों अश्वों के खुरों से वह पृथ्वी को बजाने लगा। दस मुगटबद्ध राजा भी उसके पीछे चले। वे सब मिलकर ग्यारह रुद्र की भाँति महापराक्रमीरुप में शोभित होने लगे। जांगाल भूमि में चलते हुए उदायन राजा के सैन्य पर सूर्य की तेज किरणें पड़ने लगी। परस्पर टकराते और पृथ्वी पर गिरते सैनिकों ने दिन में भी उल्लू की तरह तृषाक्रांत हो जाने से कुछ भी देखा नहीं। तत्काल उदायन ने प्रभावती देव का स्मरण किया। ''व्यसन प्राप्त होने पर इष्ट देव को कौन नहीं याद करेगा ?'' स्मरण करते

१. जिसकी गंध से अन्य सामान्य हाथियों का मद गल जाता है, उसे **गंधहस्ती** कहते हैं।

ही वह देव प्रगट हुआ और तत्काल निर्मल जल से तीन सरोवर भर दिये। उसके साथ ही सैनिकों को भी हर्ष से भर दिया। फिर उसमें से जलपान करके पूरा सैन्य स्वस्थ हो गया। ''जल बिना जिया नहीं जा सकता।'' फिर प्रभावती देव अपने स्थान पर गया और उदायन उज्जैनि नगरी के समीप आया। कुछ ही समय में उदायन राजा और अवंति के पति चंडप्रद्योत को परस्पर दूत मुख से रथ संग्राम करने की प्रतिज्ञा हुई। धनुष्यधारी उदायन राजा संग्राम के रथ में बैठा और दूसरे रणवाद्य के साथ धनुष्य की प्रत्यंचा का भी टंकार किया। प्रद्योत को लगा कि 'उदायन राजा रथ द्वारा अजेय है', तो वह अनिलवेग हाथी पर बैठा। ''बलवान के सामने किस तरह प्रतिज्ञा रहेगी ?'' उदायन राजा उसे गजारुढ हुआ देखकर बोला, ''अरे पापी ! तू सत्यप्रतिज्ञ नहीं रहा, फिर भी जीवित नहीं रहनेवाला है।'' इस प्रकार कहकर अपने रथ को तेजी से गोलाकृति से घुमाते हुए महापराक्रमी उदायन राजा हसते हसते युद्ध करने के लिये उसके समीप गया और धनुर्धारियों में धुरंधर ऐसे उसने सूई की नोक जैसे तीक्ष्ण बाणों से चारोंओर से अनिलवेग हाथी के पैर के तलुए छेद डाले, जिससे घुमती शलाका से भरे हुए पात्र के मुख जैसे चरण द्वारा वह हाथी नहीं चल सका और तत्काल पृथ्वी पर गिर गया। उदायन ने प्रद्योत को हाथी पर से नीचे गिराकर अपनी यशोराशि की तरह उसे हाथ से पकड़कर बांध लिया। फिर उस उज्जैनिपति के ललाट पर **दासीपति** इतने अक्षर अपनी नवीन प्रशस्ति की तरह उदायन राजा ने लिखवाए।

इस प्रकार दास की भाँति उसे अंकित करके वित्तभय नगर का स्वामी अपनी दिव्य प्रतिमा लेने के लिये विदिशा में जहां रखी थी वहां गया। वहां जाकर उस दिव्य प्रतिमा की पूजा करके नमस्कार करके उसे उठाने लगा, लेकिन पर्वत की भाँति वह किंचित चलायमान नहीं हुई। उदायन उस देवाधिदेव को विशेषरुप से पूजकर बोला, 'हे प्रभु ! क्या मेरा अभाग्य है कि आप आते नहीं हैं ?' उसके जवाब में उस प्रतिमा का अधिष्ठायिक देव प्रतिमा में प्रवेश करके बोला, ''हे महाशय ! तू शोक मत कर। तेरा वित्तभय नगर रजोवृष्टि से स्थल समान हो जायेगा, इसलिये मैं वहां नहीं आ रहा हूँ।'' इस प्रकार से उसके उत्तर से उदायन राजा वापस लौटा। अपने नगर को जाते हुए बीच में प्रयाण को रोकनेवाली वर्षाऋतु आयी, तो मार्ग में उदायन राजा ने नगर के जैसी ही छावनी डाली। ''जहां राजा रहते है, वहां शहर बस जाता हैं।'' दस मुगटबद्ध राजा उसकी रक्षा के लिये उसके चारोंओर धूल का किल्ला करके रहे, जिससे वह छावनी **दशपुर** ऐसे नाम से प्रसिद्ध हुई।

उदायन राजा संग्राम में कैद किये हुए प्रद्योत राजा की भोजन वगैरह से अपने जैसी ही संभाल रखने लगा। ''क्षत्रिय का धर्म ही ऐसा है।'' क्रमशः पर्युषण पर्व आया। उदायन राजा ने उपवास किया, क्योंकि वह श्रावक था। उसकी आज्ञा से रसोईए ने प्रद्योत राजा को पूछा कि 'आज क्या खाओगे ?' वह सुनकर उज्जैनिपति क्षोभ पाकर सोचने लगा कि 'ऐसा प्रश्न आज तक कभी भी नहीं हुआ, आज ही हुआ है इसलिये वह मेरे कुशल के लिये लगता नहीं है। यह उपहास्य का वचन जरुर मेरे वध या बंधन को सूचित करता है।' इस प्रकार सोचकर उसने रसोईए को पूछा, 'आज ऐसा प्रश्न करने का क्या कारण है ? क्योंकि विद्या से आकर्षित होकर आती हो त्यों रसवती सदैव

समय अनुसार आया करती है।' रसोईया बोला, 'राजन् ! आज पर्युषण पर्व है, इसलिये हमारे स्वामी अंतःपुर परिवार के साथ उपवासी हुए हैं। अर्थात् सबने उपवास किया है। सदैव तो जो रसोई हमारे राजा के लिये होती थी, उसमें से आपको भोजन कराते थे, लेकिन आज तो आप अकेले के लिये ही रसोई करने की है। इसलिये आपको पूछता हूँ।' प्रद्योत राजा बोला, ''हे पाचक ! आज मुजे भी उपवास हो, क्योंकि ये पर्व महाउत्तम कहलाता है, और मेरे माता-पिता भी श्रावक थे इसलिये मुजे भी ग्रहण करने योग्य है।'' रसोईये ने प्रद्योत के वह वचन उदायन राजा को कह सुनाये। यह सुनकर उदायन बोला, 'वह धूर्तजन है, क्या तू नहीं जानता ? लेकिन चाहे जैसा हो, उसने कारागृह में रहकर भी पर्युषण पर्व को शुभनाम देकर आचरण किया, इसलिये वह मेरा धर्मबंधु हुआ। तो अब उसे कारागृह में रखना योग्य नहीं है।' ऐसा मानकर तुरंत ही उदायन ने प्रद्योत को मुक्त किया। पर्व की रीति अनुसार उससे क्षमा मांगकर उसके ललाट में जो **दासीपति** ऐसे अक्षर लिखे हुए थे उसे छिपाने के लिये उसपर पट्टबद्ध किया, तब से राजाओं में वैभवसूचक पट्टबद्ध का रिवाज चला आ रहा है। पहले तो वे सिरपर मात्र मुगट का बंध ही करते थे। उदायन राजा ने प्रद्योत को अवंति देश वापस लौटाया और वर्षाऋतु बीती तो वह अपने वित्तभय नगर में आया। उसकी छावनी में वणिकों ने ऐसा स्थिर वास किया, जिससे उनसे बसा हुआ वह नगर **दशपुर** नाम से प्रसिद्ध हुआ। शुद्ध बुद्धिवाले प्रद्योत राजा ने वित्तभय नगर की प्रतिमा के खर्च के लिये दशपुर नगर दिया और स्वयं उज्जैनि में आया।

एक बार विदिशा में जाकर प्रद्योत ने भ्राजिलस्वामी के नाम से वहां देवकीय नगर बसाया। ''धरणेन्द्र का वचन अन्यथा नहीं होता।'' फिर उसने विद्युन्मालीवाली देवाधिदेव की प्रतिमा के शासन में बारह हजार गाँव दिये।

एक बार वित्तभय नगर में स्थित उदायन राजा के पास आकर प्रभावती देव ने स्नेहपूर्वक कहा, ''हे राजन् ! यहां जो प्रद्योत राजा ने रखी हुई जीवितस्वामी की प्रतिमा है, वह भी सामान्य नहीं है। वह महाप्रभावी उत्तम तीर्थरुप है। वह प्रतिमा ब्रह्मर्षि महात्मा श्वेतांबरी कपिल केवली ने प्रतिष्ठित की हुई है, इसलिये उस प्रतिमा को प्राचीन प्रतिमा की तरह ही तुम्हें पूजनी और योग्य समय पर महाफलवाली सर्व विरति ग्रहण करनी।'' उदायन ने वह वाणी स्वीकारी, तो उसके मनरुपी अंकुर में मेघसमान वह देव अदृश्य हो गया। एक बार उदायन ने धर्मकार्य में उद्युक्त होकर पौषधशाला में पाक्षिकपर्वणि के दिन पौषधव्रत ग्रहण किया। रात्रिजागरण में शुभध्यान धरते हुए उस राजा के विवेक का सहोदर समान इस प्रकार का अध्यवसाय (भाव) उत्पन्न हुआ - ''उस गाँव और नगर को धन्य हैं कि जो श्री वीरप्रभु ने पवित्र किये हैं। उस राजा आदि को भी धन्य हैं कि जिन्होंने अपने मुख से धर्म सुना है और जिन्होंने उस वीरप्रभु के चरणकमल के सान्निध्य में प्रतिबोध पाकर बारह प्रकार के गृहीधर्म को ग्रहण किया है। वे कृतार्थ बने है। उन प्रभु के प्रासाद से जो सर्व विरति पाये हैं वो श्लाघ्य और वंदनीय हैं। उनको मेरे नित्य नमस्कार हैं। अब यदि स्वामी इस वित्तभय नगर को अपने विहार द्वारा पवित्र करें तो मैं उनके चरण में दीक्षा लेकर कृतार्थ बन

जाऊँ।'' (प्रभु कहते हैं) 'हे अभयकुमार ! ऐसा उसका अध्यवसाय जानकर उसका अनुग्रह करने की इच्छा से हम चंपापुरी से विहार करके उसके नगर में समवसरे। वह राजा हमारे पास आकर हमारी वंदना करके देशना सुनकर घर गया। फिर अपने विवेकगुण की युक्तता अनुसार उसने इस प्रकार सोचा, 'मैं व्रत की इच्छावाला होकर यदि पुत्र को राज्य दूं तो मैंने उसे इस संसाररुपी नाटक का एक नट बनाया ऐसा कहा जायेगा। नितिवेत्ताओंने भी राज्य को नरकांत कहा है अर्थात् राज्य के अंत में नरक कहते हैं। इसलिये मैं पुत्र को राज्य नहीं दूंगा, क्योंकि यदि दूंगा तो उसका हितकारी नहीं कहा जाऊंगा।' ऐसा विचार करके सूर्य ज्यों अग्नि को तेज अर्पण करें त्यों उदायन ने **केशी** नाम के अपने भानजे को राज्यश्री अर्पण की और जीवितस्वामी की पूजा के लिये कइं गांव, खान और नगर वगैरह दिए। फिर केशी राजा ने जिसका निष्क्रमण उत्सव किया है ऐसे उदायन राजा ने हमसे दीक्षा ली। व्रत के दिन से लेकर छट्ठ, अट्ठम, दशम और द्वादश वगैरह तप करके उसने अपने कर्मों की तरह अपनी देह को भी शोषित कर डाला है।'

इस प्रकार वृत्तांत कहकर आखिर में वीरप्रभु बोले, 'हे अभयकुमार ! तृण की भाँति राज्यलक्ष्मी को छोड़कर शुद्ध साधुपन ग्रहण करनेवाले उदायन राजा अंतिम राजर्षि हुए हैं।'

इत्याचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि विरचिते त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरिते महाकाव्ये दशमपर्वणि रौहिणेयचरित्र अभयकुमारापरिहार उदायनचरित्र प्रद्योतबंधन उदायनप्रव्रज्यावर्णनो नाम एकादशः सर्गः॥११॥

बारहवाँ सर्ग

वित्तभयपतन में देवता ने की हुई रेणु की वृष्टि, जिससे प्रद्योत राजा ने स्थापित की हुई जीवितस्वामी की प्रतिमा सहित वित्तभय नगर का गडना, अभयकुमार की दीक्षा, कूणिक चरित्र, चेटकराज चरित्र, उदायि राजा -महावीर स्वामी के परिवार का वर्णन

अभयकुमार ने श्री महावीर प्रभु को प्रणाम करके फिर से पूछा, 'हे स्वामी ! राजर्षि उदायन का परिणाम क्या होगा ?' उत्कृष्ट तीर्थंकर नामकर्म की निर्जरा करने में तत्पर ऐसे श्री ज्ञातनंदन प्रभु उसके उत्तर में बोले, "हे अभयकुमार ! पृथ्वी पर विहार करते हुए उस उदायन राजर्षि को एक बार अकाल में अपथ्य भोजन करने से महाव्याधि उत्पन्न होगी। उनकी चिकित्सा करते निष्पाप आशयवाले वैद्य उनको कहेंगे कि 'हे गुणरत्नों के सागर ! आप स्वदेह में निःस्पृह हो फिर भी इस रोग की शांति के लिये दहीं खाईए।' फिर राजर्षि वहां से विहार करके किसी गायों के स्थान में आयेंगे, क्योंकि वहां निर्दोष दहीं की भिक्षा सुलभ होती है। वहां से विहार करके जहां अपने भानजे केशी को राजा किया है उस वित्तभयनगर में आयेंगे। उदायन को आया जानकर केशी राजा के सचिव उसको कहेंगे कि "हे राजन् ! आपके मातुल (मामाजी) उदायन जरुर तप से उकताकर यहां आये लगते हैं। इन्द्रपद समान राज्य को छोड़ देने से जरुर वे पछताये हैं, जिससे वे वापस राज्य लेना चाहते हो ऐसा लगता है। इसलिये आप उसका विश्वास मत करना।" यह सुनकर केशी कहेगा कि "वह अपना राज्य वापस ग्रहण करें तो उसमें मुजे क्या चिंता है ? यदि धनवान अपना धन ले ले तो उसमें गोपाल को किसलिये कोप होगा ?" फिर सचिव कहेंगे कि "हे राजन् ! आपको आपके पुण्य से यह राज्य मिला है। किसिने कुछ नहीं दिया है और फिर राजधर्म भी ऐसा ही है। क्षत्रिय तो पिता, भाई, मामा, मित्र या अन्यों से भी जबरन राज्य ले लेते हैं, तो फिर दिया हो उसे तो कौन छोड़ दे ?" सचिवों के अति आग्रहवाले वचन से केशी उदायन पर की भक्ति को छोड़ देगा और कहेगा कि 'अब मुजे क्या करना ?' तो वे उदायन मुनि को विष दिलवाने की सलाह देंगे। इसके उपर से केशी किसी पशुपालिका से जहर मिश्रित दहीं दिलायेगा। 'जो दूसरे की प्रेरणा से वश हो जाय उसमें क्या बुद्धि होगी ?' उदायन पर भक्तिवाला देवता उस विष को हरकर मुनि को कहेगा कि 'आपको यहां विषमिश्रित दहीं की प्राप्ति हो ऐसा है। इसलिये अब दहीं की स्पृहा (कामना) मत करना।' इससे उदायन मुनि दहीं छोड़ देंगे, तो उनके शरीर में रोग वृद्धि पायेगा। 'रोग भी भूत की तरह कुछ भी छल पाकर बढ़ता है।' रोग वृद्धि पाने से उसका निग्रह करने के लिये उदायन मुनि वापस दहीं ग्रहण करेंगे। पर देवता तीन बार उसमें से विष को दूर कर डालेगा। एक बार वह देव प्रमाद से विष को नहीं हर सकेगा तो उदायन मुनि विष सहित दधि का आहार करेंगे। जब चैतन्य के चोरनेवाले विष से मुनि अपना मृत्यु समय जानेंगे तब तत्काल अनशन ग्रहण

करेंगे। एक मास तक समाधिपूर्वक अनशन पाकर केवलज्ञान प्राप्त करके मृत्यु पाकर वह मोक्ष को जाएंगे। उदायन राजर्षि मोक्ष जाने के बाद वह देव वहाँ आयेगा। वह अवधिज्ञान से संपूर्ण वृत्तांत जानकर कालरात्रि की तरह कोपायमान होगा और उस कोप से वह वित्तभय नगर को धूल से भर देगा। इसके बाद भी निरंतर धूल की बारिश किया करेगा। हे महाभाग अभय ! उस समय कपिल मुनि द्वारा प्रतिष्ठित की हुई वह प्रतिमा निधि की तरह पृथ्वी में गड जायेगी। उदायन महामुनि का शय्यातर कुम्हार कि जो निरपराधी था उसे धूल बरसानेवाला देव वहां से हर ले जाकर **सिनपल्ली** में लाकर उसके नाम से **कुंभकारकृत** नाम का एक स्थान बसाकर वहां रखेगा।''

इस प्रकार हकीकत सुनकर अभयकुमार ने प्रभु को नमन करके पूछा, 'हे स्वामी ! उदायन मुनि के कुमार अभीचि की क्या गति होगी ?' प्रभु बोले, 'जब उदायन अपने भानजे केशी को राज्य देगा तब प्रभावती का पुत्र अभीचि सोचेगा कि 'मेरे जैसा राज्याधिकारी और भक्तिवान पुत्र होने पर भी पिता को कर्ज देने की तरह केशी को राज्य दिया, इसमें वे मेरे पिता का क्या विवेक ? क्योंकि केशी तो बहन का पुत्र होने से सिर्फ हा-हा कहने का ही अधिकारी है, लेकिन मेरे पिता स्वतंत्र हैं। इसलिये वे जो करना चाहे वो भले ही करे, लेकिन मैं केशि की सेवा किसलिये करुं ? क्योंकि मैं तो राजपुत्र हूँ।' इस प्रकार चिंतन करके पिता से पराभव पाया अभीचि कुणिक के पास जायेगा। 'अभिमानी पुरुषों को पराभव होने से विदेश जाना ही अच्छा है।' कुणिक अभीचि की मौसी का पुत्र लगता था, इसलिये अभीचि को आया देखकर वह सम्मान देगा, तो वहां सुखपूर्वक रहेगा। साधुंओं का उपासक और जीव-अजीव वगैरह तत्त्वों को जाननेवाला अभीचि वहां रहते हुए श्रावकधर्म का यथार्थरुप से पालन करेगा। कइं वर्ष तक अखंडिततापूर्वक गृहीधर्म को पालते हुए भी अभीचि उदायन के किये हुए पराभव को याद करते हुए उस बैर को छोड़ नहीं पायेगा। अंत में अच्छी तरह संलेखना करके पाक्षिक (पन्द्रह दिन का) अनशन आराधकर पिता के बैर की आलोचना किये बिना मृत्यु पाकर वह उत्तम देवता बनेगा। वहां एक पल्योपम का आयुष्य बिताकर महाविदेहक्षेत्र में उत्पन्न होकर अभीचि का जीव मोक्ष में जायेगा।''

अभयकुमार ने पुनः पूछा, ''हे प्रभु ! आपने कहा कि कपिल मुनि की प्रतिष्ठित की हुई प्रतिमा पृथ्वी में गड जायेगी तो वह वापस कब प्रकट होगी ?'' प्रभु बोले, ''सौराष्ट्र, लाट और गुर्जर देश की सीमाओं पर अणहिलपुर पाटण नाम का एक नगर बसेगा, वह नगर आर्यभूमि का शिरोमणि, कल्याणों का स्थान और अर्हंत धर्म का एक छत्ररुपी तीर्थ बनेगा। वहां चैत्यों में रही हुई रत्नमय निर्मल अर्हंत प्रतिमाएं नंदीश्वर वगैरह स्थानों की प्रतिमा की सत्यता बता देगी। प्रकाशमान सुवर्णकलशों की श्रेणी से जिन के शिखर अलंकृत हैं ऐसे उन चैत्यों से मानो सूर्य वहां आकर विश्रांत होता हो ऐसी शोभा को धारण करेंगे। वहां प्रायः सभी लोग श्रावक होगे और वे अतिथि संविभाग करके ही भोजन करेंगे, अन्य की संपत्ति में ईर्ष्यारहित, स्वसंपत्ति से संतुष्ट और पात्र में दान देनेवाली ऐसी वहां की प्रजा होगी। अलकापुरी में यक्ष की तरह वहां कइं धनाढ्य श्रावक होंगे। वे अत्यंत आर्हंत बनकर सात क्षेत्रों में द्रव्य खर्चेंगे। शुषमा काल की तरह वहां सब लोग परधन और

परस्त्री से विमुख होंगे। हे अभयकुमार हमारे निर्वाण के बाद सोलहसौं और उनसत्तर वर्ष बीतेंगे तब उस नगर में चौलुक्यकुल में चंद्र समान प्रचंड, पराक्रमी और अखंड शासनवाला कुमारपाल नाम का धर्मवीर, दानवीर और युद्धवीर राजा बनेगा। वह महात्मा अपनी प्रजा को पिता की तरह पालकर बड़ा समृद्धिवान करेगा। सरल लेकिन अतिचतुर, शांत लेकिन आज्ञा में इन्द्र समान और क्षमावान फिर भी अदृश्य ऐसा वह चिरकाल तक इस पृथ्वी पर राज्य करेगा। उपाध्याय ज्यों अपने शिष्यों को विद्यापूर्ण करें त्यों वह अपनी प्रजा को धर्मनिष्ठ करेगा। शरण इच्छुकों को शरण करने लायक और परनारी सहोदर वह राजा प्राण से और धन से भी धर्म को बहुत मानेगा। पराक्रम, धर्म, दया, आज्ञा और अन्य पुरुषगुणों में वह अद्वितीय होगा। वह राजा उत्तर दिशा में तुरुष्क (तुर्कस्थान) तक, पूर्व में गंगा नदी तक, दक्षिण में विंध्यगिरि तक और पश्चिम में समुद्रतट तक पृथ्वी को साधेगा। एक बार वज्रशाखा और चांद्रकुल में उत्पन्न आचार्य हेमचंद्र उस राजा को नजर में आयेंगे। वह भद्रिक राजा मेघ के दर्शन से मयूर की भाँति उन आचार्य के दर्शन से हर्षित होकर उनकी वंदना करने की त्वरा करेगा। सूरि जिनचैत्य में धर्मदर्शना दे रहे थे, वहां उनकी वंदना करने के लिये वह राजा अपने श्रावक सचिवों के साथ आयेगा। वहां प्रथम देव को नमस्कार करके फिर तत्त्व को नहीं जानने पर भी वह राजा शुद्धभाव से आचार्य की वंदना करेगा। फिर उनके मुख से शुद्ध धर्मदेशना प्रीतिपूर्वक सुनकर वह राजा समकितपूर्वक अणुव्रत (श्रावक के व्रत) स्वीकारेगा। फिर अच्छी तरह बोध प्राप्त करके वह राजा श्रावक के आचार का पारगामी (जानकार) बनेगा। और राजसभा में बैठे हुए भी वह धर्मगोष्टि से अपनी आत्मा को रमायेगा। अर्थात् धर्मचर्चा करेगा। प्रायः निरंतर ब्रह्मचर्य को पालनेवाला वह राजा अन्न, साग और फलादि संबंधी अनेक नियम विशेष प्रकार से ग्रहण करेगा। सद्बुद्धिवान वह राजा अन्य साधारण स्त्रियों को छोड़ देगा, इतना ही नहीं, अपनी धर्मपत्नियों को भी ब्रह्मचर्य पालने का प्रतिबोध करेगा। सूरि के उपदेश से जीव-अजीव वगैरह तत्त्वों को जाननेवाला वह राजा आचार्य की तरह अन्यों को भी बोधि (सम्यक्त्व) प्राप्त कराएगा। अर्हंत धर्म के द्वेषी ऐसे पांडुरोगी ब्राह्मण भी उसकी आज्ञा से गर्भश्रावक[1] समान हो जायेंगे। परम श्रावकपने को प्राप्त करनेवाला और धर्म को जाननेवाला वह राजा देवपूजा और गुरुवंदना किये बिना भोजन नहीं करेगा। वह राजा अपुत्र मृत्यु पाये हुए का द्रव्य नहीं लेगा। 'विवेक का फल वहीं है और विवेकी सदैव तृप्त ही रहते हैं।' पांडु जैसे राजाओं ने भी जो मृगया (शिकार) छोडी नहीं उसे यह राजा छोड देगा और उसकी आज्ञा से अन्य सर्व भी छोड़ देंगे। हिंसा का निषेध करनेवाला वह राजा राज्य करते हुए मृगया की बात तो दूर रही, लेकिन खटमल या जू जैसे क्षुद्र प्राणियों को अत्यंत[2] भी मार सकेंगे नहीं। पापर्द्धि (मृगया) का निषेध करनेवाले उस महान राजा के राज्य में अरण्य में रहती सभी मृग जाति गोष्ट की गायों के समान सदैव निर्विघ्न चरेगी। शासन में पापशासन (इन्द्र) जैसा वह राजा सर्व जलचर, स्थलचर और खेचर प्राणियों की रक्षा करने के लिये सदैव की अमारी (जीवदया) घोषणा कराएगा, जो जन्म से मांस खानेवाले थे वे भी उसकी आज्ञा से दुःस्वप्न की

१. जन्म से श्रावक। २. भंगी, चमार वगैरह नीच लोग।

तरह मांस की वार्ता भी भूल जायेगे। पूर्व देश की रीती से श्रावकों ने भी जिसे संपूर्णतः छोडा न था ऐसे मद्य को वे निर्दोष राजा सर्वत्र छुडवा देगा। वह राजा इस पृथ्वी पर मद्य को ऐसा रोक देगा कि जिससे कुम्हार भी मद्य के पात्र घड़ना छोड देंगे। मद्यपान के व्यसन से जिनकी संपत्ति क्षीण हो गयी हैं ऐसे पुरुष उस महाराजा की आज्ञा से मद्य को छोड देने से संपत्तिवान बनेंगे। पहले नल वगैरह राजाओं ने भी जिस द्यूतक्रीडा को छोडा नहीं, उस द्यूत का नाम भी शत्रु के नाम की तरह वह उन्मूलन कर देगा। उसके उदयवाला शासन चलते हुए इस पृथ्वी पर पंडूक की होड़क्रीडा[1] और मुरगे के युद्ध भी नहीं होंगे। निःसीम वैभववाला वह राजा प्रायः हरेक गाँव में जिन मंदिर करवाकर पूरी पृथ्वी को जिनमंदिरों से मंडित करेगा और समुद्र तक प्रत्येक मार्ग तथा प्रत्येक नगर में अर्हंत प्रतिमा की रथयात्रा का महोत्सव कराएगा। द्रव्य के अत्याधिक दान से जगत को ऋणमुक्त करके वह राजा इस पृथ्वी पर अपना संवत्सर चलायेगा। ऐसे महान प्रतापी कुमारपाल राजा एक बार कथाप्रसंग में गुरुमुख से कपिल मुनि द्वारा प्रतिष्ठित की हुई और धूल में गडी हुई उस प्रतिमा की बात सुनेगा, जिससे तत्काल उस धूलि का स्थान खुदवाकर वह विश्वपावनी[2] प्रतिमा को बाहर निकलवाने का मनोरथ करेगा। उस समय मन का उत्साह और अन्य शुभ निमित्तों से वह राजा प्रतिमा को हस्तगामी होने का संभव मानेगा। फिर गुरु की आज्ञा लेकर योग्य पुरुषों की योजना करके वित्तभयनगर के उस स्थान को खुदवाने का आरंभ करेगा। उस समय परम आर्हंत ऐसे उस राजा के सत्त्व से शासनदेवता वहां आकर सान्निध्य करेंगे। कुमारपाल राजा के बड़े पुण्य से खुदाई स्थल पर ही वह प्रतिमा तत्काल प्रकट होगी। उसके साथ उस प्रतिमा की पूजा के लिये उदायन राजा के दिये हुए गाँवों का आज्ञालेख भी प्रकट होगा। राजा के नियुक्त पुरुष प्राप्त हुई उस प्रतिमा को नवीन हो त्यों यथाविधि पूजन करके रथ में बिठाएंगे। मार्ग में उनकी अनेक प्रकार से पूजाएं होंगी। उनके समक्ष अहोरात्रि संगीत हुआ करेगा। उसके समीप गाँव की स्त्रियाँ तालियां देकर रास खेलेंगी। पंचशब्द वाजिंत्र हर्षपूर्वक बजेंगे और उसके दोनों ओर चँवर झले जायेंगे। इस प्रकार बडी धूमधाम के साथ उस प्रतिमा के रक्षक पाटण की सीवान में लायेंगे। यह हकीकत सुनकर अंतःपुर परिवार सहित चतुरंग सेना से युक्त कुमारपाल राजा पूरे संघ के साथ उस प्रतिमा के सामने जायेगा। वहाँ जाकर उस प्रतिमा को अपने हाथ से रथ में से उतारकर हाथी पर बिठाकर बड़े उत्सव के साथ अपने नगर में प्रवेश कराएगा और अपने राजभवन के समीप क्रीडाभवन में रखकर उसकी विधिपूर्वक त्रिकाल पूजा करेगा। फिर उस प्रतिमा के लिये उदायन राजा ने जो आज्ञालेख लिख दिया था उसे पढ़कर कुमारपाल उस अनुसार करेगा। निष्कपटी कुमारपाल राजा उस प्रतिमा का स्थापन करने के लिये एक स्फटिकमय प्रासाद कराएगा। मानो अष्टापद पर रहे प्रासाद का युवराज हो वैसा वह प्रसाद देखने में जगत को चकित कर देगा। फिर वह उस प्रासाद में उस प्रतिमा का स्थापन करेगा। इस प्रकार स्थापित की हुई उस प्रतिमा के प्रभाव से कुमारपाल राजा प्रतिदिन, प्रताप, समृद्धि और आत्मकल्याण में वृद्धि कर पायेगा। हे अभयकुमार ! देव और गुरु की भक्ति द्वारा

१. होड करके परस्पर पंडुक लडाने। २. विश्व को पवित्र करनेवाली।

वह कुमारपाल राजा इस भारतवर्ष में तेरे पिता समान होगा।''

इस प्रकार श्री वीरप्रभु से सुनकर अभयकुमार प्रभु को नमन करके श्रेणिक राजा के पास आकर इस प्रकार कहने लगा, ''हे पिताजी ! यदि मैं राजा बनूंगा तो फिर मुझसे मुनि नहीं बना जायेगा, क्योंकि श्री वीरप्रभु ने उदायन राजा को अंतिम राजर्षि कहा है। श्री वीरप्रभु जैसे स्वामी को पाकर और आपके पुत्रपने को पाकर यदि मैं इस भवदुःख का छेद न करुं तो मेरे समान दूसरा कौनसा पुरुष अधम होगा ? हे तात ! मैं नाम से अभय हूँ, लेकिन भवभय से सभय हूँ। इसलिये यदि आप आज्ञा दे तो मैं तीन भुवन को अभय देनेवाले श्री वीरप्रभु को नमस्कार करुं। अभिमानरुपी सुख के कारण ऐसे राज्य से मुजे क्या निसबत ? क्योंकि महर्षि तो संतोष को ही श्रेष्ठ सुख कहते हैं। इस प्रकार के अभयकुमार के वचन सुनकर श्रेणिक ने राज्य लेने के लिये उसे आग्रहपूर्वक कहा तो भी जब उसने राज्य ग्रहण नहीं किया तब अंत में राजा ने हर्षपूर्वक अभयकुमार को व्रत लेने की आज्ञा दी। फिर संतोष सुख के शत्रु जैसे राज्य को तृण की तरह छोड़कर अभयकुमार ने श्री वीरप्रभु से दीक्षा ग्रहण की। जब अभयकुमार ने व्रत ग्रहण किया तब उसकी माता नंदा ने भी श्रेणिक राजा की आज्ञा लेकर, श्री वीरप्रभु के चरण में आकर दीक्षा ली। अभय और नंदा ने दीक्षा लेते समय दो कुंडल और दिव्य वस्त्रयुग्म जो प्रथम श्रेणिक ने दिये थे वह हल और विहल्ल को दिये।

भगवंत श्री वीरप्रभु ने सुर-असुरों से सेवित होते हुए भव्य जनों को प्रतिबोध करने के लिये वहां से अन्यत्र विहार किया। अभयकुमार विविध प्रकार के अभिग्रह पूर्वक चिरकाल चारित्र पालकर मृत्यु पाकर सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्तम देवरुप में उत्पन्न हुआ। जब अभयकुमार ने श्री वीरप्रभु से दीक्षा ली तब शुद्ध बुद्धिवाले मगधपति श्रेणिक राजा ने इस प्रकार सोचा, 'अभयकुमार मेरे सर्व कुमारों में गुण की भूमिरुप था। उस सुकृति ने तो व्रत लेकर अपना स्वार्थ साध लिया, तो अब पराक्रमी और आयुष्यमान ऐसे किसी कुमार पर इस राज्य का बोज रखना चाहिए, क्योंकि 'राजाओं का तो यह क्रम चला ही आता है।' सगुण हो या निर्गुण हो, लेकिन पुत्र ही पिता की संपति का अधिकारी है। परंतु यदि पुत्र गुणी हो तो पिता का पुण्य उज्ज्वल माना जाता है। अभयकुमार के बिना अब मेरे विश्राम का धाम मात्र मेरा गुणी पुत्र कुणिक है। वहीं राज्य के योग्य है, उसके सिवा दूसरा कोई राज्य के योग्य नहीं है।'' ऐसा निश्चय करके कुणिक को राज्य देने के निर्धार से श्रेणिक ने हल-विहल्ल को अट्ठारह चक्र[1] का हार और सेचनक नाम का हाथी दिया। वह देखकर कुणिककुमार ने अपने काल वगैरह दस बंधुओं को एकत्र करके कहा कि 'पिता वृद्ध हो गये तो भी अभी राज्य से तृप्ति नहीं पाये। पुत्र जब कवचधारी हो तब राजा तो व्रत ग्रहण करते हैं। हमारे ज्येष्ठ बंधु अभयकुमार को धन्य है कि जिसने युवा होने पर भी राज्यलक्ष्मी को छोड़ दिया। परंतु हमारे विषयांध पिता तो अब भी राज्य भोगते हुए कुछ भी देखते ही नहीं। इसलिये आज उस पिता को बांध लेकर हम समय के योग्य राज्य को ग्रहण करें। इसमें हमें कुछ भी अपवाद नहीं लगेगा,

१. अट्ठारह लड़ी का।

क्योंकि वे विवेक विकल बने हैं। फिर हम राज्य को ग्यारह भाग में बाँटकर भोगेंगे। इसके बाद हमारे बंदीखाने में पड़े हुए पिता सेकडों वर्ष तक भले ही जीए।' ऐसा विचार करके उन्होंने अपने विश्वासी पिता को एकदम बांध लिया। "दुष्ट पुत्र घर में उत्पन्न होने पर विषवृक्ष जैसा ही है।"

कुणिक ने श्रेणिक को शुकपक्षी की भाँति पिंजर में बंद कर दिया। विशेष में उसे खान-पान भी नहीं देता था। इतना ही नहीं, लेकिन वह पापी कुणिक पूर्वभव के बैर से प्रतिदिन सुबह और शाम उनको सो सो चाबूक मारता था। देव ने सिर पर डाली हुई इस दुर्दशा को श्रेणिक भोग रहा था, क्योंकि "गजेन्द्र समर्थ हो तो भी जंजीर से बंधा हुआ क्या कर सकता है ?" कुणिक श्रेणिक के पास किसी को भी जाने नहीं देता था। सिर्फ मातृत्व के दाक्षिण्य से चेल्लणा को जाने से नहीं रोक सकता था। चेल्लणा प्रतिदिन सौ बार धोई हुई सुरा से स्नान करके जाने की शीघ्रता दिखाकर आर्द्र केश से ही श्रेणिक के पास बार बार जाती थी और अपने केशपाश में पुष्प के गुच्छे की तरह कुल्माष (उडद) का एक पिंड छुपाकर रखती और वह पतिभक्ता रमणी श्रेणिक को गुप्त प्रकार से दे देती थी। दुष्प्राप्य ऐसा उस कुल्माष का पिंड मिलने से राजा उसे दिव्य भोजन समान मानता था और उस पिंड से अपनी प्राणयात्रा करता था, क्योंकि "क्षुधा नाम का रोग अन्नरुप औषध के बिना मृत्यु के लिये होता है।" फिर चेल्लणा सो बार धोई हुई सुरा के बिंदु केशपाश में से नेत्र के अश्रुबिंदु के साथ गिराती थी और उस सुरा के बिंदुओं का मेघबिंदु का चातक पान करे त्यों श्रेणिक तृषित होकर पान करता था। उस बिंदुमात्र सुरा का पान करने से राजा चाबूक के घाँव पर बहुत ध्यान नहीं देता था तथा तृषा से भी पीडित नहीं होता था।

इस प्रकार श्रेणिक राजा को बांधकर उग्रतापूर्वक राज्य करते हुए कुणिक को **पद्मावती** नाम की रानी से एक पुत्र हुआ। उसकी बधाई लेकर आये हुए दास-दासीयों को कुणिक ने वस्त्राभरण से आच्छादित करके कल्पलता समान कर दिये। फिर स्वयं अंतःपुर में जाकर पुत्र को हाथ में लिया। उसके करकमल में रहा हुआ वह बालक हँस के बालक की भाँति शोभित होने लगा। नयनरुपी कमल को सूर्य समान उस पुत्र को देखते हुए कुणिक परम आनंद में मग्न होकर एक श्लोक बोला, जिसका भावार्थ ऐसा था, 'हे वत्स ! तू मेरे अंश से उत्पन्न हुआ है और मेरे हृदय से बना है, और मेरी आत्मा समान है, तो तू सौ वर्ष तक जी।' इस प्रकार बार बार बोलते हुए कुणिक विश्रांत नहीं हुआ, अर्थात् उस श्लोक के बहाने हृदय में नहीं समा पाये हर्ष का वह वमन करने लगा। फिर कुमार के रक्षण में चतुर ऐसी वृद्ध स्त्रियाँ राजा के हाथ में से पुत्र को सुतिकागृह की शय्या में ले गये, राजा ने पुत्र का ज्ञात-कर्म महोत्सव किया और श्रावक ऐसे ब्राह्मण वगैरह को यथारुचि दान दिया। फिर शुभदिन पर कुणिक ने बड़े उत्सव से उस पुत्र का उदायि ऐसा नाम रखा। सुवर्ण समान कांतिवाला कुमार दिन प्रतिदिन रक्षकों से रक्षण पाते हुए उद्यान के वृक्षों की तरह वृद्धि पाने लगा। उस कुमार को कटि पर बिठाकर निरंतर घूमता कुणिक पूतलीवाले स्तंभ की तरह लगता था। मीठे मीठे शब्दों से कुमार को बुलाते हुए कुणिक बोलने में अज्ञान ऐसे शिशु की शोभा को धारण करता था। बैठते, सोते, चलते और भोजन करते हुए अंगुलि में से मुद्रिका की तरह राजा

उसे हाथ में से छोड़ता नहीं था।

एक बार पुत्रवत्सल कुणिक राजा बाई जांघ पर पुत्र को बिठाकर खाने के लिये बैठा था। उसने आधा भोजन किया इतने में उस अर्भक (लड़के) ने मूत्रोत्सर्ग किया, तो घी की धारा की तरह उसके मूत्र की धारा भोजन पर पड़ी। 'पुत्र के पेशाब के वेग का भंग न हो' ऐसा मानकर कुणिक ने अपनी जांघ हिलाई भी नहीं। "पुत्रवात्सल्य ऐसा ही होता है।" फिर मूत्र से आर्द्र बना अन्न अपने आप थाल में से दूर करके बाकी का अन्न उसी थाल में वह खाने लगा। पुत्र के प्रेम से वह भोजन भी उसे सुखदायी लगा। उस समय उसकी माता चेल्लणा पास में बैठी थी, उसे कुणिक ने पूछा कि "हे माता ! किसीको अपना पुत्र ऐसा प्रिय था ? या इस समय होगा ?" चेल्लणा बोली, "अरे पापी ! अरे राजकुलाधम ! तू तेरे पिता को इससे भी ज्यादा प्यारा था। क्या तू नहीं जानता ? मुजे दुष्ट अभिलाष होने द्वारा तू जन्मा है और तब से ही तू तेरे पिता का बैरी बना है। 'सगर्भा स्त्रियों को गर्भ अनुसार ही अभिलाष होता है।' गर्भ में रहा हुआ तू तेरे पिता का बैरी है ऐसा जानकर मैंने पति के कल्याण की इच्छा से गर्भपात करने के लिये अनेक प्रयत्न किये थे फिर भी तू उन औषधों से नाश न पाते हुए उलटे ही पुष्ट बना था। बलवान पुरुषों को सभी वस्तु पथ्य होती है। तेरे पिता ने मैं पुत्र का मुख कब देखूं, ऐसी आशा से मेरे बूरे अभिलाष को भी पूरा किया था। फिर जब तू जन्मा तब तूजे तेरे पिता का बैरी मानकर मैंने छोड़ दिया था, लेकिन तेरे पिता अपने जीवितव्य की तरह तूजे वापस ले आये थे। तूजे छोड़ दिया उस समय मुरगे के पंख से तेरीं एक अंगुलि छिद गई थी वह पक जाने से और अंदर जीव पड़ने से तूजे अत्यंत पीडा हुई थी। उस समय तेरी उस उंगली को भी तेरे पिता मुख में रखते थे और जब तक मुख में रखते तब तक तुजे सुख होता था। अरे ! बूरे चारित्रवाले ! इस तरह जिस पिता ने तूजे महा कष्ट भोगकर लालितपालित किया था, उसके बदले में इस समय ऐसे उपकारी पिता को तूने कारागृह में डाला है।"

कूणिक बोला, "माता ! मेरे पिता ने मुजे गुड़ के मोदक भेजे और हल-विहल को मिसरी के मोदक भेजे उसका क्या कारण ?" चेल्लणा बोली, "अरे मूढ ! तू तेरे पिता का द्वेषी है ऐसा जानकर, मुजे अनिष्ट हुआ था इसलिये गुड के मोदक तो मैंने भेजे थे।" इस प्रकार स्पष्टता होने से कूणिक बोला, "अविचारी कार्य करनेवाले ऐसे मुजे धिक्कार है। परंतु अब ज्यों रखी हुई अमानत वापस सौंपे त्यों मेरे पिता को राज्य वापस दे देता हूँ।" इस प्रकार कहकर आधा भोजन किया था उसी स्थिति में पूरा भोजन करने के लिये न रुकते हुए आचमन (पानी पीकर) लेकर धात्री को पुत्र सौंपकर कूणिक पिता के समीप जाने के लिये उत्सुक होकर खड़ा रहा और वहां जाकर मेरे हाथ से ही पिता के चरण की बेडी तोड़ डालूं' ऐसा विचार करके एक लोहदंड उठाकर बह श्रेणिक के पास जाने के लिये दौडा।

कूणिक ने श्रेणिक के पास रखे पहरेदार पूर्व के परिचय से श्रेणिक के समीप आये और कूणिक को शीघ्रता से आता देखकर आकुल-व्याकुल होकर इस प्रकार बोले, "अरे राजेन्द्र ! साक्षात यमराज की तरह लोहदंड को धारण करके आपका पुत्र तेजी से आ रहा है तो क्या करेंगे ? तो क्या करेगा

वह हम कुछ नहीं जान सकते।'' वह सुनकर श्रेणिक ने सोचा, ''आज तो जरुर मेरे प्राण ही लेगा, क्योंकि आज तक तो वह हाथ में चाबूक लेकर आता था और आज तो लोहदंड लेकर आ रहा है। और मैं जान नहीं पाता की वह मुजे कैसे कुत्सित मार से मार डालेगा। इसलिये वह आया नहीं है तब तक में मुजे ही मृत्यु की शरण करनी योग्य है।'' ऐसा विचार करके उसने तत्काल तालुकूट विष जिह्वा के अग्रभाग पर रखा, जिससे पहले से ही मानो प्रस्थान करने के लिये तैयार हुआ हो त्यों उसके प्राण तत्काल चले गये।

कुणिक नजदीक आया तो उसने पिता को मृत्यु पाये हुए देखा, जिससे तत्काल उसने छाती कूटकर पुकार की और विलाप करने लगा, ''हे पिता ! मैं ऐसे पापकर्म से इस पृथ्वी में अद्वितीय पापी बना। और मैं जाकर पिता से क्षमा माँगू ऐसा मेरा मनोरथ भी इस समय पूर्ण नहीं हुआ, इस समय तो मैं अति पापी हूँ। पिताजी ! आपके प्रासाद का वचन तो दूर रहा, लेकिन मैंने आपका तिरस्कारभरा वचन भी नहीं सुना। मुझे बड़ा दुर्दैव बीच में आकर अडचन कर गया। अब भृगुपात (जंपापात) शस्त्र, अग्नि या जल से मुजे मरना, यही युक्त है।'' इस प्रकार अति शोक में ग्रस्त बना कुणिक मरने के लिये तैयार हुआ। फिर सचिवों ने उसे समजाया तो उसे श्रेणिक के देह का अग्निसंस्कार किया।

राजयक्ष्मा (क्षय) के व्याधि की तरह दिन-प्रतिदिन बड़े शोक से क्षीण होते राजा को देखकर सचिव चिंतन करने लगे कि 'जरुर हमारा राजा ऐसे अत्यंत शोक से मृत्यु पायेगा और पूरा राज्य विनाश पायेगा। इसलिये कुछ पितृभक्ति के बहाने उसका उपाय रचना चाहिए।' ऐसा सोचकर उन्होंने किसी जीर्ण ताम्रपत्र में ऐसे अक्षर लिखे कि 'पुत्र द्वारा दिये गये पिंडादिक मृत पिता भी पा सकते हैं।' फिर वह ताम्रपत्र उसने राजा के पास पढ़ सुनाया, जिससे ठगे गये राजा ने पिता को पिंड आदि दिये। तब से पिंडदान का प्रचार प्रवर्तित हुआ।

'मेरे दिये हुए पिंड आदि को मेरे मृत पिता भोगते हैं' ऐसी मूढ बुद्धि से रसविक्रिया को ज्वरवाले की तरह राजा ने शनैः शनैः शोक छोड़ दिया। फिर भी कोई कोई बार पिता की शैया और आसन वगैरह दिखाई देने पर सिंहावलोकन न्याय से वापस उसके हृदय में शोक उत्पन्न होता था। गिलोय के भोथे की तरह बार बार उसे शोक उत्पन्न होने लगा, जिससे वह राजगृह में रहने के लिये अशक्त बना, तो 'मैं यहां से दूसरे स्थान पर शहर बसाऊँ।' ऐसा विचार करके उसने उत्तम भूमि खोजने के लिये वास्तुविद्या में चतुर ऐसे पुरुषों को आज्ञा दी। उन उत्तम वास्तुविदो ने भूमि खोजने के लिये घूमते घूमते एक जगह चंपक का बड़ा वृक्ष देखा। उसे देखकर वे सोचने लगे कि ''यह वृक्ष किसी उद्यान में नहीं है। यहां कोई पानी की नहर दिखाई नहीं देती तथा इसके नीचे क्यारे में जल भी नहीं है, फिर भी ऐसा अद्भुत यह किस प्रकार हुआ होगा ! अहो ! इसकी शाखाएं कैसी विशाल हैं ? पत्रलता कैसी अद्भुत है ? नये पल्लव कैसे खिले हैं ? पुष्पों की सुगंध कैसी आती है ? छत्र का भी पराभव करें ऐसी कैसी सुंदर शीतल छाया है ? अहो ! इसके नीचे विश्राम करने की कैसी योग्यता है ? अरे ! इसका सब कितना सुंदर है ! शोभा के स्थानरुपी यह चंपक

वृक्ष जैसा स्वभाव से ही रमणीक है, वैसे यहां नगर बसायेंगे तो वह भी रमणीय हो जायेगा।'' इस प्रकार सोचकर उन्होंने राजा के पास आकर कहा कि ''जैसा यह चंपक वृक्ष शोभित हो रहा है, वैसा ही वहां नगर शोभा को पायेगा, ऐसा मानो कोल मिलने से आये त्यों हमें विश्वास आता है। इसलिये वह स्थान नगर बसाने योग्य है।'' फिर राजा ने चंपक वृक्ष के नाम से चंपा नाम की नगरी तेजी से वहां बसाई। ''राजाओं को वचन से ही कार्य सिद्धि होती है।'' फिर कूणिक अपने भ्राताओं के साथ बल[1], वाहन वगैरह लेकर चंपापुरी में आकर पृथ्वी का राज्य करने लगा।

एक बार हल्ल और विहल्ल नाम के दो देवर को सेचनक हाथी पर आरुढ हुए दिव्य कुंडलों से मंडित तथा दिव्य हार और दिव्य वस्त्र धारण करने से अद्‌भुत शोभा द्वारा मानो पृथ्वी पर देव पधारे हो ऐसा देखकर कूणिक की स्त्री पद्मावती स्त्रीपन के योग्य विचार करने लगी, 'ऐसे दिव्य वस्त्र, हार, कुंडल और सेचनक हस्ती के बिना मेरे पति का राज्य नेत्र बिना के मुख जैसा है।' फिर उसने हल्ल-विहल्ल से वे दिव्य हार वगैरह ले लेने का अपने पति को आग्रह किया, तो कूणिक ने उसको कहा, ''हल्ल-विहल्ल को जो पिता ने दिया है, वह वापस लेना योग्य नहीं है। पिता स्वर्ग में जाने के बाद तो वे दोनों मुजे विशेषरुप में प्रासाद करने के लिये योग्य है।'' फिर भी रानी ने बड़ा आग्रह किया, तब आखिरकार राजा ने वह हार माँग लेने का कबूल किया। ''स्त्रियों का आग्रह मकोडे के आग्रह से भी विशेष है।'' एक बार कूणिक ने हल्ल-विहल्ल से सौभ्रातृपना[2] छोड़ देकर वह हार वगैरह चारों चीज मांगी, तो 'जैसी आपकी आज्ञा' ऐसा कहकर वे दोनों अपने घर गये। फिर बुद्धिमान ऐसे वे दोनों सोचने लगे कि 'कूणिक का यह अभिप्राय ठीक नहीं है, लेकिन उसका हमें क्या प्रयोजन है ? हम तो यहां से किसी दूसरी जगह चले जायेंगे।' ''पराक्रमियों को सब जगह श्रेय ही होता है।'' ऐसा निश्चय करके वे हल्ल-विहल्ल अपना अंतःपुर और दिव्य हार वगैरह लेकर उसी रात्रि में वहां से निकलकर **वैशाली** नगर की ओर चले। वहां उनका **चेटक** नाम का मातामह (नानाजी) था। उसने स्नेह से आलिंगन करके उनका सत्कार किया और युवराज की तरह अपने पास रखा।

प्रातःकाल में कुणिक को मालूम पड़ा कि हल्ल-विहल्ल तो धूर्त की तरह छलकर वैशाली नगरी में चले गये हैं। तो दाढी पर हाथ रखकर वह सोचने लगा कि ''अहो ! मुजे तो हस्ती वगैरह रत्न भी न रहे और दोनों भ्राता भी न रहे। स्त्री की प्रधानता से अर्थात् उनके कहे अनुसार चलने से मैं उभयभ्रष्ट हुआ। जो बना वह सही, लेकिन अब तो ऐसा कष्ट प्राप्त होने पर यदि मैं उन्हें वापस न लाऊं तो ऐसे पराभव को सहन करने में मुझमें और वणिक में क्या अंतर ?'' इस प्रकार सोचकर उसने किसी दूत को समजाकर वैशाली नगरी में चेटक राजा के पास रत्न लेकर आये हुए अपने भाइयों की मांग करने के लिये भेजा। वह दूत वैशाली नगरी में पहुँचकर चेटक राजा की सभा में गया और चेटक राजा को प्रणाम करके आसन पर बैठकर सभ्यता से इस प्रकार बोला, ''हे राजन् !

१. चारों प्रकार की सेना। २. उत्तम बंधुपन।

यहां हल्ल-विहल्ल कुमार गजादिक रत्न लेकर भाग आये हैं, उनको हमारे स्वामी कुणिक को सौंप दो। यदि नहीं सौंपोंगे तो आप राज्यभ्रष्ट हो जाओंगे, जिससे एक बिलिपत्र के लिये पूरा देवालय तोड़ने जैसा करना आपके योग्य नहीं है।'' चेटक राजा बोला, ''दूसरा कोई शरण में आया हो तो उसे भी नहीं सौंपा जाता, तो फिर ये तो मेरे भानजे हैं, कि जो मुज पर विश्वासी है और मुजे पुत्रवत् प्रिय हैं। मुजसे उनको किस प्रकार सौंपा जाय ?'' दूत बोला, ''आप शरण में आये हुए उनको शायद न सोंपो तो कुछ नहीं लेकिन उनसे रत्न लेकर मेरे स्वामी को अर्पण करों।'' चेटक राजा बोला, ''अरे दूत ! राजा और रंक का ऐसा समान धर्म है कि दूसरे के वित्त को दे देने के लिये दुसरा मनुष्य कदापि सत्ता नहीं रखता। और जबरन या समजाकर भी मैं उनसे कुछ भी ले सकू ऐसा नहीं है, क्योंकि वे मेरे धर्मपात्र भानजे होने से दान देने के योग्य हैं।'' ऐसा उत्तर सुनकर वहां से वापस लौटकर दूत चंपानगरी में आया और चेटक राजा ने दिये हुए उत्तर अपने स्वामी कूणिक को कह सुनाये, जो उसके क्रोधरुपी अग्नि में चक्रवात जैसे बन पड़े।

कूणिक ने तत्काल चेटक राजा पर चढाई करने के लिये जयभेरी (रणभेरी) बजवाई। ''महापराक्रमी वीर शेर की तरह दूसरे के आक्षेप को सहन नहीं कर सकते।'' भेरीनाद सुनकर असामान्य तेजवाले कुणिक राजा के सैनिक सज्ज हो गये। काल वगैरह दस बलवान कुमार (कुणिक के भाइ) सर्व प्रकार से सज्ज होकर सैन्य के आगे चले। उस प्रत्येक कुमार के साथ तीन तीन हजार हाथी, उतने ही अश्व, उतने ही रथ और तीन कोटि पायदल का सैन्य तैयार हुआ। ऐसा कुणिक का प्रभुपना था। ऐसे बड़े सैन्य के साथ चंपापति चेटक राजा के सम्मुख चला। उसके सैन्य के प्रयाण से पृथ्वी और सूर्य दोनों ढंक गये। राजा चेटक ने भी अपरिमित सैन्य से कूणिक का सामना करने की तैयारी की। अट्ठारह मुगटबद्ध राजा, उसके चारोंओर थे। प्रत्येक राजा के साथ तीन हजार गजेन्द्र, उतने ही घोडे, उतने ही रथ और तीन कोटि पैदल सेना थी, जिससे चेटक का सैन्य भी कूणिक के जितना ही था। चेटक राजा विशाला से चलकर अपने देश की सीमा पर जाकर खड़ा रहा। सामने का सैन्य आ मिलते ही अपने सैन्य में दुर्भेद्य सागरव्यूह की रचना की। चंपापति कूणिक ने भी पूर्व बताये अनुसार अपनी सेना में शत्रु सेना को अभेद्य ऐसे गरुडव्यूह की रचना की। दोनों सेना में ध्वनि से आकाश और अंतरिक्ष को भरते हजारों घोर सैन्य वाजिंत्र बजने लगे और दोनों सेना में कीर्ति के स्तंभ हो त्यों स्तब्ध और सेवकों ने प्रचलित किये हुए पूरों द्वारा शंखवादक घूमने लगे।

पहले कुणिक के सैन्य के नायक काल कुमार ने चेटक राजा की सेना के साथ युद्ध करना प्रारंभ किया, तो दोनो सैन्य में गजारुढ से गजारुढ, घुडसवार से घुडसवार, रथी से रथी और पैदल से पैदल सैनिक युद्ध करने लगे। भालों के घाव से गिरते हाथी और घोड़ो से पूरी पृथ्वी, पर्वत और शिलाओंवाली हो त्यों दिखने लगी। टूटे हुए रथ और हणाएं (मरे) हुए वीरों से रुधिर की नदियाँ जलमानुष व द्वीपोंवाली हो त्यों दिखने लगी। उस समय रणांगण में वीर कुंजरों के स्फूरणायमान होते खडगो से मानो असिपत्र (तलवार) का वन प्रकट हुआ हो वैसा दिखता था। खडगों से कटकर

उछलते शूरवीरों के करकमल लेकर माँसभक्षी राक्षस कर्ण के आभूषण का कूतुहल पूर्ण करते थे और सुभटों के मस्तक खडगधारा से अलग होते हुए हुंकार द्वारा मानो अपने धड को लड़ने की आज्ञा करते हो वैसा लगता था। इस प्रकार समुद्र का जहाज द्वारा अवगाहन करें त्यों कालकुमार सागरव्यूह का अवगाहन करके उसको पार पाये की भाँति चेटक राजा के पास आया। जब काल जैसा कालकुमार बेसमय अपने पास आया तब चेटक राजा ने सोचा कि 'वज्र की तरह इस कुमार को कोई भी स्खलित नहीं कर सका है। इसलिये यह संम्मुख आ रहा कालकुमार जो रणरुपी सागर में मंदरगिरि जैसा है, उसका मैं इस दिव्य बाण से क्षण में निग्रह कर दूं।' ऐसा विचार करके प्राणरुपी धन को चोरनेवाला एक बाण छोड़कर चेटक ने कालकुमार को तत्काल पंचत्व प्राप्त करा दिया। उस समय कालकुमार की तरह सूर्य भी अस्त पाया और चंपापति का सैन्य ज्यों शोकग्रस्त हुआ त्यों पूरा जगत भी अंधकार से ग्रस्त हुआ। उस रात्रि में चंपापति का सैन्य युद्ध छोड़ देने पर भी जागृत ही रहा, क्योंकि अभक्त स्त्रीवाले पुरुष की तरह सिर पर बैरवाले पुरुष को निंद्रा कहां से आये ? चेटक राजा के सैन्य में उसके सुभटों ने वीर जयंती करके वाजिंत्रों के नाद से आनंद में रात्रि व्यतीत की।

दूसरे दिन चंपापति कूणिक ने सेनापति पद पर काल के छोटे भाई महाकाल का अभिषेक किया। उसे भी चेटक राजा ने काल की तरह मार डाला। इस प्रकार सेनापति के पद पर आये श्रेणिक राजा के अन्य आठ कुमारों को भी चेटक ने एक एक दिन पर मार डाला। इस प्रकार जब अपने जैसे काल वगैरह दस कुमार मारे गये तब कूणिक ने विचार किया कि 'देवता के प्रसाद से एक बाण द्वारा चेटक राजा सबको जीत लेता है, जिससे वह कोटि मनुष्यों से भी जीता नहीं जायेगा। मुजे धिक्कार है कि चेटक का ऐसा प्रभाव जाने बिना देव जैसे मेरे दस भाइयों को मैंने मरवा डाला। यदि अब मैं युद्ध करुंगा तो जो गति उनकी हुई है वह गति मेरी भी होगी। इसलिये युद्ध करना योग्य नहीं है। अब भ्रातृवध देखकर मुजे यहां से वापस लौटना भी योग्य नहीं है, इसलिये मैं भी किसी देवता का आराधन करके उसके प्रभाव से शत्रु को जीत लूं।' 'दिव्य प्रभाव दिव्य प्रभाव द्वारा ही बाधित (रुकावट) होता है।' उपरोक्त उपाय सोचकर हृदय में किसी देव का ध्यान धरकर श्रेणिककुमार कुणिक अट्ठम भक्त (उपवास) करके स्थित हुआ। पूर्व जन्म के तप से और उसमें इस जन्म का तप मिलने से शक्रेन्द्र और चमरेन्द्र तत्काल वहां आये। उन्होंने कूणिक को कहा कि 'हे भद्र ! क्या इच्छा है ?' वह बोला, 'यदि आप प्रसन्न हुए हो तो चेटक राजा को मार डालो।' शक्रेन्द्र ने दुबारा कहा कि 'इसके सिवा दूसरा कुछ मांगो, क्योंकि चेटक राजा श्रावक होने से मेरा साधर्मिक है जिससे उसे मैं कदापि मारुंगा नहीं। फिर भी मैं तेरे देह की रक्षा करुंगा कि जिससे उससे तू जीता नहीं जा सकेगा।' कूणिक ने 'एवमस्तु !' कहकर वह बात स्वीकारी। फिर चमरेन्द्र ने महाशिलाकंटक और रथमूशल नाम के दो विजयदायी संग्राम करने को कहा। पहले महाशिलाकंटक संग्राम में दुश्मन की ओर से महाशिला आये तो वह कंकर समान हो जाती है और दुश्मन तरफ एक कांटा डाला हो तो वह बड़े शस्त्र से अधिक हो पड़ता है। दूसरे रथमूशल संग्राम में चारोओर

चक्रपना होता है, और जिससे सर्वत्र संग्राम करने आया हुआ शत्रुओं का सैन्य नजर आ जाता है। फिर सुरेन्द्र, असुरेन्द्र और नरेन्द्र (कुणिक) ने मिलकर चेटक राजा की सेना के साथ युद्ध करना आरंभ किया। उस समय नागरथी का पौत्र वरुण जो श्रावक के द्वादश व्रत को पालनेवाला सम्यक्दृष्टि, छट्ठ, छट्ठ पर भोजन करनेवाला, संसार से विरक्त और राजाभियोगी छट्ठ के अंत पर भी अट्ठम करनेवाला था। उसकी चेटक राजा ने बड़ी प्रार्थना की तो वह रथमूशल नाम के दुःसह संग्राम में सत्यप्रतिज्ञा लेकर सेनापति बनकर युद्ध करने घुंसा। वह युद्ध करने के लिये आक्षेप करते हुए असह्य वेगवान रथ द्वारा कुणिक के सेनापति पर धँस आया। रथ को आमने-सामने करके वे दोनों युद्ध की इच्छा से मानो पृथ्वी पर सूर्य और राहु आये हो त्यों एक-दूसरे के समीप आये। कूणिक का सेनापति युद्ध की माँग करते हुए वरुण के सामने खड़े रहकर उसे 'प्रहार कर, प्रहार कर' ऐसा कहने लगा। उसके उत्तर में वरुण बोला, 'हे महाभुज ! मैं श्रावक हूँ, इसलिये मेरा ऐसा व्रत है कि किसी के उपर पहले प्रहार करना नहीं।' वह सुनकर, 'हे महासत्त्व ! शाबाश है।' ऐसा कहकर कूणिक के सेनापति ने उस पर ऐसा बाण छोड़ा कि जिससे वरुण का मर्मस्थान छिद गया। फिर वरुण ने लाल नेत्र करके एक प्रहार द्वारा कूणिक के सेनापति को यमद्वार पर पहुँचा दिया और तत्काल गाढ प्रहार से घायल बना वह रण में से निकल गया। बहार निकलकर एक जगह तृण का संथारा करके उस पर बैठकर वह इस प्रकार चिंतन करने लगा-

"इस शरीर द्वारा सब प्रकार से स्वामी का कार्य किया है, अब अंतकाल समीप आया होने से साधना का अवसर है। इसलिये अब महापूज्य ऐसे अरिहंत सर्वसिद्ध साधू और केवली भगवंत के कहे धर्म की मुजे शरण हो। मैं सब जीवों से क्षमा माँगता हूँ। वे सब मेरे अपराध को क्षमा करें। अब मुजे सब जीवों के साथ मैत्री है, किसी के साथ बैर नहीं है। तीन जगत में मेरा कोई नहीं है और मैं किसीका नहीं हूँ। मुज में जो जगत के पदार्थों पर ममता थी उसे मैं छोड देता हूँ। मैंने मूढ होकर कौन कौन से पापस्थानों का सेवन नहीं किया ! अब इस समय नियोगी बना ऐसा मैं उसके सर्व दुष्कृत्य मिथ्या हो। देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकीपन में मैंने जो जो दुष्कृत्य किये हो उन सबको मैं निंदता हूँ। श्री वीरप्रभु एक ही मेरी गति हो।" इस प्रकार आराधना करके उसने चतुर्विध आहार के पच्चखाण किए और फिर समाहित (अच्छे) मन से नवकार मंत्र का ध्यान धरा। उस समय वरुण का एक मित्र मिथ्यात्वी था। वह रण में से एकाएक बाहर निकलकर वरुण के पास आया और इस प्रकार बोला, 'हे मित्र ! मैं तुम्हारे स्नेह से बीक गया हूँ। इसलिये अज्ञ होने पर भी तुम्हारे ग्रहण किये हुए मार्ग का स्वीकार करता हूँ।' ऐसा कहकर वह भी उसकी तरह ध्यानपरायण हुआ। वरुण नवकार मंत्र को जपते हुए धर्म ध्यान में परायण होकर समाधि द्वारा मृत्यु पाकर सौधर्म देवलोक में देवरुप में उत्पन्न हुआ। वहां अरुणाभ नाम के विमान में चार पल्योपम का आयुष्य पूर्ण करके महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर सिद्धिपद को पायेगा। उसका मिथ्यात्वी मित्र भी वरुण के मार्ग पर ही मृत्यु पाकर उसका मित्र देवता बनकर किसी उत्तम कुल में मनुष्य बनेगा और दूबारा विदेह क्षेत्र में पुनः उत्तम कुल में मनुष्यत्व पाकर मुक्तिमार्ग की

आराधना करके मोक्षपद को पायेगा।

वरुण मृत्यु पाने की खबर मिलने से चेटक राजा के सुभट लकड़ी का स्पर्श होने से वराह की तरह युद्ध करने का द्विगुण उत्साह धरने लगे। उपर से गणराज द्वारा सनाथ बने चेटक की सेना के सुभटों ने क्रोध से होठ भीड़कर कुणिक की सेना को बड़ा कूटा। अपने सैन्य को इस प्रकार पीटते हुए देखकर कुणिक राजा पत्थर से हणे गये शेर की भाँति क्रोध से उद्धत होकर स्वयं दौड आया। वीर कुंजर (हाथी) कुणिक ने सरोवर की भाँति रणभूमि में क्रीडा करके शत्रु के सैन्य को कमलखंड की तरह दसों दिशाओं में बिखेर डाला, जिससे कुणिक को दुर्जय जानकर अति क्रोध पाया हुआ चेटक जो शौर्यरुपी धनवाला था, उसने धनुष्य पर वह दिव्य बाण चढाया। उस समय शक्रेन्द्र ने कुणिक के आगे वज्रकवच रखा और चमरेन्द्र ने उसके पीछे लोहकवच रखा। फिर वैशाली नगरी के पति चेटक ने धनुष्य को कान तक खींचकर दिव्य बाण छोड़ा, लेकिन वह वज्रकवच से स्खलित हो गया। उस अमोघ बाण को निष्फल हुआ जानकर चेटक राजा के सुभट उसके पुण्य का क्षय मानने लगे। सत्यप्रतिज्ञावाले चेटक ने दूसरा बाण छोड़ा, वह भी निष्फल हुआ तो वह वापस लौटा। दूसरे दिन भी उसी प्रकार युद्ध हुआ और चेटक ने उसी प्रकार बाण छोडे, लेकिन वे सफल नहीं हुए। इस तरह दिन-प्रतिदिन उनका अतिघोर युद्ध हुआ और दोनो पक्ष के मिलकर एक कोटि और अस्सी लाख सुभट मृत्यु पा गये। वे तिर्यंच में और नारकी में उत्पन्न हुए। फिर गणराजा भागकर अपने अपने नगर में चले गये। तो चेटक राजा भी पलायन करके अपनी नगरी में घुस गया, तो कुणिक ने आकर विशाला नगरी को घेर लिया।

फिर हररोज रात्रि में सेचनक हाथी पर चढ़कर हल्ल-विहल्ल कुणिक के सैन्य में आने लगे और सैन्य का बड़ा विनाश करने लगे, क्योंकि वह सेचनक हाथी स्वप्नहस्ती की तरह किसी से मारा या पकड़ा नहीं जाता था। जब रात्रि को सब सो गये हो तब आकर बडे सैन्य का विनाश करके हल्ल-विहल्ल कुशलक्षेम वापस लौट जाते थे। एक दिन सचिवों के प्रति कुणिक ने कहा कि 'इस हल्ल-विहल्ल ने तो प्रायः हमारे पूरे सैन्य को विलुप्त कर डाला है, इसलिये उनको जीतने का कोई उपाय है ?' सचिव बोले, 'जब तक वह नरहस्ती हल्ल-विहल्ल सेचनक हाथी पर बैठकर आते हैं तब तक वे किसीसे भी जीते नहीं जायेंगे। इसलिये हमें तो उस हस्ती का वध करने की जरुरत है। जिससे उसके आने के मार्ग में एक खाई करके उसमें खेर के अंगारे संपूर्णतः भर दो और उसके पर आच्छादन (ढक) करके उसे पूल की भाँति मालूम न पड़े ऐसा करो। फिर सेचनक वेगपूर्वक दौडता हुआ आयेगा तो उसमें गिर जायेगा और मृत्यु पायेगा।' कुणिक ने तुरंत ही खेर के अंगारे से पूर्ण ऐसी एक खाई उसके आने के मार्ग में करवाई और उसके उपर आच्छादन कर दिया। अब हल्ल-विहल्ल अपने विजय से गर्वित होकर सेचनक हाथी पर बैठकर उस रात्रि में भी कुणिक के सैन्य पर हल्ला करने के लिये विशाला में से निकले। मार्ग में वह अंगारेवाली खाई आयी, तो तुरंत ही सेचनक उसकी रचना को विभंगज्ञान से जान गया, जिससे वह उसके किनारे पर खडा रहा। चलाने का बडा प्रयास किया फिर भी जरा सा भी नहीं चला, तो हल्ल-विहल्ल ने

उस हाथी का तिरस्कार करके कहा, "अरे सेचनक ! तू इस समय सचमुच पशु हुआ, इसलिये इस समय रण में जाने के लिये कायर होकर खडा रहा है। तेरे लिये हमने विदेशगमन किया और बंधु का त्याग किया, तथा तेरे ही लिये हमने आर्यचेटक को ऐसे दुर्व्यसन में डाला। जो अपने स्वामी पर सदा भक्त रहे ऐसे प्राणी को पोसना ही श्रेष्ठ है, लेकिन तेरे जैसे को पोसना योग्य नहीं है कि जो अपने प्राण को प्यारे करके स्वामी के कार्य की उपेक्षा करता है।" ऐसे तिरस्कारभरे वचन सुनकर अपनी आत्मा को भ्रष्ट मानते हुए सेचनक हस्ती ने जबरन हल्ल-विहल्ल को अपनी पीठ पर से नीचे उतार डाला और स्वयं अंगारे की खाई में गिरकर आत्महत्या की। तत्काल मृत्यु पाकर वह गजेन्द्र पहली नारकी में उत्पन्न हुआ। यह देखकर दोनों कुमारों ने सोचा कि "हमें धिक्कार हैं। हमने यह क्या किया ! इसमें तो हम ही सचमुच पशु ठहरे। सेचनक पशु नहीं, क्योंकि पूज्य मातामह चेटक को ऐसे महासंकट में डालकर बड़ा विनाश प्राप्त करवाकर अब भी हम दुष्ट बुद्धिवाले जीवित हैं और हमारे आर्यबंधु के बड़े सैन्य का विनाश करने में प्रत्यभू (साक्षी) बने और उसका वृथा नाश करवाया तथा बंधु को अबंधुपन में लाये, इसलिये हमारा जीना युक्त नहीं है। फिर भी यदि जीना है तो अबसे ही श्री वीरप्रभु के शिष्य बनकर जीना, अन्यथा नहीं।"

उस समय शासनदेवी भावयति बने उन दोनों को श्री वीरप्रभु के पास ले गई। तो तत्काल उन्होंने प्रभु से दीक्षा ली। हल्ल-विहल्ल ने इस प्रकार दीक्षा ली तो भी कुणिक विशाला नगरी नहीं ले सका, जिससे उस चंपापति कुणिक ने विशाला कबजे करने के लिये प्रतिज्ञा ली। "पराक्रमी पुरुषों को प्रतिज्ञा करने-से पुरुषार्थ वृद्धि पाता है।" वह प्रतिज्ञा इस प्रकार थी- "यदि मैं इस नगरी को गधे जोते हुए हल द्वारा न खोदूं तो मुजे आत्महत्या या अग्निप्रवेश करके मरना होगा।" ऐसी प्रतिज्ञा करके भी वह विशालापुरी को नहीं तोड सका, जिससे उसे बडा खेद हुआ। इतने में कर्मयोग से कुलवालुक उपर ऋष्टमान बनी देवी ने आकाश में रहकर कहा, "हे कुणिक ! यदि मागधिका वेश्या कुलवालुक मुनि को मोहित करके वश करे तो तू विशाला नगरी ग्रहण कर पायेगा।" ऐसी आकाशवाणी सुनकर तत्काल जिसे जय की प्रत्याशा उत्पन्न हुई है ऐसा कुणिक सज्ज होकर बोला, "बालकों की भाषा, स्त्रियों की भाषा और उत्पाति की भाषा प्रायः अन्यथा नहीं होती तो वे कुलवालुक मुनि कहां है और वे किस प्रकार मिल सकेंगे और मागधिका वेश्या भी कहां होगी ?" वह सुनकर सचिव बोले कि "हे राजन् ! मागधिका वेश्या तो आपके ही नगर में है, बाकी कुलवालुक मुनि को हम नहीं जानते हैं।" फिर कुणिक विशाला के विरोध के लिये आधा सैन्य छोड़कर बाकी के आधे सैन्य को लेकर अपनी चंपानगरी में आया और तुरंत ही चर सचिव की भाँति उसने मागधीका वेश्या को बुलाया। वह भी तुरंत उपस्थित हुई, तो कुणिक ने उसे कहा कि "हे भद्रे ! तू बुद्धिमती और कलावती है। तू जन्म से लेकर अनेक पुरुषों को वश करके उपजीवित हुई है, तो अब मेरा एक कार्य सफल कर। तेरी सर्व कलाएं चलाकर कुलवालुक नाम के मुनि को तेरा पति करके ले आ।" वह मनस्विनी वेश्या ने 'मैं वह कार्य करुंगी' ऐसा स्वीकारा। चंपापति ने वस्त्र-अलंकार आदि से उसका सत्कार किया और उसे बिदा किया। फिर वह स्त्री घर जाकर विचार करके

उस मुनि को ठगने के लिये मूर्तिमंत माया हो त्यों कपटश्राविका बनी। फिर मानो गर्भश्राविका हो त्यों वह द्वादश प्रकार के गृहिधर्म को लोक में यथार्थ और सत्यरुप में दिखाने लगी। उसके उपर से उस युवती को सरल आशयवाले आचार्य चैत्यपूजा (मंदिर) में और धर्मश्रवण में तत्पर ऐसी यथार्थ श्राविका मानने लगे।

एक बार उस कपटश्राविका ने आकर आचार्य को पूछा कि 'गृहवर्य ! कुलवालुक साधू कहां हैं ?' कपटश्राविका के हृदय को नहीं जाननेवाले आचार्य ने उसके उत्तर में इस प्रकार कहा कि "धर्मज्ञ और पंचविध आचार में तत्पर ऐसे एक उत्तम मुनि थे। उन्हें कपि के जैसा चपल एक क्षुल्लक शिष्य था। वह समाचारी से भ्रष्ट, फिर भी उसे वारणा तथा स्मारणादि द्वारा गुरु ने बड़ी प्रेरणा की तो भी वह अतिदुर्विनित क्षुल्लक थोडा सा भी नहीं सुधरा। गुरु दुःख में सुनी जाय ऐसी और शास्त्र में कही हुई आचारशिक्षा उसे आदर से देते थे। आगम में कहा है कि 'अन्य रोष पाये या उसे विष जैसी लगे ऐसी जो बात वह गुण करनेवाली हो तो उसे कह दिखानी।' वह क्षुल्लक गुरु की कठोर या मधुर किसी भी प्रकार की शिक्षा मानता नहीं था। क्योंकि 'गुरु की वाणी भी लघुकर्मी शिष्य उपर ही असर करती है।' एक बार आचार्य विहार करते हुए गिरनार में आये और उस क्षुल्लक शिष्य को साथ लेकर उज्जयंत गिरि पर चढ़े। वहां दर्शन आदि करके गुरु नीचे उतर रहे थे उस समय उस अधम शिष्य ने गुरु को पीस डालने के लिये उपर से एक बडा पाषाण छोड़ा। उसकी आवाज सुनकर गुरु ने नेत्र संकोचकर देखा तो वज्रनाल गोले की तरह उस पाषाण को गिरते हुए देखा तो तत्काल गुरु ने पैर फैलाए और वह पाषाण उसके अंतर (बीच) में से निकल गया। "बुद्धिमान पर प्रायः आपत्ति दुःख देने में समर्थ नहीं हो सकती।" ऐसे उसके कर्म से क्रोध पाये गुरु ने उस क्षुल्लक को शाप दिया कि 'जा तू किसी स्त्री के संयोग से व्रत के भंग को पायेगा।' क्षुल्लक बोला, 'हे गुरु ! आपके शाप को वृथा (जूठा) करुंगा। अर्थात् जहां कोई स्त्री नजर ही न आये ऐसे अरण्य में जाकर रहूंगा।' इस प्रकार कहकर वह दुर्मति ज्यों लज्जा का त्याग करें त्यों गुरु का त्याग करके शेर की भाँति निर्जन अरण्य में चला गया। वहां किसी पर्वत में से निकलती हुई नदी के मूल समीप कायोत्सर्ग में रहा। वह मास पर या अर्धमास पर कोई पथिक आये तब कायोत्सर्ग पालता था और पारणा करता था। इस प्रकार नदी के उद्गम समीप रहकर वे मुनि तप करते थे इतने में आकाश पर बादलरुपी चंदवा बांधती हुई वर्षाऋतु आयी। उसमें अधिक जल आने से रसोद्रेक[1] द्वारा कुलटा स्त्रियों की भाँति नदियां दोनों कुल[2] (तट) को लोपने लगी और उन्मार्गगामी[3] होने लगी। उस नदी के तट पर वे मुनि रहे हैं वहां जल की बाढ आने पर श्री अर्हंत के शासन की भक्त किसी देवी ने सोचा कि यदि मैं इस समय उपेक्षा करुंगी तो यह जल की बाढ उसके तट पर रहे मुनि को तट के वृक्ष की भाँति घसीट जायेगी।' इस प्रकार सोचकर उस देवी ने उस गिरि नदी की बाढ को दूसरी दिशा में प्रवर्तित की। "तपस्वियों को चाहे जहां भी कुशलता

१. विषयरस की वृद्धि द्वारा। २. स्त्रीपक्ष में पिता का और ससुर का - दोनो कुल का ३. स्त्रीपक्ष में दुराचारी।

होती है।'' तब से उन मुनि का नाम **कुलवालुक** पड़ा। इस समय वे महातपस्वी मुनि यहां नजदीक के प्रदेश में ही स्थित है।''

इस प्रकार कुलवालुक मुनि संबंधी खबर मिलने से जिसका कपटरुपी वृक्ष सफल बना है ऐसी वह वेश्या तुरंत कृतार्थ हुई हो त्यों नेत्र विकसित करते हुए आचार्य के पास से उठी और वहां से प्रयाण करके तीर्थयात्रा के बहाने मार्ग में चैत्यवंदना करते करते जिस प्रदेश में कुलवालुक मुनि थे वहां आयी। उनकी वंदना करके वह मायावी श्राविका बोली, 'हे मुनि यदि आप साथ पधारे तो मैं गिरनार आदि तीर्थों की वंदना करुं।' मुनि ने कायोत्सर्ग छोड़कर 'धर्मलाभ' आशिष दी और पूछा कि ''भद्रे ! तीर्थ वंदना करते करते तुम कहां से आ रही हो ?'' वह बोली, ''महर्षि ! मैं चंपानगरी से तीर्थ वंदना के लिये निकली हूँ और मैंने सर्व तीर्थों से उत्कृष्ट तीर्थरुप ऐसे आपको यहां वंदना की है। अब भिक्षादोष से रहित ऐसा मेरा पाथेय लेकर उसके द्वारा पारणा करके मुज पर कृपा करें।'' उसकी भक्तिभावना देखकर उस मुनि का हृदय आर्द्र हो गया। जिससे तत्काल उसके साथ भिक्षा लेने के लिये गये। हर्ष पाकर ऐसी उस मायावी रमणी ने प्रथम से तैयार करके रखे हुए मोदक उस मुनि को भिक्षा में दिये। उस मोदक का प्राशन (भोजन) करते ही मुनि को अतिसार हो आया। ''द्रव्य का रसवीर्य विपाक कदापि अन्यथा नहीं होता।'' उस अतिसार से मुनि ऐसे ग्लान हो गये कि जिससे अत्यंत बल क्षीण हो जाने के कारण वह अपना अंग भी ढक नहीं सकते थे। उस समय वह कपटी मागधिका योग्य समय को जानकर बोली, ''महाराज ! मुज पर अनुग्रह करने के लिये आपने पारणा किया, उसमें मेरे पाथेय का भोजन करते ही आप ऐसी दुर्दशा को प्राप्त हुए, जिससे पापसरितारुपी मुजे धिक्कार है। अब ऐसी दशा को प्राप्त हुए आपको छोडकर मेरे चरण बंधन पाये हो त्यों यहां से आगे चलने में थोडा सा भी उत्साहित नहीं होते।'' इस प्रकार कहकर वह युवती वहीं रहकर और क्षणक्षण पर उस मुनि की सेवा करने लगी, तथा उनके अंग को मसलने और औषध देने लगी। वह मागधिका ने मुनि के अंग को इस प्रकार मर्दन करती थी कि जिससे उस मुनि को उसके सभी अंगों का स्पर्श होता था। प्रतिदिन इस प्रकार सेवा करके उसने उस मुनि को धीरे धीरे अच्छा कर दिया। चंपक की सुगंध से वस्त्र की तरह उसकी भक्ति से मुनि का हृदय भी सुवासित हुआ। इसके साथ ही उसके कटाक्षबाणों से, अंग के स्पर्श से और मृदु उक्ति से उनका चित्त चलायमान हो गया। ''स्त्री के संग से तप कब तक टिकेगा ?''

दिन-प्रतिदिन परस्पर एकशैया और आसन का प्रसंग होने पर कुलवालुक मुनि और मागधिका वेश्या को स्पष्ट रुप में दंपतीव्यवहार होने लगा। फिर मागधिका कुलवालुक मुनि को चंपानगरी में लायी। ''कामांध पुरुष नारी का किंकर (सेवक) होकर क्या क्या नहीं करता ?'' फिर उस वेश्या ने चंपापति के पास जाकर कहा, ''देव ! ये कुलवालुक मुनि हैं और उन्हें में मेरा पति बनाकर लायी हूँ, इसलिये अब क्या करना है इसके बारे में आज्ञा दीजिए।'' राजा ने आदरपूर्वक उस मुनि को कहा, 'वैशाली नगरी शीघ्र ही टूट जाय ऐसा कीजिए।' राजा की आज्ञा स्वीकार के बुद्धि के निधि कुलवालुक मुनि साधु के वेश में ही अस्खलितपन से वैशाली नगरी में गये। उस समय

चंपापति ने पहले से ही जय की प्रत्याशा से उत्सुक होकर अपने सभी सैन्य द्वारा वैशाली को घेर लिया। मागधिकापति कुलवालुक मुनि नगरी में सभी द्रव्यों को देखने लगे कि 'किस कारण से यह नगरी ली नहीं जा सकती ?' घूमते घूमते मुनिसुव्रतस्वामी का एक स्तूप उन्हें नजर आया। उसे देखकर उसकी प्रतिष्ठा के लग्न के बारे में सोचते हुए उसने बड़ा उत्तम योग पडा होने से, उसी कारण से ही प्रबलतापूर्वक विशाला के रक्षण का उपाय उसे समज में आया, जिससे किसी भी प्रकार से उसका भंग कराने की धारणा करके वे वैशाली नगरी में घूमने लगे। नगरी के घेरे से कदर्षित (पीडित) बने लोग उनको पूछते कि 'हे भदंत ! हम इस शत्रु द्वारा किये हुए नगरी के घेरे से बडे दुःखी हो गये हैं, तो अब उसमें से हमारा छुटकारा कब होगा ? यह यदि आप जानते हो तो बताइए।' मुनि बोले, 'हे लोगों ! मैं वह अच्छी तरह जानता हूँ। सुनो, जब तक इस नगरी में वह स्तूप है, तब तक नगरी पर से घेरा नहीं हटेगा। और जब वह स्तूप टूट जायेगा तब समुद्र की लता की तरह शत्रु का सैन्य अचानक वापस खिसक जायेगा। तो उस बात की आपको प्रतीति भी होगी। मैं मानता हूँ कि उस स्तूप को उखाडने से आपकी कुशलता होगी, क्योंकि उस स्तूप की प्रतिष्ठा महाबूरे लग्न में हुई है। वही आपको परेशान करता है।' इस प्रकार उस धूर्त मुनि द्वारा दी गई बुद्धि से ठगे हुए लोगों ने उस स्तूप को तोडना शुरु किया। ''सर्व जन दुःख से पीडित होने पर प्रायः अकृत्य हो तो भी वह करते हैं।'' जब लोग उस स्तूप को तोड़ने लगे तब मागधिकापति मुनि ने कुणिक के पास जाकर उसे सेना सहित दो कोष दूर तक पीछे हटवाया, जिससे लोगों को कुलवालुक की कही हुई बात पर भरोसा बैठते ही कोपायमान बने की भाँति कठोरतापूर्वक उस स्तूप का कूर्मशिला तक उन्मूलन कर दिया। फिर कुणिक ने बारह वर्ष के अंत में वैशालीपुरी को भग्न कर डाला, क्योंकि उस स्तूप के प्रभाव से ही उस नगरी का भंग नहीं हो सकता था। वैशाली का भंग होने से चंपा और वैशाली के पति के बीच में युद्धविराम हुआ। इस अवसर्पिणी में ऐसा महायुद्ध कभी भी नहीं हुआ। फिर चंपापति ने वैशालीपति को कहलवाया कि 'आर्य चेटक ! आप मेरे पूज्य हो। इसलिये कहिए, मैं आपका क्या प्रिय करुं ?' चेटक ने खेद पाकर उसके उत्तर में कहलवाया कि 'हे राजन् ! तू विजय के उत्सव में उत्सुक है, फिर भी थोडा विलंब से नगरी में प्रवेश करना।' दूत ने आकर चेटक का वचन कहा, तो 'बुद्धिक्षीण बने चेटक राजा ने इसमें क्या मांगा ?' ऐसा कहकर कुणिक ने वह वचन स्वीकारा।

सत्यकी नाम का एक खेचर जो सुज्येष्टा का पुत्र और चेटक राजा का भानजा लगता था, वह ऐसे समय पर वहां आया। उसने चित्त में सोचा कि 'मेरे मातामह की प्रजा को शत्रु लूंट ले रहे हैं यह मुज से किस प्रकार देखा जाय ? इसलिये मैं उसे कोई दूसरी जगह ले जाऊं।' ऐसा विचार करके वह पूरी नगरी के लोगों को विद्या के बल से उठाकर पुष्पमाला की तरह जतन करते हुए निलवान पर्वत पर ले गया। फिर चेटक राजा ने मृत्यु की लक्ष्मी हो त्यों लोहे की पूतली को गले से बांधकर अनशन करके गहरे जल में कूद पडा। उनको डूबते हुए देखकर धरणेन्द्र उसको साधर्मी जानकर अपने भुवन में ले गये। ''आयुष्य पूर्ण हुए बिना मृत्यु नहीं होती।'' धरणेन्द्र द्वारा

प्रशंसा पाते हुए और धर्मध्यान में तत्पर ऐसा बडे मनवाला चेटक राजा पहले रण में रहा था त्यों मृत्यु से निर्भय होकर वहां रहा। उस चतुर ने अर्हंत, सिद्ध, साधु और धर्म - जो चारों मंगलरुप और लोकोत्तम हैं, उनका स्मरण किया, वह इस प्रकार है - ''जीव, अजीव वगैरह तत्त्वों के उपदेशक परमेश्वर बोधिदायक और स्वयंबुद्ध ऐसे अर्हंत की मुजे शरण हो। ध्यानरुपी अग्नि से कर्मों को दग्ध करनेवाले तेजरुप अनश्वर और अनंत केवलज्ञानवाले भगवंत की मुजे शरण हो। निरअहंकार, निर्मम, समान चित्तवाले, महाव्रत को धरनेवाले और धीर साधुओं की मुजे शरण हो। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह - ये पांच यमवाले केवली प्ररुपित उत्कृष्ट धर्म की मुजे शरण हो। मैंने सैंकडों जन्मों में प्राणियों का जो कुछ मन-वचन-काया से अपराध किया हो उसे मैं मन-वचन-काया से निंदता हूँ। द्वादश प्रकार का गृहिधर्म पालते हुए मुजे जो कुछ अतिचार लगे हो उन सबको मैं वोसराता हूँ। क्रोध, मान, माया और लोभ से पराभव पाये हुए मैंने जो कुछ अहिंसा आदि पापकर्म किया हो उसे धिक्कार हो। अर्थात् उसका मैं मिच्छामिदुक्कडं देता हूँ।'' इस प्रकार आराधना करके नमस्कार मंत्र के स्मरण में परायण ऐसा चेटक राजा मृत्यु पाकर स्वर्ग के सुख का भाजन बना। यहां अशोकचंद्र ने (कुणिक ने) गधे के साथ हल जोतकर क्षेत्र की तरह उस नगरी को खोदकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी की। इस तरह दुस्तर नदी जैसी उस प्रतिज्ञा को पूर्ण करके चंपापति बडे उत्सव के साथ चंपानगरी में आया।

एक बार विहार से पृथ्वी को पवित्र करते हुए जगतगुरु श्री वीरप्रभु चंपा नगरी में आकर समवसरे। उस समय श्रेणिक राजा की कुछ स्त्रियों ने अपने पुत्रों के मरण वगैरह कारणों से विरक्त होकर प्रभु से दीक्षा ली। तीन लोक के संशय को छेदनेवाले श्री वीरप्रभु की वंदना के लिये कुणिक भी समवसरण में आया। प्रभु को नमन करके योग्य स्थान पर बैठने के बाद अवसर आने पर मस्तक पर अंजलि जोड़कर उसने प्रभु को पूछा, 'जो जन्म से मृत्यु तक भोग को नहीं छोड़ देते ऐसे चक्रवर्ती अंत में किस गति में जाते हैं ?' प्रभु बोले, 'वे सातवीं नारकी में जाते हैं।' कुणिक ने फिर से पूछा, 'हे प्रभु ! मेरी क्या गति होगी ?' प्रभु बोले, 'तू मृत्यु पाकर छठ्ठी नरक में जायेगा।' कूणिक बोला, 'सातवीं नरक में क्यों नहीं जाऊंगा ?' प्रभु बोले, 'तू चक्रवर्ती नहीं है।' ''स्वयं धर्म के योग्य और उपदेशक प्रभु महावीर, फिर भी श्रेणिक के पुत्रों की ऐसी दशा चिंतन योग्य है।'' कूणिक ने पूछा, 'भगवन् ! मैं चक्रवर्ती क्यों नहीं ? मुजे भी चक्रवर्ती जैसी चतुरंग सेना है।' प्रभु बोले, 'तेरे पास चक्र आदि रत्न नहीं हैं। एक भी रत्न कम हो तब तक चक्रवर्ती ऐसा नाम पड़ना दुर्घट है।' प्रभु से उपर कहे अनुसार सुनकर अहंकार का पर्वतरुप चंपापति वहां से खडा हुआ और अपनी नगरी में आकर तत्काल लोहे के एकेन्द्रिय सात महारत्न बनवाए तथा वृथा मनोरथ द्वारा कदर्थित बने उसने पद्मावती को स्त्रीरत्न मानकर हस्ती वगैरह दूसरे छः पंचेन्द्रिय रत्न भी कल्पित कर लिये। फिर पूरे भरतक्षेत्र को साधने के लिये बडा पराक्रमवाला कूणिक कइं देश साधते हुए वैताढ्यगिरि की तमिस्त्रा गुहा के समीप सैन्य सहित आया। दुर्दैव से दूषित बने और अपनी आत्मा को नहीं जाननेवाले उसने गुहाद्वार के दरवाजे पर दंड से तीन बार ताडन किया तो उस गुहाद्वार

का रक्षक कृतमालदेव बोला, 'यह मरने के लिये कौन तैयार हुआ है कि जो अपनी आत्मा को नहीं पहचानते हुए गुहाद्वार को दंड से ताडन करता है।' कुणिक बोला, 'अरे ! मैं विजय की इच्छा से आया हूँ। मुजे क्या तू नहीं पहचानता ? मैं अशोकचंद्र नाम का चक्रवर्ती उत्पन्न हुआ हूँ।' कृतमालदेव बोला, 'चक्रवर्ती तो बारह हो गये हैं, तो अब अप्रार्थित (मृत्यु) की प्रार्थना करनेवाला तू कौन है ? तेरी बुद्धि को स्वस्ति हो।' कुणिक बोला, 'बडा पुण्य करने से मैं तेरहवाँ चक्रवर्ती उत्पन्न हुआ हूँ। पुण्य से क्या दुर्लभ है ? और कृतमालदेव तू मेरा पराक्रम नहीं जानता। नहीं तो इस गुहा के द्वार खोले बिना रहता ही नहीं।' इस प्रकार देवदोष से ग्रहण बने की तरह असबद्ध भाषण करनेवाले उस कुणिक को कृतमालदेव ने रोष से तत्काल जलाकर भस्म कर दिया। इस प्रकार अशोकचंद्र (कुणिक) राजा मृत्यु पाकर छट्ठी नरक में गया। ''अरिहंत का वचन कदापि अन्यथा नहीं होता।''

कुणिक राजा मृत्यु पाया तो उसके मुख्य पुरुषों ने उसके पुत्र उदायी को राज्य पर बिठाया। उदायी राजा ने प्रजा का न्यायमार्ग से प्रतिपालन किया और इस पृथ्वी पर अखंडतापूर्वक जैनशासन प्रवर्तित किया। अपने स्थान पर रहे ऐसे उस प्रतापी राजा के प्रतापरुपी सूर्य को नहीं सहन कर सकनेवाले शत्रु उल्लू पक्षी की तरह गिरिगुहा में घुस गये। उसे स्वचक्र या परचक्र का भय कदापि उत्पन्न नहीं हुआ, लेकिन वह हंमेशां श्रावकव्रत के खंडन से भय पाता रहा। चार पर्वणि में[1] चतुर्थादि[2] तप द्वारा शुद्धि को वहन करके वह पौषधगृह में सामायिक लेकर स्वस्थता से रहता था। 'अरिहंत देव और साधु गुरु' इतने शब्दों का ध्यान मंत्राक्षर की तरह रात्रि-दिन उसके हृदय में से कदापि खिसकता नहीं था। वह उदयवान उदायी राजा दयालु था फिर भी अखंडित आज्ञा से सर्वदा त्रिखंड पृथ्वी पर राज्य करता था और वह सद्‌बुद्धि वीर श्री वीरप्रभु की अमृत समान धर्मदेशना का बार बार आचमन करके अपनी आत्मा को पवित्र करता था।

केवलज्ञान की उत्पत्ति से लेकर विहार करते हुए चरम तीर्थंकर श्री वीरप्रभु को चौदह हजार मुनि, छत्तीस हजार शांत हृदयवाली साध्वियाँ, तीनसौं चौदह पूर्वधारी श्रमण, तैरहसौं अवधिज्ञानी, सातसौं वैक्रिय लब्धिवाले, उतने ही केवली और उतने ही अनुत्तर विमान में जानेवाले, पांचसौं मनःपर्यवज्ञानी, चौदहसौं वादी, एक लाख और उनसठ हजार श्रावक और तीन लाख और अठारह हजार श्राविकाएं - इतना परिवार हुआ।

गौतम और सुधर्मा गणधर के सिवा दूसरे नौ गणधर मोक्ष में गये। फिर सुर-असुर और नरेश्वरों ने जिनके चरणकमलों का सेवन किया है ऐसे श्री वीरभगवंत अंत में अपापानगरी में पधारे।

इत्याचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि विरचिते त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरिते महाकाव्ये दशमपर्वणि देवताकृतरेणुवृष्टि प्रद्योतस्थापित जीवितस्वामि प्रतिमासहित वितभयपुरस्थगन अभयप्रव्रज्या कूणिक चरित्र चेटक चरित्र उदायिराज्य श्री महावीर परिवार वर्णनो नाम द्वादशः सर्गः।।१२।।

❖ ❖ ❖ ❖ ❖

१. अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावास्या। २. उपवास वगैरह।

तेरहवाँ सर्ग

भगवंत की अंतिम देशना, पांचवे, छट्ठे आरे के भाव, उत्सर्पिणी की स्थिति, भगवंत का निर्वाण वगैरह

अपापा नगरी में देवताओं ने तीन वप्रों (गढ़ो) से विभूषित ऐसा रमणीय समवसरण प्रभु को देशना देने के लिये रचा। सुर-असुरो से सेवित प्रभु अपने आयुष्य का अंत जानकर उसमें अंतिम देशना देने के लिये बैठे। प्रभु को समवसरे जानकर अपापापुरी का राजा **हस्तीपाल** वहाँ आया और प्रभु को नमन करके देशना सुनने के लिये बैठा। देवता भी सुनने की इच्छा से वहां आये। उस समय इन्द्र ने आकर नमस्कार करके इस प्रकार प्रभु की स्तुति की -

"हे प्रभु ! धर्म-अधर्म अर्थात् पुण्य-पाप बिना शरीर की प्राप्ति नहीं होती। शरीर के बिना मुख नहीं होता और मुख बिना वाचकत्व (बोलना) नहीं होता। इसलिये अन्य ईश्वर आदि देव दूसरे को शिक्षा देनेवाले किस प्रकार हो सकेंगे ? और देह बिना के ईश्वर की इस जगत को रचने में प्रवृत्ति ही घटती नहीं है, तथा स्वतंत्रतापूर्वक या दूसरे की आज्ञा से उनको जगत रचने की प्रवृत्ति में कुछ भी प्रयोजन नहीं है। अब यदि वे इश्वर क्रीडा के लिये ही इस जगत के सर्जन में प्रवर्तित हो तो वे बालक की भाँति रागवान ठहरेंगे, और यदि कृपा द्वारा सर्जन करें तो सब को सुखी करने चाहिए। हे नाथ ! दुःख, दरिद्रता और दुष्ट योनि में जन्म आदि क्लेश करके व्याकुल ऐसे लोगों का सर्जन करने में उस कृपालु ईश्वर की कृपालता कहां रही ? अर्थात् न रही। अब यदि वह ईश्वर कर्म की अपेक्षा धरवाकर प्राणियों को सुखी या दुःखी करते हैं ऐसा है तो वह भी हमारी तरह स्वतंत्र नहीं है- ऐसा ठहरेगा। और यदि इस जगत में कर्म से ही बनी यह विचित्रता है तो फिर ऐसे विश्वकर्ता नाम धरनेवाले नपुंसक ईश्वर द्वारा क्या कर्तव्य हैं ? अथवा महेश्वर की इस जगत रचने में स्वाभाविक ही प्रवृत्ति होती है, इसलिये उसका विचार ही न करना यूं कहेंगे, तो उन परिक्षको का परीक्षा के आक्षेप के लिये डंका समजना। अर्थात् इस बारे में किसीको परीक्षा ही नहीं करनी ऐसा कथन ठहरेगा। अब यदि सर्व भाव के बारे में ज्ञातृत्व रुप कर्तत्व कहते हो तो वह हमें मान्य है। कारण कि सर्वज्ञ दो प्रकार के होते हैं - एक मुक्त और दूसरे देहधारी। हे नाथ ! आप जिसके पर प्रसन्न होते हो, उसे उपर बताये अनुसार अप्रमाणिक ऐसी सृष्टि के कर्तृत्ववाद को छोड़कर आपके शासन के बारे में क्रीडा करते हैं।"

इस प्रकार स्तुति करके इन्द्र ने विराम पाया तो अपापापुरी के राजा हस्तिपाल ने निम्नानुसार स्तुति की -

"हे स्वामी ! विशेषज्ञ ऐसे आपकी कोमल विज्ञापना ही करनी ऐसा कुछ नहीं है, जिससे अंतःकरण की विशुद्धि के लिये कुछ कठोर विज्ञापना करता हूँ। हे नाथ ! आप पक्षी, पशु या शेर आदि वाहन पर जिनका शरीर बेठा हो ऐसे नहीं है तथा आपके नेत्र, मुख और गात्र की विकार

द्वारा विकृत आकृति भी नहीं है और आप त्रिशूल, धनुष्य और चक्रादि शस्त्रों द्वारा युक्त करपल्लव वाले नहीं हो तथा स्त्रियों के मनोहर अंग का आलिंगन देने में तत्पर ऐसे भी आप नहीं हैं। निंदनिक आचरणों द्वारा करके शिष्टजनों को जिन्होंने कंपित कर दिये हैं ऐसे भी आप नहीं हैं। तथा कोप और प्रसाद द्वारा जिन्होंने नर अमर को विडंबित किया है, ऐसे भी आप नहीं हैं। इस जगत की उत्पत्ति, पालन और नाश - ये करने में आदरवाले आप नहीं हो। तथा नृत्य, हास्य और गान आदि उपद्रवों द्वारा उपद्रवित आपकी स्थिति नहीं है। इस प्रकार होने से परिक्षकों को आपकी देवरुप में प्रतिष्ठा किस प्रकार करनी ? क्योंकि आप तो सर्व देवों से भी सर्वथा विलक्षण हो। हे नाथ ! जल के प्रवाह के साथ पत्ते, तृण और काष्ठादि खींचे चले जाय वह तो युक्तिवाला है। लेकिन बाढ़ को सामने से तैरी जाय ऐसा कहना वह कौन सी युक्ति से माना जाय ? लेकिन हे स्वामी ! ऐसे मंदबुद्धिवाले परिक्षकों के परीक्षण से चल गया। और मुजे भी ऐसे प्रयास से काम हो गया, क्योंकि सर्व संसारी जीवों के रुप से विलक्षण ऐसा ही आपका लक्षण हैं, उसकी बुद्धिमान प्राणी परीक्षा करें। यह जगत पूरा क्रोध, लोभ और भय से आक्रांत है और आप जिसमें विलक्षण हो लेकिन हे प्रभो ! वितराग ऐसे जो आप वे कोमल बुद्धिवालों को ग्राह्य नहीं बन सकते। अर्थात् तीक्ष्ण बुद्धिवाले ही आपको दैवरुप में पहचान सकते हैं।'' इस प्रकार स्तुति करके हस्तीपाल राजा विराम पाया तो चरम तीर्थंकर ने निम्नानुसार अंतिम देशना दी -

''इस जगत में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष - ये चार पुरुषार्थ है। उस में काम और अर्थ तो प्राणियों को नाम से ही अर्थरुप है, परमार्थ में अनर्थ रुप है, चार पुरुषार्थ में सही तरह तो अर्थरुप एक मोक्ष है और उसका कारण धर्म है। वह धर्म संयम वगैरह दस प्रकार का है और संसार सागर से तारनेवाला है। अनंत दुखरुप संसार है और अनंत सुखरुप मोक्ष है, जिससे संसार के त्याग का और मोक्ष की प्राप्ति का हेतु धर्म बिना दूसरा कोई नहीं है। पंगु मनुष्य भी वाहन के आश्रय से दूर जा सकता है तथा धनकर्मी हो फिर भी धर्म का आश्रय करने से वह मोक्ष में जाता है।''

इस प्रकार देशना देकर प्रभु विराम पाये। हस्तीपाल राजा ने प्रभु को नमन करके कहा, 'हे स्वामी ! मैंने आज स्वप्न में क्रमशः हाथी, कपि, क्षीरवाला वृक्ष, काकपक्षी, शेर, कमल, बीज और कुंभ - ये आठ देखे हैं, तो उसका फल क्या होगा, वह कहिए।[1] भगवंत ऐसा स्वप्न देखने से मुजे भय लगता है।' इस प्रकार हस्तीपाल ने पूछा, तो प्रभु बोले, 'हे राजन् ! सुन -

''१. अब से क्षणिक सुख में लुब्ध बने श्रावक विवेकविहीन जडता से हाथी जैसे होकर भी घर में पडे रहेंगे। महादुःखी स्थिति अथवा परचक्र का भय उत्पन्न होगा, तो भी वे दीक्षा नहीं लेंगे। कदापि दीक्षा ग्रहण की होगी तो उसे भी कुसंग होने से छोड देंगे। कुसंग होने से लिये हुए व्रत को पालनेवाले विरला ही होगे। इस प्रकार पहले हाथी के स्वप्न का फल है।

१. इन स्वप्नों में हाथी, कपि वगैरह मात्र स्पष्ट देखे नहीं है, लेकिन वे अलग अलग स्थिति में देखे हैं, उसका और उसके फल का विशेष वर्णन **दिवाली कल्प** में से मालूम कर लेना।

२. दूसरे कपि के स्वप्न का फल ऐसा है कि बहुत करके गच्छ के स्वामीभूत आचार्य कपि समान चपल परिणामी, अल्पसत्त्ववाले और व्रत में प्रमादी होंगे। इतना ही नहीं लेकिन धर्म में रहे अन्यों को भी विपर्यासभाव करायेंगे। धर्म के उद्योग में तत्पर वे कोई विरले ही निकलेंगे, जो स्वयंप्रमादी होने पर भी धर्म में शिथिल ऐसे अन्यों को शिक्षा देंगे। उनकी गाँव में रहे शहरी की तरह ग्राम्यजन हाँसी करे त्यों अन्यों की हाँसी करेंगे। हे राजन ! इस तरह आगामी काल में प्रवचन के अज्ञात पुरुष होंगे, यह कपि के स्वप्न का फल तुम्हें जानना है।

३. जो खीरवृक्ष का स्वप्न देखा, जिससे सातों क्षेत्र में द्रव्य खर्चनेवाले दातार और शासनपूजक क्षीरवृक्ष तुल्य श्रावक होंगे। उनको ठग ऐसे लिंगधारी घेर लेंगे। ऐसे पासथ्थाओं की संगत से शेर समान सत्त्ववाले महर्षि भी उनको श्वान की तरह सारविहिन लगेंगे। सुविहित मुनियों की विहारभूमि में ऐसे लिंगधारी शूलि जैसे होकर उपद्रव करेंगे। क्षीरवृक्ष समान श्रावकों को ऐसे मुनियों की संगत करने नहीं देंगे। इस प्रकार खीरवृक्ष के स्वप्न का फल है।

४. अब चौथे स्वप्न का फल इस प्रकार है - घृष्ट स्वभावी मुनि धरमार्थी होने पर भी काक पक्षी की तरह विहार वापिका में खेलते नहीं है, त्यों प्रायः अपने गच्छ में नहीं रहेंगे, जिससे दूसरे गच्छ के सूरि कि जो वंचना करने में तत्पर और मृगतृष्टिका जैसा मिथ्याभाव दिखानेवाले होंगे, उसके साथ जड आशय से चलेंगे। 'उनके साथ गमन करना युक्त नहीं है' ऐसा उपदेश करनेवाले को वे उलटे ही विपरित बाधा करेंगे। इस प्रकार काकपक्षी के स्वप्न का फल है।

५. श्री जिनमत, कि जो शेर जैसा है, उसे जातिस्मरण वगैरह से रहित वैसा धर्मज्ञ रहित ऐसा इस भरतक्षेत्र रुपी वन में नजर आयेगा। उसे परतीर्थिरुपी तिर्यंच तो पराभव नहीं कर पायेंगे, लेकिन शेर के कलेवर में ज्यों कीडे पडे और वह उपद्रव करें त्यों लिंगी की जो कृमि की तरह अपने में से ही उत्पन्न हुए हैं वे उपद्रव करेंगे और शासन की हिनता कराएंगे। कुछ लिंगधारी तो जैनशाशन के पूर्व के प्रभाव के कारण स्वापदों की भाँति अन्य दर्शनार्थियों से कदापि पराभव नहीं पायेगे, इस प्रकार शेर के स्वप्न का फल है।

६. कमलाकर में ज्यों कमल सुगंधित होते हैं, त्यों उत्तम कुल में उत्पन्न हुए सभी प्राणी धार्मिक होने चाहिए, लेकिन अब ऐसा नहीं होगा। धर्म परायण होकर भी वापस वे कुसंग से भ्रष्ट होंगे और घूरे (तालाब) में कमल उगने की तरह कुदेश और कुकुल में उत्पन्न हुए कोई कोई प्राणी धर्मी होगे, फिर भी वे हीन जाति के होने से अनुपादेय होंगे। इस प्रकार कमल के स्वप्न का फल है।

७. ज्यों फलप्राप्ति के लिये बीज उसर भूमि में बोए, त्यों कुपात्र में सुपात्र बुद्धि से अकल्प्य चीजें बोयेगा अथवा ज्यों कोई निराशयी किसान धुणाक्षर न्याय से उत्तम क्षेत्र में अबीज के अंतर्गत बीज बोये त्यों कोई श्रावक अकल्प्य के अंतर्गत कल्प्यरुपी पात्र दान करेगा। यह बीज स्वप्न का फल है।

८. क्षमादि गुणरुप कमलों से अंकित और सुचारित्ररुपी जल से पूरित ऐसे एकांत में रखे हुए कुंभ की तरह महर्षि किसी ही स्थान पर और वह भी बहुत कम दिखेंगे। और मलिन कलश जैसे शिथिल आचार और चारित्रवाले लिंगी जहां तहां कइं नजर आयेंगे। वे मत्सरभाव से महर्षियों के साथ कलह करेंगे और वे दोनों लोगों में समान गिने जायेंगे। गीतार्थ और लिंगी नगर लोग पागल होने से ज्यों राजा भी पागल बना था त्यों व्यवहार में समान बनेंगे। यह कुंभ के स्वप्न का फल है। एक दृष्टांत जो इस प्रकार है -

पृथिवीपुरी में **पूर्ण** नाम का राजा था। उसे **सुबुद्धि** नाम का बुद्धिसंपत्तिवाला सचिव था। सुख में काल व्यतीत करते हुए एक बार सुबुद्धि सचिव ने **देवलोक** नाम के निमित्तिए को भविष्यकाल संबंधी पूछा, तो वह निमित्तिया बोला, 'एक मास के बाद मेघवृष्टि होगी। उसके जल का जो पान करेगा, वे सब गृहिल (पागल) बन जायेंगे। फिर कुछ काल के बाद दूसरी बार मेघवृष्टि होगी। उसके जल का पान करने से लोग वापस ठीक हो जायेंगे।' सचिव ने यह वृत्तांत राजा को कहा तो राजा ने पडह बजवाकर लोगों को जल का संग्रह करने की आज्ञा दी। सब लोगों ने वैसा किया। फिर निमित्तिए के कहे हुए दिन पर मेघ बरसा। लोगों ने तुरंत में तो वह पानी नहीं पिया, पर कुछ काल बितने पर लोगों का संग्रहित जल घट गया। सिर्फ राजा और सचिव के यहां जल नहीं घटा, तो उसके सिवा अन्य सामंत वगैरह लोगों ने नये बरसे हुए जल का पान किया। उसका पान करते ही वे सब पागल बनकर नाचने लगे, हँसने लगे, ज्यों त्यों बोलने लगे, गाने लगे और स्वेच्छा से अनेक प्रकार की चेष्ठा करने लगे। मात्र राजा और सचिव - दो ही अच्छे रहे। फिर दूसरे सामंत वगैरह ने राजा और सचिव को अपने से विपरीत प्रवृत्तिवाले देखकर निश्चय किया कि 'जरुर यह राजा और सचिव दोनो पागल बन गये लगते हैं, क्योंकि वे हम से विलक्षण आचारवाले हैं। इसलिये उनको उनके स्थान से दूर करके दूसरे राजा और सचिव को स्थापित करे।' उनका यह विचार सचिव को मालूम पडा, तो राजा को बताया। राजा ने सचिव को पूछा कि 'हमें अब उनसे आत्मरक्षा किस प्रकार करनी ? क्योंकि जनवृंद राजा समान है।' सचिव बोला, 'हे देव ! हमें भी उनके साथ पागल बनकर उनकी तरह आचरण करना होगा। इसके सिवा दूसरा कोई उपाय इस समय योग्य नहीं है।' फिर राजा और सचिव कृत्रिम पागल बनकर उनके मध्य में रहने लगे और अपनी संपत्ति भोगने लगे। फिर जब शुभ समय आया और शुभ वृष्टि हुई तब उस नवीन वृष्टि के जल का पान करने से सब मूल प्रकृतिवाले (स्वस्थ) बने। इस प्रकार दुःषम काल में गीतार्थ मुनि भी वेशधारियों के साथ उनके जैसे बनकर रहेंगे, लेकिन भविष्य में अपने समय की इच्छा रखा करेंगे।'' इस प्रकार अपने स्वप्न का फल सुनकर महाशय हस्तिपाल राजा प्रतिबोध पाकर दीक्षा लेकर क्रमशः मोक्ष में गये।

उस समय गौतम गणधर ने भगवंत को प्रणाम करके कहा, ''हे स्वामी ! तीसरे आरे के अंत में भगवान वृषभस्वामी (आदिनाथ) हुए और चौथे आरे में श्री अजितनाथ वगैरह तैईस तीर्थंकर हुए, जिसके अंत में आप उत्पन्न हुए। इस प्रकार इस अवसर्पिणी में जो बना वह देखा। अब दुःषमा

नाम के पांचवें आरे में जो होगा वह प्रसन्न होकर कहिए।'' वीरप्रभु बोले, ''हे गौतम ! हमारे निर्वाण के बाद तीन वर्ष और साडे आठ महिने बाद पांचवां आरा प्रवेश करेगा। हमारे निर्वाण के बाद उन्नीसौं चौदह वर्ष बीत जाने पर पाटलीपुत्र नगर में म्लेच्छ कुल में चैत्र मास की अष्टमी के दिन विष्टी में कल्कि, रुद्र और चतुर्मुख ऐसे तीन नाम से प्रसिद्ध राजा होंगे। उस समय मथुरापुरी में पवन द्वारा नाश हुए जीर्णवृक्ष की तरह राम-कृष्ण का मंदिर अचानक गिर जायेगा। अति क्रूर आशयवाले कल्कि में क्रोध, मान, माया और लोभ काष्ट में घुना जाति के कीडे की तरह स्वभाव से ही उत्पन्न होंगे। उस काल में चोर लोगों का और राजा के विरोध का भय रहा करेगा तथा उत्तम गंध, रस का क्षय दुर्भिक्ष (अकाल) और अतिवृष्टि हुआ करेगी। वह कल्कि अट्ठारह वर्ष का होगा तब तक महामारी प्रवर्तित होगी। फिर वह प्रचंड आत्मा कल्कि राजा बनेगा। एक बार कल्कि राजा नगर में घूमने निकलने पर मार्ग में पांच स्तूप को देखकर समीप के जन को पूछेगा कि 'ये स्तूप किसने करवाये हैं ?' वे कहेंगे कि 'पहले धन में कुबेर भंडारी जैसा नंद नाम का विश्वप्रसिद्ध राजा हो गया है, उसने इन स्तूपों के नीचे बहुत सुवर्ण डाला है, पर वह लेने के लिये कोई राजा आज तक समर्थ नहीं हुआ।' यह सुनकर स्वभाव से ही अति लुब्ध ऐसा कल्कि राजा उस स्तूप को खुदवायेगा और उसके नीचे से सुवर्ण ले लेगा। फिर वह द्रव्य का अर्थी होकर पूरा शहर खुदवायेगा और राजा को तृण समान मानेगे। कल्कि द्वारा खुदी हुई उस नगरी की भूमि में से **लवणदेवी** नाम की एक शिलामय गाय निकलेगी। उसे चौक में खडी रखी जायेगी। वह अपना प्रभाव दिखाने के लिये भिक्षा के लिये घूमते मुनियों को अपने शृंग के अग्रभाग से टकरायेगी। इसके उपर से स्थविर कहेंगे कि 'यह भविष्य में जल का महाउपद्रव होने का सूचित करती है। इसलिये उस नगरी को छोडकर चला जाना योग्य है।' वह सुनकर कइं महर्षि वहां से विहार करके चले जायेंगे और कुछ तो भोजन-वस्त्र वगैरह की लोलुपता से वहीं रहेंगे और कहेंगे कि 'कर्म के वश ऐसे काल योग से जो कुछ शुभ या अशुभ हो- उसे अटकाने के लिये जिनेश्वर भी समर्थ नहीं हैं।' फिर दुष्ट कल्कि सभी पाखंडियों से कर लेगा। वे उनको देंगे, क्योंकि वे तो सारंभ परिग्रही होते हैं। फिर लुब्ध कल्कि ''अन्य पाखंडियों ने कर दिया और तुम क्यों नहीं देते ?'' इस प्रकार कहकर साधुओं को भी रोकेगा। साधु उसको कहेंगे कि ''हे राजन् ! हम तो निष्किंचन हैं और भिक्षा मांगकर खानेवाले हैं, तो धर्मलाभ के सिवा आपको दूसरा क्या दे ?'' पुराण में कहा है कि 'ब्रह्मनिष्ठ तपस्वियों का रक्षण करनेवाले राजा को उसके पुण्य का छठ्ठा भाग मिलता है, इसलिये हे राजन ! इस दुष्कृत्य से विराम पाओ, क्योंकि आपका यह व्यवसाय शहर और देश के अशुभ के लिये है।' मुनियों के ऐसे वचन सुनकर कल्कि तत्काल कोप करेगा और भ्रकूटि चढ़ाकर विकराल मुख करके यमराज जैसा भयंकर दिखेगा। उस समय नगरदेवता उसे कहेंगे कि 'अरे ! कल्कि ! क्या तेरी मरने की इच्छा है कि जिससे ऐसे मुनियों से भी द्रव्य की याचना करता है ?' देवता के इस प्रकार के वचन से शेर के नाद से हस्ति ज्यों भय पाये त्यों भय पाया हुआ कल्कि नमस्कारपूर्वक उन साधुओं से क्षमा मांगेगा। इसके बाद कल्कि राजा के नगर का क्षय सूचित करनेवाले बडे भयंकर उत्पात

प्रतिदिन होने लगेंगे। सत्रह दिन तक दिनरात मेघ बरसेगा, जिससे गंगा का प्रवाह वृद्धि पाकर कल्कि के नगर को डूबा देगा। उस समय सिर्फ प्रतिपद नाम के आचार्य, संघ के कुछ लोग, कुछ नगरजन और कल्कि राजा ऊंचे स्थल पर चढ़ जाने से बच जायेंगे। शेष गंगा के बढ़ते हुए प्रवाह में कइं नगरवासी तत्काल डूबकर मृत्यु पा जायेंगे। फिर जब जल का उपसर्ग विराम पायेगा तब कल्कि नंद के द्रव्य से दुबारा नया नगर बसायेगा। उसमें अच्छे अच्छे मकान बनवायेगा। साधु विहार करेंगे, समय अनुसार धान्य की उत्पत्ति के कारणभूत मेघ बरसेगा। एक दमडे (पैसे) में कुंभ भरकर धान्य मिलेगा, तो भी लोग धान्य नहीं खरीदेंगे। इस तरह कल्कि के राज्य में पचास साल तक सुभिक्ष रहेगा। ऐसा करते करते जब कल्कि की मृत्यु समीप आयेगी तब वह वापस सब पाखंडियों का वेश छुडवा देगा और बडा उपद्रव करेगा। संघ सहित प्रतिपद आचार्य को गाय के बाड़े में कैद करके उससे वह दुराशय कल्कि भिक्षा का छट्ठा भाग मांगेगा, तो संघ शक्रेन्द्र की आराधना करने के लिये कायोत्सर्ग करेगा। उस समय शासनदेवी आकर कहेगी कि 'हे कल्कि ! यह तेरा काम तेरी कुशलता के लिये नहीं है।' संघ ने किये हुए कायोत्सर्ग के प्रभाव से इन्द्र का आसन चलित होते ही वह वृद्ध ब्राह्मण का रुप लेकर वहां आयेगा। फिर सभा के बीच बडे सिंहासन पर बैठे हुए कल्कि को शक्रेन्द्र कहेगा कि "हे राजन् ! तूने इन साधुओं को क्यों कैद किया हैं ?" कल्कि कहेगा कि "हे वृद्ध ! ये सब मेरे नगर में रहते हैं, फिर भी मुजे भिक्षा में से छट्ठा भाग भी कर रुप में नहीं देते। अन्य सभी पाखंडी मुजे कर देते हैं और ये साधु नहीं देते, इसलिये मैंने उनको किल्ले समान इस गाय के बाडे में कैद किया है।" फिर शक्रेन्द्र कहेगा कि "उनके पास कुछ नहीं है। वे किसी को भिक्षा का अंश कदापि नहीं देते। ऐसे भिक्षुकों से भिक्षा का अंश मांगते हुए तू क्यों नहीं शरमाता ? इसलिये अब उनको छोड दे, नहीं तो तूजे बडा अनर्थ प्राप्त होगा।" इन्द्र के ऐसे वचन से कल्कि कोपायमान होकर कहेगा, 'अरे सुभटों ! इस ब्राह्मण को गले से पकडकर निकाल दो।' इस प्रकार उसके बोलते ही इन्द्र पाप के पर्वत समान कल्कि को चांटा मारकर भस्म कर डालेगा। छ्यासी वर्ष का आयुष्य पूर्ण करके कल्कि तुरंत ऐसी नरक भूमि में नारकी रुप में उत्पन्न होगा। फिर शक्रेन्द्र कल्कि के दत्त नाम के कुमार को जैन धर्म संबंधित शिक्षा देकर राज्य पर बिठाकर संघ को नमन करके अपने स्थान पर जायेगा। दत्त राजा अपने पिता को प्राप्त हुआ उसके पाप का घोर फल और इन्द्र की दी हुई शिक्षा को बार बार याद करके पूरी पृथ्वी को अरिहंत के चैत्यों से विभूषित कर देगा। फिर पांचवें आरे के अंत तक जैन धर्म की प्रवृत्ति निरंतर चलती रहेगी।

तीर्थंकर के समय में यह भरतक्षेत्र ग्राम, खान और नगरों से आकुल और धन्य-धान्य वगैरह समृद्धि से भरी हुई स्वर्गपुरी जैसा होता है और गाँव शहर समान, शहर स्वर्गपुरी जैसे, कुटुंबी (कणबी) राजा जैसे, राजा कुबेर भंडारी जैसे, आचार्य चंद्र जैसे, पिता देव समान, सास माता समान और श्वसुर पिता समान होते हैं। लोग सत्य तथा सोच में तत्पर, धर्म तथा अधर्म के ज्ञाता, विनीत, गुरुदेव के पूजक और अपनी स्त्री में संतुष्ट होते हैं। फिर ऐसे लोगों में विज्ञान, विद्या और कुलीनता होती है। परचक्र, इति और चोर लोगों का भय नहीं होता तथा नये कर नहीं डाले जाते। ऐसे समय

में भी अर्हंत की भक्ति को नहीं जाननेवाले वे विपरीत वृत्तिवाले कुतिर्थियों से मुनि आदि को उपसर्ग वगैरह होता है और दश आश्चर्य भी हुए हैं।

इसके बाद दुःषम काल में याने पांचवें आरे में सब लोग कषाय से लोप (क्षय) पाकर धर्मबुद्धिवाले और बाढ बिना की क्षेत्रभूमि की तरह मर्यादारहित होंगे। ज्यों ज्यों काल आगे जायेगा, त्यों त्यों लोग विशेष रुप में कुतिर्थियों में मोहित की हुई बुद्धिवाले और अहिंसा आदि से वर्जित होंगे तथा गाँव स्मशान जैसे, शहर प्रेत लोग जैसे, कुटुंबी दास समान और राजा यमदंड समान होगा। राजा लुब्ध (लोभी) होकर अपने सेवको कों निग्रह करेगा और सेवक अपने स्वजनों को लूंटेगे। ऐसा मात्स्य[1] न्याय प्रवर्तित होगा। जो अंत में होगा वह मध्य में आयेगा और जो मध्य में होगा वह अंत में आयेगा। यो श्वेतपताकाओंवाले जहाज की तरह सब देश चलायमान हो जायेंगे। चोर चोरी से, राजा कर से और भूतधारक समान अधिकारी लांच लेकर सर्व प्रजा को पीडा करेंगे। लोग स्वार्थ में ही तत्पर, परार्थविमुख और सत्य, लज्जा तथा दाक्षिण्यता से रहित तथा स्वजनों के ही विरोधी होंगे। शिष्य गुरु की आराधना (सेवा) नहीं करेंगे। गुरु भी शिष्यभाव नहीं रखेंगे और उनको उपदेश आदि द्वारा श्रुतज्ञान नहीं देंगे। क्रमशः गुरुकुल में निवास बंद करेंगे। धर्म में मंदबुद्धि होगी और पृथ्वी कइं प्राणियों से आकुल-व्याकुल बनेगी। देवता भी प्रत्यक्ष नहीं होंगे। पुत्र पिता की अवज्ञा करेंगे। बहुए सर्पिणी जैसी बनेगी और साँस कालरात्रि समान लगेगी। कुलीन स्त्रियां भी लज्जा छोड़कर दृष्टि में विकार से, हास्य से, आलाप से अथवा अन्य प्रकार के विलासों से वेश्या का अनुसरण करेगी। श्रावक और श्राविकापन की हानि होगी। चतुर्विध धर्म का क्षय होगा और साधु-साध्वी को पर्व के दिन या स्वप्न में भी निमंत्रण नहीं मिलेगा। जूठे तोल तथा जूठे माप चलेंगे। धर्म में भी सठता होगी और सत्पुरुष दुःखी व दुर्जन सुखी होगे। मणि, मंत्र, औषधि, तंत्र, विज्ञान, धन, आयुष्य, फल, पुष्प, रस, रुप, शरीर की ऊंचाई, धर्म और अन्य शुभ भाव की पांचवें आरे में प्रतिदिन हानि होगी और उसके बाद छट्ठे आरे में तो अधिक हानि होगी। इस प्रकार पुण्य के क्षयवाला काल प्रसरते हुए जिसकी बुद्धि धर्म में रहेगी उसका जीवित सफल माना जायेगा। इस भरतक्षेत्र में दुःषम काल में अंतिम दुःप्रसह नाम के आचार्य, फल्गुश्री नाम की साध्वी, नागिल नाम का श्रावक, सत्यश्री नाम की श्राविका, विमलवाहन नाम का राजा और संमुख नाम का सचिव होगा। दो हाथ प्रमाण शरीर होगा। बीस वर्ष का उत्कृष्ट आयुष्य होगा और दुःप्रसह आदि चारों से उत्कृष्ट छठ का तप बन सकेगा। दसवैकालिक विद्वान वे चौदह पूर्वधारी जैसे माने जायेंगे और ऐसे मुनि दुःप्रसह सूरि तक संघरुप तीर्थ को प्रतिबोध करेंगे। इस कारण के लिये जब तक जो कोई धर्म नहीं ऐसा बोले उसे संघ बाहर निकाल देना। दुःप्रसहाचार्य बारह वर्ष गृहवास में और आठ वर्ष दीक्षा में व्यतीत करके अंत में अट्ठम तप करके मृत्यु पाकर सौधर्मकल्प (देवलोक) में जायेंगे। उस दिन पूर्वाह्न में चारित्र का, मध्याह्न में राजधर्म का और अपराह्न में अग्नि का उच्छेद हो जायेगा।

---

१. छोटी मछली को बडी मछली खाती है, उसको उससे भी बडे खा जाय वह मात्स्यन्याय कहलाता है।

इस प्रकार इक्कीस हजार वर्ष के प्रमाणवाला दुःषम काल व्यतीत होने के बाद उतने ही प्रमाणवाला एकांत दुःषम दुषमाकाल प्रवर्तित होगा। उसमें धर्मतत्त्व नष्ट होते हाहाकार हो जायेगा। पशु की तरह माता पुत्र की व्यवस्था मनुष्यों में भी नहीं रहेगी। रात्रिदिन कठोर और बहुत धूलवाला अनिष्ट पवन चला करेगा तथा दिशाएं धूम्रवर्णी होने से भयंकर लगेगी। चंद्र अति शीतलता छोडेगा और सूर्य अति उष्णता से तपेगा। ऐसी अति शीत और अति उष्णता से पराभव पाये लोग अत्यंत क्लेश पायेंगे। उस समय विरस बना मेघ क्षार, आम्ल, विष, अग्नि और वज्रमय होकर उस उस रुप से वृष्टि करेंगे, जिससे लोगों में कास, श्वास (दमा), शूल, कुष्ट, जलोदर, ज्वर, शिरोव्यथा (मस्तकदर्द) और और भी अन्य कइं रोग उत्पन्न होंगे। जलचर, स्थलचर और खेचर तिर्यंच महादुःख से रहेंगे। क्षेत्र, वन, आराम, लता, वृक्ष और घास का क्षय हो जायेगा। वैताढ्यगिरि, ऋषभकूट और गंगा तथा सिंधु नदी के सिवा अन्य सभी गिरि खड्डे और नदियां समतल हो जायेगी। भूमि अंगारे की भट्टी जैसी भस्मरुप होगी तथा किसी स्थान पर अति धूलवाली और किसी स्थान पर गाढ किचड वाली बनेगी। पुरुषों को स्त्रियां निष्ठुर वाणी से बुलानेवाली, रोगार्त, क्रोधी, लंबी दिखनेवाली, चपटी (वक्र) नासिकावाली, निर्लज्ज और वस्त्र रहित होगी। पुरुषों का आयुष्य उत्कृष्ट बीस साल का और स्त्रियों का सोलह साल का होगा। उस समय स्त्री छः वर्ष की आयु में गर्भ धारण करके दुःखपूर्वक प्रसव करेगी। सोलह वर्ष तक में तो कइ पुत्र, पौत्रवाली हो जायेगी और वृद्धा बन जायेगी। वैताढ्यगिरि के नीचे उसके बिलों में निवास होगा। गंगा और सिंधु दोनों नदियों के तट पर वैताढ्य की दोनों और नौ नौ बिल हैं, कुल बहत्तर बिल हैं उसमें वह रहेंगे। तिर्यंच जाति पूरी मात्र बीजरुप में रहेगी। उस विषम काल में सभी मनुष्य तथा पशु मांसाहारी, क्रूर और निर्विवेकी बनेंगे। गंगा और सिंधु नदी का प्रवाह बड़े मत्स्यकश्यपवाला और मात्र रथ के पहिए जितना रहेगा। उसमें से लोग रात्रि में मछलियों को निकालकर स्थल पर रखेंगे। दिन के सूर्य की धूप से पक जायेगी तो रात्रि में उसका भक्षण करेंगे। इस तरह उसका निर्वाह चलेगा, क्योंकि उस समय दूध, दहीं वगैरह रसवाले पदार्थ, पुष्प, फल या आम्र कुछ भी नहीं मिलेगा तथा शय्या, आसन आदि भी नहीं रहेंगे। भरत ऐरावत नाम के दस क्षेत्र में इसी तरह पहले दुःषमा और फिर अतिदुःषमा काल दोनों इक्कीस हजार वर्ष तक प्रवर्तित रहेंगे। अवसर्पिणी में ज्यों अंत्य (छट्ठा) और उपांत्य (पांचवाँ) दो आरे होते है, उसी प्रकार उत्सर्पिणी में पहला और दूसरा आरा होता है। उत्सर्पिणी में दुःषम दुःषमा काल (अवसर्पिणी के छट्ठे जैसा पहला आरा) के अंत समय अलग अलग पांच जाति के मेघ सात सात दिन तक बरसेंगे। उसमें पहला पुष्कर नाम का मेघ बरसकर पृथ्वी को तृप्त कर देगा। दूसरा क्षीरमेघ धान्य उत्पन्न करेगा, तीसरा घृतमेघ स्नेह (चिकनाई) पैदा करेगा, चौथा अमृतमेघ औषधियाँ उत्पन्न करेगा। पाँचवां रसमेघपृथ्वी वगैरह को रसमय बनायेगा। इस तरह तैतिस दिन तक शांतिपूर्वक दुर्दिन वृष्टि होगी, फिर वृक्ष, औषधि, लता, वल्ली वगैरह हरियाली देखकर बिल में रहनेवाले मनुष्य हर्ष पाकर बाहर निकलेंगे। तब से भारत वर्ष की भूमि पुष्प, फलवाली बनेगी। इसके बाद मनुष्य माँस का भक्षण नहीं करेगा, माँस को छोड़ देगा। फिर

ज्यों ज्यों काल वृद्धि पायेगा, त्यों त्यों मनुष्य के रुप में शरीर की काया में, आयुष्य में और धान्य वगैरह में वृद्धि होती जायेगी। क्रमश- सुखकारी पवन चलेंगे, अनुकूल ऋतुएं होगी, नदियों में जल वृद्धि पायेगा तो तिर्यंच और मनुष्य निरोगी बनने लगेंगे।

दुःषमाकाल के (उत्सर्पिणी के दूसरे आरे के) अंत में इस भारतवर्ष की भूमि पर सात कुलकर होंगे। पहला विमलवाहन, दूसरा सुदाम, तीसरा संगम, चौथा सुपाश, पांचवाँ दत्त, छट्ठा सुमुख और सातवाँ सम्मुचि। उसमें पहला विमलवाहन जातिस्मरण ज्ञान से राज्य के लिये गाँव और शहर बसायेगा। गाय, हाथी और अश्वों का संग्रह करेगा और शिल्प, व्यापार, लिपि और गणितादि व्यवहार लोगों में चलवायेगा। फिर जब दूध, दहीं, धान्य और अग्नि उत्पन्न होंगे तब वह प्रजाहितेच्छु राजा लोगों को अन्न पकाकर खाने का उपदेश करेगा।

जब इस प्रकार दुःषम काल व्यतीत होगा, तब शतद्वार नाम के नगर में सम्मुचि नाम के सातवें कुलकर राजा की रानी भद्रादेवी की कुक्षि में श्रेणिक का जीव पुत्ररुप में उत्पन्न होगा। आयुष्य और शरीर वगैरह से मेरे समान वह पद्मनाभ नाम का पहला तीर्थंकर होगा। इसके बाद पूर्व की तरह प्रतिलोमपन से तेईस तीर्थंकर शरीर, आयु, अंतर वगैरह से पूर्व समान क्रमशः उत्पन्न होंगे। श्रेणिक का जीव पद्मनाभ नाम का पहला तीर्थंकर होगा। सुपार्श्व का जीव शूरदेव नाम का दूसरा तीर्थंकर होगा। पोट्टिल का जीव सुपार्श्व नाम का तीसरा तीर्थंकर होगा। दृढायु का जीव स्वयंप्रभ नाम का चौथा तीर्थंकर होगा। कार्तिक सेठ का जीव सर्वानुभूति नाम का पाँचवाँ तीर्थंकर होगा। शंख श्रावक का जीव देवसूत नाम का छट्ठा तीर्थंकर होगा। नंद का जीव उदय नाम का सातवाँ तीर्थंकर होगा। सुनंद का जीव पेढाल नाम का आठवाँ तीर्थंकर होगा। कैकसी का जीव पोटिल नाम का नौवाँ तीर्थंकर होगा। रेवती का जीव शतकीर्ति नाम का दशवाँ तीर्थंकर होगा। सत्यकी का जीव सुव्रत नाम का ग्यारहवाँ तीर्थंकर होगा। कृष्ण वासुदेव का जीव अमम नाम का बारहवाँ तीर्थंकर होगा। बलदेव का जीव अकषाय नाम का तेरहवाँ तीर्थंकर होगा। रोहिणी का जीव निष्पुलाक नाम का चौदहवाँ तीर्थंकर होगा। सुलसा का जीव निर्मम नाम का पन्द्रहवाँ तीर्थंकर होगा। रेवती का जीव चित्रगुप्त नाम का सोलहवाँ तीर्थंकर होगा। गवाली का जीव समाधि नाम का सत्रहवाँ तीर्थंकर होगा। गार्गूल का जीव सँवर नाम का अट्ठारहवाँ तीर्थंकर होगा। द्वीपायन का जीव यशोधर नाम का उन्नीसवाँ तीर्थंकर होगा। कर्ण का जीव विजय नाम का बीसवाँ तीर्थंकर होगा। नारद का जीव मल्ल नाम का इक्कीसवा तीर्थंकर होगा। अंबड का जीव देव नाम का बाईसवाँ तीर्थंकर होगा। बारहवें चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त का जीव अनंतवीर्य नाम का तेईसवाँ तीर्थंकर होगा और स्वाति का जीव भद्रकृत नाम का चोईसवाँ तीर्थंकर[1] होगा।

इतने समय में दीर्घदंत, गूढदंत, शुद्धदंत, श्रीचंद्र, श्रीभूति, श्रीसोम, पद्म, महापद्म, दशम, विमल, विमलवाहन और अरिष्ट - ये बारह चक्रवर्ती होंगे। नंदी, नंदीमित्र, सुंदरबाहु, महाबाहु,

१. इस चौबीसी मैं पूर्वभवी जीव वगैरह में पाठांतर है, उसका निर्णय यहां हो सके ऐसा नहीं है।

अतिबल, महाबल, बल, द्विपृष्ट और त्रिपृष्ठ - ये नौं अर्धचक्री (वासुदेव) होंगे। जयंत, अजित, धर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, आनंद, नंदन, पद्म और संकर्षण - ये नौ बलराम होंगे और तिलक, लोहजंग, वज्रजंग, केसरी, बलि, प्रहलाद, अपराजित, भीम और सुग्रीव - ये नौं प्रतिवासुदेव होंगे। इस प्रकार उत्सर्पिणीकाल में त्रिषष्ठिशलाका पुरुष होंगे।

इस प्रकार कह रहने के बाद श्री वीरप्रभु को सुधर्मा गणधर ने पूछा, 'हे स्वामी ! केवलज्ञान रुपी सूर्य कब और किसके बाद उच्छेद पायेगा ?' प्रभु बोले, 'मेरे मोक्षगमन के बाद कुछ काल पश्चात् जंबू नाम के आपके शिष्य आखिरी केवली बनेंगे। उनके बाद केवलज्ञान उच्छेद पायेगा। केवलज्ञान उच्छेद पाते ही किसीको मनःपर्याय ज्ञान भी नहीं होगा। पुलाकलब्धि या परमावधि ज्ञान भी नहीं होगा। क्षपकश्रेणी और उपशम श्रेणी दोनों विनाश पायेंगे तथा आहारक शरीर, जिनकल्प और त्रिविध संयम[1] भी नहीं रहेगा। उनके शिष्य प्रभव चौदह पूर्वधारी होंगे और उनके शिष्य शय्यंभव भी द्वादशांगी के पारगामी होंगे। वे पूर्व में से उद्धरकर दश वैकालिक सूत्र रचेंगे। उनके शिष्य यशोभद्र सर्व पूर्वधारी होंगे और उसके शिष्य संभूतिविजय और भद्रबाहु भी चौदह पूर्वी होगे। संभूतिविजय के शिष्य स्थूलभद्र चौदहपूर्वी बनेगे। इसके बाद अंतिम चार पूर्व उच्छेद पा जायेंगे। इसके बाद महागिरि और सुहस्ती से वे वज्रस्वामी तक इस तीर्थ के प्रवर्तक दश पूर्वधर होंगे।' इस प्रकार भविष्य की हकीकत कहकर श्री वीरप्रभु समवसरण में से बहार निकले और हस्तीपाल राजा की शुल्क (कर लेने की) शाला में गये।

उसी दिन की रात्रि में अपना मोक्ष जानकर प्रभु ने सोचा, 'अहो ! गौतम का स्नेह मुज पर अत्यंत है और वहीं उनको केवलज्ञान की उत्पत्ति में बाधा कर रहा है, इसलिये उस स्नेह को मुजे छेद डालना चाहिए।' ऐसा सोचकर उन्हों ने गौतम को कहा, 'गौतम ! यहां से नजदीक के दूसरे गाँव में देवशर्मा नाम का ब्राह्मण है। वह आपसे प्रतिबोध पायेगा, इसलिये आप वहां जाओ।' वह सुनकर 'जैसी आपकी आज्ञा !' ऐसा कहकर गौतम वीरप्रभु को नमन करके तुरंत ही वहां गये और प्रभु का वचन सत्य किया अर्थात्, उसे प्रतिबोध प्राप्त कराया। यहां से कार्तिक मास की अमावस्या[2] की पिछली रात्रि में चंद्र स्वाति नक्षत्र में आने पर, छट्ठ का तप किया है ऐसे श्री वीरप्रभु ने पचपन अध्ययन पुण्यफल विपाक संबंधित और पचपन अध्ययन पापफल विपाक संबंधित कहे। फिर छत्तीस अध्ययन अप्रश्नव्याकरण अर्थात् किसी के पूछे बिना कहकर अंतिम प्रधान नाम का अद्ययन कहने लगे। उस समय आसन कंप से प्रभु का मोक्षसमय जानकर सभी सुर और असुर के इन्द्र परिवार सहित वहां आये। फिर जिनके नेत्र में अश्रु आये है ऐसे शक्रेन्द्र ने प्रभु को प्रणाम करके अंजलि जोड़कर संभ्रम से इस प्रकार कहा, "नाथ ! आपका गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान में हस्तोत्तरा नक्षत्र था, इस समय उसमें भस्मक ग्रह संक्रांत होनेवाला है। आपके जन्म नक्षत्र में संक्रमित वह ग्रह दो हजार वर्ष तक आपकी संतान (साधु-साध्वी) को बाधा (हरकत) उत्पन्न करेगा।

१. परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म संप्राय और यथाख्यात - ये तीन चरित्र। २. इस देश के रिवाज अनुसार अश्विन कृष्ण अमावस्या।

इसलिये वह भस्मक ग्रह आपके जन्मनक्षत्र को संक्रमित करे तब तक आप राह देखिये, जिससे आपकी दृष्टि में संक्रमण हो तो भी आपके प्रभाव से वह निष्फल हो जाय। जो अन्य भी आपको हृदय में धारण करते हैं उनके कुस्वप्न, असगुन और कुग्रह भी श्रेष्ठता को पा जाय, तो हे स्वामी ! जब आप साक्षात् स्थित हो वहां तो बात ही क्या करनी ? इसलिये प्रसन्न होकर क्षणभर के लिये रहिए कि जिससे उस दुग्रह का उपशम हो जाय।'' प्रभु बोले, ''हे शक्रेन्द्र ! आयुष्य को बढ़ाने में कोई भी समर्थ नहीं है यह तू जानता है, फिर भी तीर्थ के प्रेम से मोहित होकर ऐसा क्यूं कहता है ? आगामी दुःषम काल की प्रवृत्ति से ही तीर्थ को बाधा पहुँचनेवाली है। उसमें भवितव्यता का अनुसरण करके, ईस भस्मक ग्रह का भी उदय हुआ है। इस प्रकार इन्द्र को समजाकर साडे छः मास में कम तीस वर्ष तक केवलज्ञान पर्याय पालकर, पर्यंकासन में बैठे हुए प्रभु ने बादरकाययोग में रहकर बादर मनयोग और वचनयोग को रोका। फिर सूक्ष्मकाय योग में स्थित होकर योगविचक्षण प्रभु ने बादरकाय योग को भी रोध लिया। फिर वाणी तथा मन के सूक्ष्म योग को भी रोका। इस प्रकार सूक्ष्मक्रियावाले तीसरे शुक्लध्यान[1] को प्राप्त किया। फिर सूक्ष्मतनयोग को भी रोधकर जिसमें सब क्रियाओं का उच्छेद होता है ऐसे समुच्छिन्नक्रिय नाम के चौथे शुकलध्यान[2] को धारण किया। फिर पांच ह्रश्वाक्षर का उच्चार करके उतने काल मानवाले अव्यभिचारी ऐसे शुकलध्यान के चौथे पाये से अरंड के बीज की तरह कर्मबंध रहित बने प्रभु यथास्वभाव ऋजु गति से ऊर्ध्वगमन करके मोक्ष को प्राप्त हुए। उस समय जिनको एक लवमात्र सुख कदापि भी प्राप्त नहीं होता, ऐसे नारकी को भी क्षणमात्र सुख हुआ। उस काल में चंद्र नाम का संवत्सर, प्रीतिवर्द्धन नाम का मास, नंदीवर्द्धन नाम का पक्ष और अग्निवेश नाम का दिन था। उसका दूसरा नाम उपशम था। उस रात्रि का नाम देवानंदा था। उसका दूसरा नाम निरति भी था। उस समय अर्च नाम का लव, शुक्ल नाम का प्राण, सिद्ध नाम का स्तोक और सवार्थसिद्ध नाम का मुहूर्त तथा नाग नाम का करण था। उस समय नहीं उद्धर सके ऐसे अतिसूक्ष्म कंथू (जीव) उत्पन्न हुए। वे स्थिर रहते तब दृष्टिग्राह्य भी नहीं होते थे। जब हिल-चाल करते तभी वे दृष्टि में आते थे। उसे देखकर 'अब संयम पालना मुश्किल है' ऐसा सोचकर कइं साधु-साध्वियों ने अनशन किया। प्रभु के निर्वाण को जानकर, उस समय भावदीपक का उच्छेद होने से सभी राजाओं ने द्रव्यदीपक किया, तब से लोगों में दीपोत्सवी का पर्व प्रवर्तित हुआ। आज तक उस रात्रि को लोग दिये करते आ रहे हैं।

उस समय जगतगुरु के शरीर को देवताओं ने नेत्र में अश्रु लाकर प्रणाम किये और स्वयं अनाथ हो गये हो उसका शोक करते हुए पास में खडे रहे। फिर शक्रेन्द्र ने धैर्य धारण करके नंदनवन वगैरह स्थानों से देवताओं द्वारा गोशीर्ष चंदन के काष्ठ मंगवाये और उसके द्वारा एक चिता रची। फिर क्षीर सागर के जल से प्रभु के शरीर को स्नान करवाया और इन्द्र ने अपने हाथ से दिव्य अंगराग द्वारा विलेपन किया। फिर दिव्य वस्त्र ओढाकर (ढककर) मानो नयनाश्रु से फिर से नहलाते

१. शुकलध्यान का तीसरा पाया। २. शुकलध्यान के चौथे पाये को।

हो त्यों अश्रुपुर नेत्र से शक्रेन्द्र ने प्रभु के शरीर को उठाया और सुरासुरों ने साश्रुनयन से देखते हुए उसे श्रेष्ठ विमान समान शिबिका में पधराया (रखा)। फिर महाप्रयास से शोक को रोककर प्रभु के शासन को धारण करें त्यों इन्द्रों ने वह शिबिका उठायी। उस समय देवता बंदीजन की भाँति जयजय ध्वनि करते हुए उस पर दिव्य पुष्पों की वृष्टि करने लगे तथा अपने नेत्रकमल के जल की तरह सुगंध से जल की वृष्टि से चारोंओर भूमितल पर सिंचन करने लगे। गंधर्व देव प्रभु के गुण को बार बार याद करके गंधर्वों की तरह तालस्वर से गाने लगे। सैंकडो देवता मृदंग और पणव वगैरह वाद्यों को शोक से अपने उरस्थल की तरफ ताडन करने लगे। प्रभु की शिबिका के आगे शोक से स्खलित होती देवांगनाएं अभिनव नर्तकियों की तरह नृत्य करते हुए चलने लगी। चतुर्विध देवता दिव्य रेशमी वस्त्रों से, हार आदि आभूषणों से और पुष्पमालाओं से प्रभु की शिबिका का पूजन करने लगे और श्रावक तथा श्राविकाएं भक्ति और शोक से आकुल-व्याकुल होकर रास के गीत व रुदन करने लगे। उस समय साधु और साध्वी के हृदय में शोक ने बड़ा स्थान जमाया। "सूर्य का अस्त होते ही कमलों को गाढ़ निद्रा प्राप्त होती ही है।" फिर शोकरुपी शंकु से विदिर्ण होते हुए हृदयवाले इन्द्र ने प्रभु के शरीर को चिता पर रखा। अग्निकुमार देवों ने उसमें अग्नि प्रज्वलित किया और उसे विशेष प्रदीप्त करने के लिये वायुकुमारों ने वायु छोड़ा। अन्य देवताओं ने भी सुगंधित पदार्थ और घृत तथा शहद के सैंकडो घड़े अग्नि में क्षेपित (डाले) किये। फिर जब प्रभु के शरीर में से माँस आदि दग्ध हो गया तब मेघकुमार देवों ने क्षीरसागर के जल से चिता को बुजा दिया। तो शक्र और ईशान इन्द्र ने प्रभु पर से दक्षिण और वाम दाढाएं ली और चमरेन्द्र तथा बलि इन्द्र ने नीचे की दो दाढे ग्रहण की। दूसरे इन्द्र और देवता दूसरे दांत और अस्थि ले गये। मनुष्य कल्याण के लिये उनकी चिता की भस्म ले गये। फिर देवताओं में उस चिता के स्थान पर कल्याणसंपत्ति के स्थानरुप एक रत्नमय स्तूप रचा।

इस प्रकार श्री वीरप्रभु की निर्वाणमहिमा करके सभी इन्द्र तथा देवता नंदीश्वर द्वीप में गये और वहां शाश्वत प्रतिमाओं का अष्टानिक उत्सव किया। फिर अपने अपने स्थानक पर जाकर अपने अपने विमान में मणिमय (माणवक) स्तंभ के उपर रहे वज्रमय गोल डिब्बे में प्रभु की दाढ़े तथा अस्थि का स्थापन किया।

ग्रहस्थपनें में बीस वर्ष और व्रत में बयालीस वर्ष - यों बहत्तर वर्ष का आयुष्य श्री वीरप्रभु ने पूर्ण किया। श्री पार्श्वनाथ प्रभु के निर्वाण के बाद ढाईसो वर्ष व्यतीत होने पर श्री वीरप्रभु का निर्वाण हुआ।

यहां श्री गौतम गणधर देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोध प्राप्त कराकर वापस लौटे, तो मार्ग में देवताओं की बातों से प्रभु के निर्वाण के समाचार सुने। उसके उपर से वे चित्त में सोचने लगे, "एक दिन में निर्वाण था फिर भी अरे प्रभो ! मुजे किसलिये दूर भेजा ? अरे जगतपति ! मैंने इतने काल तक आपकी सेवा की और अंतकाल में मुजे आपके दर्शन नहीं; इसलिये मैं सर्वथा अधन्य हूँ। उस

समय आपकी सेवा में उपस्थित थे उन्हें धन्य हैं। अरे गौतम ! तू सचमुच वज्रमय है। या वज्र से भी अति कठोर है, कि जिससे प्रभु के निर्वाण को सुनकर भी तेरा हृदय सेकडों टुकडे नहीं हो जाता, अथवा हे प्रभु ! मैं अब तक भ्रांत हो गया कि जिससे इस निरागी और निर्मम ऐसे प्रभु में मैंने राग और ममता रखे। वे राग, द्वेष वगैरह संसार के हेतु हैं, उसका त्याग कराने के लिये ही इस परमेष्ठी (प्रभु) ने मेरा त्याग किया होगा। इसलिये ऐसे ममतारहित प्रभु में ममता रखने से मेरा क्या ? क्योंकि मुनियों को तो ममतालु में भी ममत्व रखना युक्त नहीं है।'' इस प्रकार शुभध्यान परायण होते ही गौतम मुनि क्षपक श्रेणी को प्राप्त हुए, जिससे तत्काल घातीकर्म का क्षय होते ही उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। फिर बारह वर्ष तक पृथ्वी पर विहार करके और भव्य प्राणियों को प्रतिबोध देकर केवलज्ञान रुपी अचल समृद्धि से प्रभु की भाँति देवताओं से पूजे जाते गौतम मुनि अंत में राजगृही नगरी में आये। वहां एक मास का अनशन करके भवोग्राही कर्म नाश करके अक्षय सुखवाले मोक्षपद को प्राप्त किया। गौतम स्वामी के मोक्ष जाने के बाद पाँचवें गणधर सुधर्मा स्वामी ने पंचम ज्ञान को प्राप्त करके बहुत काल तक पृथ्वी पर विचरण करके लोगों को धर्मदेशना दी। अंत में वे भी राजगृही नगरी में पधारे और अपने निर्दोष संघ को जंबूस्वामी के स्वाधीन कर दिया। फिर सुधर्मा गणधर भी उसी नगर में अशेष (अष्ट) कर्मों को खपाकर चौथा ध्यान धाते हुए अद्वेत सुखवाले स्थान को प्राप्त हुए। इसके बाद चरम केवली श्री जंबूस्वामी ने भी श्री वीरप्रभु के शासन में अग्रेसर होकर कइं वर्ष तक भव्य जनों को धर्म संबंधित उपदेश किया और अंत में मोक्ष गये।

कर्ता कहते हैं कि ''त्रैलोक्य में भी सात्त्विक पुरुषों में परम श्रेष्ठ ऐसे और जिन्होंने सब पाप का नाश किया है ऐसे श्री महावीर जिनेश्वर का पूर्वजन्म से लेकर मोक्ष प्राप्ति तक समस्त चरित्र कहने में कौन समर्थ होगा ? फिर भी प्रवचनरुपी समुद्र में से लव (थोड़ा) मात्र ग्रहण करके मैंने अपने पर उपकार की इच्छा से यहां किंचित कीर्तन किया है।''

इत्याचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि विरचिते त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरिते महाकाव्ये दशमपर्वणि श्री महावीर निर्वाण गौतम सुधर्मा जंबूमोक्षगमन वर्णनो नामः त्रयोदशः सर्गः॥१३॥

समाप्तमिदं दशम पर्वः

ग्रंथकर्ता की प्रशस्ति

महामुनि जंबुस्वामी के प्रभव नाम के शिष्य हुए। उनके शिष्य शय्यंभव हुए। उनके शिष्य यशोभद्र हुए। उनके संभूति और भद्रबाहु नाम के दो उत्तम शिष्य हुए। जिसमें जो संभूति मुनि थे उनके चरणकमल में भ्रमररुप श्री स्थूलभद्र नाम के शिष्य हुए। वंशपरंपरा से आये चौदह पूर्वरूपी रत्न के भंडार जैसे वे स्थूलभद्र के महर्षि महागिरि नाम के सब से बड़े शिष्य हुए, जो स्थिरता में मेरु समान और विशिष्ट लब्धिओं से युक्त थे। अन्य शिष्य दश पूर्वधारी, मुनियों में श्रेष्ठ सुहस्ती नाम के हुए। जिनके चरणकमल की सेवा से प्रबोधरूपी बड़ी समृद्धि प्राप्त करके संप्रति नाम के राजा ने इस भरतार्ध में प्रत्येक नगर, प्रत्येक गाँव और प्रत्येक आकर में चारोंओर इस पूरे पृथ्वीमंडल को जिनचैत्य से मंडति कर दिया। आर्य सुहस्ती महामुनि के सुस्थित सुप्रतिबुद्ध नाम के शिष्य हुए कि जो समतारूपी धनवाले, दश पूर्वधारी और संसाररूपी महावृक्ष को नष्ट करने में हस्ती समान थे। हिमालय पर्वत में से निकले गंगा के प्रवाह की तरह महर्षियों ने जिनके चरणों का सेवन किया हैं ऐसे उन मुनि से कोटिक नाम का एक महान गण लवणसमुद्र तक फैला। उस कोटिक गण में कई उत्तम साधु हुए, फिर आखिरी दश पूर्वधारी लब्धि संबंधित ऋद्धि से तुंबवनपत्तन में जन्मे, वज्र समान वज्रसूरि हुए, उनके समय में जब प्रलयकाल समान भयंकर बारह साल का अकाल पड़ा तब वज्रसूरि ने चारोंओर से भयभीत बने संघ को विद्या से अभिमंत्रित वस्त्र पर बिठाकर अपने करकमल से उठाकर आकाश मार्ग से महापुरी में ले गये। ऐसे वज्रसूरि से कोटि गणरूपी वृक्ष के अंदर से उच्च नागरिका प्रमुख तीन शाखाएं जेसी वज्री नाम की एक चौथी शाखा नीकली। उस वज्रीशाखा में से मुनिरुपी भ्रमर जिसमें लीन हुए हैं ऐसा चंद्र नाम का एक पुष्प के गुच्छ जैसा गच्छ प्रवर्तित हुआ। उस गच्छ में धर्मध्यानरुपी आकाश में चन्द्र समान, निर्मल ग्रंथार्थ के रत्नाकर, भव्य प्राणीरूप, कमल में सूर्य समान, कामदेव रुपी हस्ती को मथन करने में शेर समान, संयमरूपी धन वाले, और करुणा के राशिरूप श्री यशोभद्र नाम के सूरिवर हुए, जिन्होंने अपने उज्ज्वल यश से ईस जगत को भर दिया था। उन सुरिवर ने श्री नेमिप्रभु ने जिसका शिखर पवित्र किया है ऐसे रैवतगिरि पर संलेखना करके अनशन ग्रहण किया। उसमें उन्होंने शुभ ध्यान पूर्वक तेरह दिन तक शांत मन से सर्व को आश्चर्य उत्पन्न करके पूर्वमहर्षि की संयम कथाओं को सत्य कर दिखाया था। उनके शिष्य प्रद्युम्नसुरि हुए। अनेक जीवों को प्रतिबोधित करनेवाले और विश्वभर में अपने गुणगण को प्रसिद्धि दिलाने वाले जिन सूरिवर ने श्रवण विषय में अमृत समान ऐसे बीस स्थानक का तप करके प्रवचनरूपी समुद्र में से निकाले अर्थरूपी नीर से वर्षाकाल के मेघ की भाँति समग्र पृथ्वी को प्रसन्न किया था। प्रद्युम्नसूरि के शिष्य गुणसेनसूरि हुए। वे सब ग्रंथ के रहस्य में रत्नमय दर्पणरुप, कल्याणरूप वल्ली के वृक्ष समान, करूणामृत के सागर, प्रवचनरूपी नभ में सूर्यसमान, चारित्र आदि रत्नों के रोहणगिरि, पृथ्वी को पवित्र करनेवाले और धर्मराजा के सेनापति थे। गुणसेनसूरि के शिष्य श्री देवचन्द्रसूरि हुए, जो इस पृथ्वी को पवित्र करनेवाले चलित तीर्थरुप

थे, और स्याद्वाद वाणीरूपी गंगानदी के लिये हिमालय थे। बडे तप की प्रभावना स्थानरूप और विश्व को प्रबोध करने में सूर्यसमान ऐसे वे सूरि श्री शांतिचरित्र तथा ठाणा प्रकरण की वृत्ति करके परम सिद्धि को प्राप्त हुए हैं। देवचन्द्रसूरि के चरणकमल में भ्रमररूप हेमचंद्र नाम के आचार्य हुए, जिन्होंने गुरु के प्रसाद से ज्ञानसंपत्ति का खजाना प्राप्त किया है।

चेदी, दशार्ण, मालव, महाराष्ट्र, कुरु, सिंधु और अन्य दुर्गम देशों को अपने भुजाबल की शक्ति से हरि की तरह जितनेवाले परम आर्हंत, विनयवान और चौलुक्य वंश के श्री मूलराज वंश में उत्पन्न श्री कुमारपाल राजा ने एक बार श्री हेमचन्द्रसूरि को नमन करके कहा कि, 'हे स्वामी ! निष्कारण उपकार करने की बुद्धि वाले आप उनकी आज्ञा को प्राप्त करके नर्कगति संबंधित आयुष्य के निमित्तरूप मृगया, द्यूत और मदिरा वगैरह दुर्गुणों को मेरी पृथ्वी पर से मैंने निषिद्ध किए है, तथा पुत्ररहित मृतक का धन लेना भी मैंने छोड़ दिया है और पूरी पृथ्वी अरिहंत के चैत्य से सुशोभित कर दी है, अब मैं सांप्रतकाल में संप्रतिराजा जैसा बना हूँ। पूर्वकाल में मेरे पूर्वज सिद्धराज की भक्तियुक्त याचना से आपने सांग व्याकरण - सिद्धहेमचंद्र रचा है तथा मेरे लिये निर्मल योगशास्त्र रचा है तथा लोगों के लिये द्वाश्रयकाव्य, छंदानुशासन, काव्यानुसान और नामसंग्रह (अभिधान चिंतामणि वगैरह कोष) प्रमुख अन्य शास्त्र भी रचे हैं। हे स्वामी ! यद्यपि आप स्वयं लोगों पर उपकार करने के लिए सज्ज हो, फिर भी मेरी प्रार्थना हैं कि, मेरे जैसे मनुष्य को प्रतिबोधित करने के लिए आप त्रिषष्टि शलाका पुरुषों के चरित्र पर प्रकाश किजिए।' इस प्रकार श्री कुमारपाल राजा के आग्रह से श्री हेमचंद्राचार्य ने धर्मोपदेश जिसका एक प्रधान फल है ऐसा यह त्रिशष्टि शलाका पुरुष चरित्र वाणी के विस्तार में रचा।

जब तक सुवर्णगिरि इस जंबूद्वीप रुप कमल में कर्णिका का रूप धारण करे, जब तक समुद्र पृथ्वी के चारोंओर रहे और जब तक सूर्य चंद्र आकाशमार्ग में पथिक बनके घूमते रहे, तब तक यह त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र महाकाव्य जैनशाशन रुप पृथ्वी पर जय पाता रहे।

।। इति प्रशस्ति समाप्त ।।

श्री त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र समाप्त

श्री बामणवाडा तीर्थ

श्री मूछाळा महावीर तीर्थ

श्री पावापूरी तीर्थ, बिहार

VIRAL TRADERS, PALD,
AHMEDABAD-7.